परिणत हो गया। यही भोजनीय बन कर–'अद्यते' रूप से 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार एक ही आपःतत्त्व आपःरूप 'इट्' (अन्न की पूर्वावस्था–दुग्धात्मिका प्रथमावस्था)–'ऊर्क्' (जीवनरसात्मिका मध्यावस्था–परिपाकानुगतावस्था)–'अन्न' (भोग्यरूपा परिपक्वा उत्तरावस्था–तृतीयावस्था), इन तीन भावों में परिणत हो जाता है। यही त्रिमूर्त्ति अन्न शारीराग्नि में आहुत होकर विशकलन-प्रक्रिया के माध्यम से रसासृगादि रूप में परिणत होता हुआ अपने स्थूल पार्थिव मृद्भावापन्न घन–अन्न-भूतभाग से **स्थूलशरीर** की प्रतिष्ठा बनता है, यही अन्न अपने सूक्ष्म आन्तरीक्ष्य–ऊर्क्रस भाव से सूक्ष्मशरीरात्मक 'ओज' का आधार बनता है, एवं यही अन्न दिव्य–चान्द्र-सौम्य–सुसूक्ष्म आपोभाव से कारणशरीरात्मक–सर्वेन्द्रियनामक प्रज्ञान मन का स्वरूपाधार बनता है। इस प्रकार इडात्मक एक ही अन्न अपने इट्–ऊर्क्–अन्न भावों से प्राणिसृष्टि के सर्वस्व का स्वरूप सम्पादक बना हुआ है, जिसे आधार मान कर ही श्रुति ने कहा है—

"अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व। अन्नं न परिचक्षीत"।

अयमत्र संग्रहः—

(४)—इडूर्क्–अन्नत्रयी–स्वरूपपरिलेखः—

१–आपोमयः सोमरसः—वृष्टिः—इट्—चान्द्रम्—ततो मनःस्वरूपनिष्पत्तिः (कारणशरीरनिष्पत्तिः)
२–सोममयो जीवनीयरसः-रसः—ऊर्क्—अन्तरीक्ष्यम्–ततः–ओजस्वरूपनिष्पत्तिः (सूक्ष्मशरीरनिष्पत्तिः)
३–सोममयमन्नम्—ओषधयः-अन्नम्–पार्थिवम्—ततः–भौतिकशरीरनिष्पत्तिः (स्थूलशरीरनिष्पत्तिः)

(३७)—इट् और इच्छा का तात्त्विक स्वरूप—

हाँ, तो पूर्वोपात्त यजुःश्रुति के **'इषेत्वा'** वाक्य का 'इट्' शब्द परम्परया यों इट्–ऊर्क्–अन्न, तीनों भावों का स्वरूपसंग्राहक बनता हुआ 'भोग्यपरिग्रहमात्र' का अनुग्राहक प्रमाणित हो रहा है। मानव के भोग्यपरिग्रह को, किंवा शरीरत्रयी के आधारभूत परिग्रह को अवश्य ही हम 'इट्' अभिधा से सम्बोधित कर सकते हैं। जिस प्रकार पूर्णेश्वरप्रजापति स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्यकाममय बने रहते हैं, भोग्यपरिग्रहात्मक स्वस्वरूपानुगत बलगर्भित रस में जिस प्रकार पूर्णेश्वर का काममय श्वोवसीयसमन ओतप्रोत रहता है। तथैव पूर्णेश्वरांशरूप जीवात्मा (मानव) भी अपने स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्य इच्छामय बना रहता है। भोग्यरूप बहिर्भावात्मक पार्थिव अन्नपरिग्रह में इसका 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियलक्षण अन्नमय मन ओतप्रोत बना रहता है। सैषा उभयोर्मनःस्थितिः।

दोनों के ही मन यद्यपि भोग्यपरिग्रहों में ओतप्रोत रहते हैं। तथापि दोनों की इस मानसस्थिति में अहोरात्र का अन्तर है। वह अन्तर यही है कि, पूर्णेश्वर का कामनामय मन जहाँ स्वस्वरूपानुगत बल-

गर्भित रसरूप परिग्रह में–उपनिषदों के शब्दों में–**'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'** के अनुसार स्वमहिमारूप स्वस्वरूप में ही ओतप्रोत रहने के कारण स्वस्वरूप से सर्वदिशाओं में सुविकसित रहता हुआ अपनी परिपूर्णता से अक्षुण्ण बना रहता है, अतएव जो महिमारूप भोग्य परिग्रहानुगामी बना रहता हुआ भी–**'अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'** इत्यादि रूप से परिग्रह–भोगातीत भी बन रहा है, वहाँ जीवात्मा का मानवीय प्रज्ञान मन इच्छातन्त्र का वशवर्त्ती बनता हुआ परस्वरूपानुगत बाह्य भौतिक 'इट्' रूप अन्नपरिग्रह के प्रति आत्मार्पण करता हुआ स्वस्वरूपविकास–स्वपरिपूर्णता से अभिभूत बन जाता है। अतएव यह परपरिग्रहासक्ता जीवात्मकामना **"इट्'–इत्यन्नम्–भोग्यपरिग्रहः। तत्र-शेते मनः। इडात्मके अन्ने–भोग्यपरिग्रहे समासक्तं मनः। अन्ने ओतप्रोतं मनः"** इत्यादि रूप से 'इच्छा' नाम से व्यवहृत हुई है, जो मानस इच्छासूत्र अशितिरूप परान्न की लिप्सा–लालसा–एषणा में अहर्निश आसक्त–व्यासक्त–लिप्त–समालिप्त बना रहता हुआ उपनिषदों में–**'अशं–भोग्यपरिग्रहात्मकम-शनं–नयते'** इत्यादि निर्वचन से **'अशनाया'** नाम से व्यवहृत हुआ है।

यही 'अशनाया' जिसे हम इच्छासूत्रानुगता 'बुभुक्षा' (भूख) कहेंगे, जिसकी नित्यसहचारिणी **'पिपासा'** मानी जायगी–के अनुग्रह से ही जीवात्मा, किंवा मानव अपने मूलप्रभव–मूलप्रतिष्ठारूप हृदयस्थ अमृतलक्षण अव्ययपुरुष के सहज अनुग्रह (सम्बन्ध) से वञ्चित होता हुआ नित्य अशान्त–आर्त्त–व्यस्त–संत्रस्त बना रहता है। अतएव इस संत्रासमूला अशनाया–पिपासा को मानव की जीवन्मृत्युलक्षण 'अहरहर्मृत्यु' (दैनिकमृत्यु) मान लिया गया है। अतएव च उपनिषदों ने अशनाया-लक्षणा इस इच्छा को, किंवा इच्छारूपा अशनाया को **'मृत्यु'–'पाप्मा'** आदि नामों से व्यवहृत किया है, जैसा कि–**"मृत्युनैवेदमावृतमासीत्–अशनायया। अशनाया हि मृत्युः (अशनाया वै पाप्मा)"** (बृहदारण्यकोपनिषत् १।२।१।४।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

(३८)–सत्यकामनिष्ठ मानव—

अव्ययप्रधान ईश्वरप्रजापति जहाँ इच्छातन्त्र पर प्रभुतापूर्वक आरूढ़ बने रहते हुए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-अबन्धनभावापन्न हैं, वहाँ अक्षरप्रधान जीवप्रजापति अपने कामनामन्त्र का वशवर्त्ती बनता हुआ सर्वतन्त्र परतन्त्र–सम्बन्धनभावापन्न प्रमाणित हो रहा है। वह जहाँ इच्छातन्त्र का अनुशासक बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी नित्यमुक्त है, वहाँ यह कामनातन्त्र से अनुशासित रहता हुआ सबसे अभिभूत बनता हुआ नित्यबद्ध है। यह परतन्त्रतामूलक वशवर्त्तित्वरूप आत्माभिभवमूलक–तत्समतुलित 'शयनभाव' (चेतनाविकासान्तर्मुखभाव) ही इसकी कामना का **'इट्–अन्नं–तत्र शेते–अभिभूतो भवति'** रूप से 'इच्छाभाव' है, जो कि मानव की आत्मदासता की मौलिक उपनिषत् मानी जायगी। इच्छातन्त्र में आत्मशक्ति–आत्मसहजविकास सर्वथा अन्तर्मुख–अभिभूत बन जाता है। अतएव इच्छापरम्पराओं का पदे पदे व्याघात स्वाभाविक बना रहता है। यदि मानव अपने दहराकाशात्मक केन्द्र में प्रतिष्ठित

काममय अव्ययेश्वर–प्रजापति से अपना सहजसिद्ध ग्रन्थिबन्धनात्मक सख्यसम्बन्ध व्यक्त करने में समर्थ बन जाता है, तो इसका अन्नमय प्रज्ञानमन श्वोवसीयस काममय मन से ऋजुभावेन अनुगृहीत बनता हुआ स्वयं भी काममय ही बन जाता है। एवं इस सहजस्थिति को प्राप्त कर लेने के अनन्तर मानव की कामना ईशकामनावत् कभी निष्फल–निरर्थक–यातयाम नहीं बना करतीं, नहीं बन सकती। अवश्य ही 'जात्यायुर्भोगाः' सिद्धान्तानुसार जन्मान्तरीय अभिक्रमानुगत प्रारब्धकर्म्मवश ऐसे आत्मनिष्ठ सहज पूर्ण मानव को भी अपने लोकव्यवहारों में इच्छातन्त्रानुबन्धी सामयिक व्याघात यदा–कदा सहन करते रहने पड़ेंगे। किन्तु एताएता इसके अन्तःकामात्मक आत्मसंकल्प, आत्मनिष्ठाबल का कोई भी भौतिक व्याघात-कोई भी बाह्यशक्ति निरोध नहीं कर सकेगी। कालपरिपाकानन्तर अवश्य ही सत्यकामनिष्ठा–सत्यसंकल्प मानव की सहज कामना–**'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** (गीता ४।३८) के अनुसार निश्चयेन सफल हो जायगी। अवश्य ही सत्यकामनिष्ठ मानव के सत्यकाममय ईश्वरीय सत्य-संकल्प में विघ्नपरम्परा–उपस्थित करते रहने वाले इच्छातन्त्रवशवर्त्ती दुर्बुद्धि मानव **'बलं सत्याद्‌ज्यीयः'** के अनुसार तात्कालिक रूप से मेघावरणवत् सत्यसंकल्प का निरोध करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, कर लेते हैं। किन्तु·········

(३६)—कुनैष्ठिक दुर्बुद्धिमानव-

किन्तु उन दुर्बुद्धियों को यह कदापि विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि, अश्माखणात्मक ईश्वरीय नित्यकामना यदि निर्व्याजरूप से उस नैष्ठिक मानव का ईश्वरीयकाम है, तो तत्प्रतिबन्धक यच्चयावत् आगन्तुक विरोधी भावों को कालान्तर में अनिवार्य्यरूपेण उस प्राकृतिक-प्रतिक्रियात्मक भयानक दण्ड का नियतिदण्ड का–वशवर्त्ती बनना ही पड़ेगा, जिस भयानक दण्डप्रहार से सृष्टि से आरम्भ कर अद्यावधिपर्य्यन्त मानवेतिहास में कोई भी दुर्बुद्धि–प्रतिक्रियावादी मानव अपना संरक्षण नहीं कर सका है, नहीं कर सकता है। मानव का, शान्ति स्वस्त्ययनकामुक मानव का अनन्य लक्ष्य बनना चाहिए ईश्वरीय कामभाव, न कि मर्त्यभोगलिप्सापरिपूर्ण बन्धनप्रवर्त्तक इच्छाभाव। कामभाव आत्मरक्षरूप-संरक्षणपूर्वक मानव की सहजशान्ति का प्रवर्त्तक बनता है, तो इच्छाभाव आत्मस्वरूपावरणपूर्वक मानव की अशान्ति का ही जनक प्रमाणित होता है। यही काम, और इच्छा के मौलिकस्वरूपों में महान् स्वरूपविभेद है, जिसका उत्थिताकांक्षा, उत्थाप्याकांक्षा रूप से पूर्व में स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १४३)।

वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, ईश्वरीय सहज–प्राकृतिक इच्छा (कामना) उत्थिताकांक्षा है, दूसरे शब्दों में स्वतः उत्थित इच्छा ईश्वरीय कामना ही उत्थिताकांक्षा है। एवं जीवात्मानुगता कृत्रिम कामना (इच्छा) उत्थाप्याकांक्षा है, दूसरे शब्दों में मलीमसभावनावासनासंस्कारपरम्परा के आघात–प्रत्याघातों की निर्म्मम जघन्य प्रेरणा से परशक्ति–परप्रेरणा द्वारा उत्थापित कामना ही मानवीय इच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। ईश्वरीय कामानुगत जीवात्मा के समस्त कर्म्म अबन्धन हैं, फिर भले ही

सामान्य–लौकिक–यथाजात–भावुक–मानवसमाज की प्रत्यक्षदृष्टि में एवंविध ईश्वरीय सहज कर्म–सबन्धन ही क्यों न प्रतीत होते रहें। उधर मानवीय इच्छानुगत मानव के समस्त कर्म्म सम्बन्धन हैं, फिर भले ही मानवसमाज की दृष्टि में एवंविध लोकैषणात्मक कृत्रिम कर्म्म प्रत्यक्ष में श्रेष्ठकर्म्म ही क्यों न प्रमाणित होते रहें। यही भारतीय आर्षधर्म्मानुगता 'पाप-पुण्यद्वन्द्व' की वह महती निकषा है, जिसकी नैष्ठिकी तुला से समतुलित कर्म्माकर्म्मव्यवस्था–शुभाशुभव्यवस्था–पापपुण्यव्यवस्था–निकृष्टश्रेष्ठव्यवस्था–कभी मानव को स्वात्मधरातल से, स्वानुगत नैष्ठिक परिपूर्ण स्वरूप से स्खलित नहीं होने देती। यही वह आर्षतुला है, जिसके समतुलन को विस्मृत कर वर्त्तमान एषणालिप्त मानव कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से वञ्चित रहता हुआ केवल जगन्मूला संकल्प–विकल्पभावापन्ना इन्द्रियमनोऽनुबन्धिनी विचिकित्सा को ही अपना परमपुरुषार्थ मानने की महद्भ्रान्ति करता हुआ सर्वथा किंकर्त्तव्यविमूढ़–दिग्विमूढ–भ्रान्त–विभ्रान्तरूप से निरुद्देश्य–निर्लक्ष्य–अकर्मण्य–उत्पथकर्म्मानुगत बनता हुआ पशुवत् सर्वक्षेत्रों में सर्वथा परतन्त्र प्रमाणित होता हुआ क्लान्त–श्रान्त–परिश्रान्त–नितान्त–अशान्तरूप से इतस्ततः दंद्रम्यमाण रूप से विचरण कर रहा है।

(४०)–मानव के तीन वर्ग—

श्वोवसीयस् मनोऽनुगत काम, किंवा कामना का, एवं प्रज्ञानमनोऽनुगता इच्छा, किंवा अशनाया का संक्षिप्त इतिहास पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब संक्षेप से इन्द्रियमनोऽनुगता विचिकित्सा, किंवा संकल्पविकल्प के सम्बन्ध में भी स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। कामतन्त्र अव्ययप्रधान बनता हुआ जहाँ ईश्वरानुगत है, इच्छातन्त्र अक्षरप्रधान बनता हुआ जहाँ जीवानुगत है, वहाँ विचिकित्सातन्त्र क्षरप्रधान बनता हुआ जगदनुगत ही माना गया है। यह एक नितान्त ही रहस्यपूर्ण विषय है कि, जीवात्मानुगत 'इच्छातन्त्र' का अनन्य–अन्यतम क्षेत्र मानव ही बना करता है। मानवेतर अन्य सभी जड़चेतनपदार्थ प्राकृत हैं, अतएव पशुभावापन्न हैं, अतएव जगद्भावानुगत हैं, अतएव च केवल विचिकित्साभावापन्न हीं हैं। इस रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण की मीमांसा उत्तरखण्ड में इसलिए प्रासङ्गिक मानी जायगी कि, जबतक मानवकी तत्त्वमूला स्वरूपमीमांसा सर्वात्मना हृदयङ्गम नहीं कर ली जाती, तबतक इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बुद्धिभेदजनक ही प्रमाणित होगा। अभी इस सम्बन्ध में यही सङ्केत पर्य्याप्त मान लेना चाहिए कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति केवल 'मानव' में ही हैं। मानवेतर यच्चयावत् प्राणी–अप्राणीवर्ग आत्मदृष्ट्या अनभिव्यक्त हैं, पशुभावसमतुलित हैं, एवं नितान्त प्राकृत ही है। इनमें स्वतन्त्र पुरुषार्थ का आत्यन्तिक अभाव है। इत्यादि।

छोड़िए रहस्यपूर्ण इस रहस्यमीमांसा को। प्रकृत को लक्ष्य बनाइए। अधिकारीभेद से मानव के साथ हम इन तीनों तन्त्रों का समन्वय कर सकते हैं। **लक्ष्यारूढ़ अधिकारी, लक्ष्यानुगत अधिकारी, लक्ष्यभ्रष्ट अनधिकारी,** रूप से मानव को तीन श्रेणिविभागों में विभक्त मान कर इन तीनों इच्छातन्त्रों का सम्यक् समन्वय किया जा सकेगा। ईशभावपरायण–अव्ययात्मानुयोगी–आत्मबुद्धियोग-

निष्ठ--परिपूर्ण- सहजमानव 'लक्ष्यारूढ़' अधिकारी माना जायगा। स्व--भावपरायण--अक्षरात्मानुयोगी--व्यवहारबुद्धिनिष्ठ अतएव लोकनिष्ठ मानव 'लक्ष्यानुगत' अधिकारी कहा जायगा। एवं परभावपरायण--परप्रत्ययनेयमूढ--सर्वलक्ष्यवञ्चित--क्षरात्मानुयोगी--निष्ठाच्युत--भावुक मानव 'लक्ष्यभ्रष्ट' अनधिकारीरूप अधिकारी प्रसिद्ध होगा। आत्मबुद्धिनिष्ठ लक्ष्यारूढ़ अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा काममय श्वोवसीयस्-मन बना रहेगा। लोकव्यवहारनिष्ठ लौकिक मानव का मूलाधार इच्छामय प्रज्ञानमन माना जायगा। एवं सर्वव्यवहारविच्युत लोकभ्रष्ट मानवाभास का अमूलात्मक मूल विचिकित्सामय इन्द्रियमन कहा जायगा। इन तीनों मानववर्गों में मध्यस्थ लोकनिष्ठ मानव का इच्छामय प्रज्ञानमन मानव की वह सान्ध्यावस्था है, जिस पर प्रतिष्ठित रहने वाला लौकिक मानव काममय बुद्धिनिष्ठ अलौकिक महामानव के द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करता हुआ जहाँ अपना क्रमिक अभ्युदयसाधन करता हुआ, कालान्तर में लक्ष्यानुगतिपूर्वक लक्ष्यारूढ़ बनता हुआ निःश्रेयस्भावमाध्यम से अपना मानव--जीवन कृतकृत्य--सफल प्रमाणित कर लेता है। वहाँ यही लौकिक मानव लोककामनानुगता एषणात्रयी (वित्त--पुत्र--लोकैषणात्रयी), तत्रापि विशेषतः लोकैषणा (नामैषणा) के व्यामोह में आसक्त--व्यासक्त बनता हुआ सत्यमार्ग--सत्पथ--प्रदर्शक आत्मबुद्धियोगनिष्ठ महामानवों के आदेशोपदेशों की अत्यन्तिक उपेक्षा करता हुआ ठीक इस के विपरीत लक्ष्यहीन--हीनचरित्र--चरित्रभ्रष्ट--भ्रष्टलक्ष्य--लक्ष्यवञ्चित--वञ्चकपथकुशल--चाटुकार--कुनैष्ठिक--असन्निष्ठ--आसुर मानवों के वातावरण से--आदेशोपदेशों से आक्रान्त बनकर कालान्तर में स्वयं भी सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट बनता हुआ केवल विचिकित्सापथ का ही पथिक बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। और यों यह सान्ध्य मानव अपने प्रज्ञाकौशलसे ऊर्ध्व पथानुगमन द्वारा जहाँ अलौकिक मानव बन सकता है। वहाँ प्रज्ञापराध से अधःपथानुगमनद्वारा लक्ष्यभ्रष्ट मानव प्रमाणित होता हुआ अपना मानव--जीवन निष्फल भी प्रमाणित कर लेता है।

अयमत्र संग्रहः—

(५)—लक्ष्यारूढ़–अनुगत–भ्रष्टमानवत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

(१)—लक्ष्यारूढ़मानवः—ईश्वरानुगतः—आत्मानुगतः–काममयः—श्वोवसीयस्मनोऽनुगतः (आत्मनिष्ठः)

(२)—लक्ष्यानुगतमानवः—स्वानुगतः—जीवानुगतः—इच्छामयः-सर्वेन्द्रियमनोऽनुगतः (लोकनिष्ठः)

(३)—लक्ष्यभ्रष्टमानवः—परानुगतः—जगदनुगतः—विचिकित्सामयः-इन्द्रियमनोऽनुगतः (निष्ठाच्युतः)

(४१)—विनाशक विचिकित्साभाव—

विचिकित्सामय इन्द्रियमन की विद्युत्–इन्द्रानुगता नैसर्गिक चञ्चलता से समन्विता ग्रहणपरित्यागात्मिका- संकल्पविकल्पभावापन्ना संदिहानवृत्ति (संन्देहवृत्ति) ही 'विचिकित्सा' कहलाई है, जो इन्द्रियमन का स्वरूपधर्म्म माना गया है। संशयार्थक 'कित' धातु–(भ्वा० प० से०) से 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (पा०सू० ३।५।) तथा 'अप्रत्ययात्' (पा०सू० ३।३।१०२) सूत्रों से सनादि-

प्रत्यय द्वारा ही 'विचिकित्सा' शब्द निष्पन्न हुआ है। '**एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोटयवगाहिज्ञानं संशयः**' ही संशयवृत्ति का दार्शनिक लक्षण माना गया है। अपनी व्यवसायात्मिका निश्चित निर्णयकर्तृत्वशक्तिभावापन्ना बुद्धिनिष्ठा से स्खलित विचलित मानव एक ही लक्ष्य में जो—"यह करूँ—अथवा वह करूँ—अमुक सवश्रेष्ठ है, अथवा तो निकृष्ट है" इस प्रकार सदा संकल्प-विकल्पात्मक ऊहापोह- तर्क-वितर्क—कुतर्कपरम्परा—परस्परात्यन्तविरुद्धभावानुगता कल्पनापरम्परा का अनुगामी बना रहता है, वही मानव—वही यह संशयशील मानव इस संशयशीलता के अनुग्रह से कालान्तर में स्वयं अपनी अध्यात्मसंस्था (अपने आप) पर भी सन्देह करने लग जाता है। परिणामस्वरूप अपनी यच्चयावत् प्राकृतिक आध्यात्मिक—आधिदैविक—अधिभौतिक शक्तियों पर अविश्वास—सन्देह करने में अभ्यस्तमना यह मन्दभाग्य मानव इन्द्रियमनोऽनुगता तमोबहुला इस विचिकित्सालक्षणा संहिदानवृति से वास्तव में चिकित्स्य बन जाता है। अविलम्ब ऐसे महारोगग्रस्त—चिकित्स्य—विचिकित्सानुगामी भ्रान्त मानव की किसी आत्मबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ के द्वारा चिकित्सा का आयोजन कराना चाहिए समाजनैष्ठिकों को। अन्यथा कालान्तर में इस सन्दिहानवृत्ति के दृढ़मूल बन जाने पर यह सर्वात्मना अचिकित्स्य—असाध्यरोगी प्रमाणित हो सकता है। एवं असाध्यदशा में '**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**' पथ ही इसके लिए शेष बना रह जाता है।

केवल इन्द्रियारामपरायण—आसक्तिपूर्वक लोकवैभवभोगपरायण—वैषयिक—यथाजात—विमूढ़ मानव में विचिकित्सामय इन्द्रियमन का ही प्राधान्य रहता है। परमकारुणिक महर्षि विचिकित्सामय इस ऐन्द्रियक मानव के उद्बोधन के लिए एक वैसे महामाङ्गलिक पथ का निदर्शन करा रहे हैं कि, यदि यह मानव उस पथ का अनुसरण कर लेता है, तो कालान्तर में इसका क्रमिक अभ्युत्थान सम्भव बन जाता है। आभ्यन्तर मनोभावों के परिशोध के लिए अलौकिक-ज्ञाननिष्ठ महामानवों का आस्थाश्रद्धापूर्वक सम्मान, प्रणतभाव से—अथवा तो आरम्भ में केवल इस प्रणतभाव को निम्बादिक्वाथवत् कटु ओषधि ही मान कर श्रद्धा—अश्रद्धा से—जैसे भी बने वैसे अभ्यर्चन, तथा उन ज्ञाननिष्ठ महामानवों के लोकसंग्राहक—धर्म—पथानुगत लौकिक—शास्त्रीय कर्म्मों की गतानुगतिकता, आदि का अनुगमन करना चाहिए। निश्चयेन इस ऋजुःपन्थानुगमन से आत्ममल (प्रज्ञामल) विशोधनपूर्वक अभ्युदय सम्भव है, जिस इस अजिह्मा राजपद्धति का निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है, एवं जिस इस ऋजुःपथ की विशद—वैज्ञानिक मीमांसा निबन्ध के उत्तरखण्ड में होने वाली है—

ये के चास्मात्—श्रेयांसो ब्राह्मणाः—तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते—'**कर्म्मविचिकित्सा**' वा, **वृत्तिविचिकित्सा**' वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः—युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः, एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।३,४,।

(४२)–चर्म्ममयाकाश का वेष्टन–

मानवीय अध्यात्मसंस्था से सम्बन्धित अमृतलक्षण अव्ययात्मा, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा, शुक्रलक्षण क्षरात्मा, इन तीन आत्मतन्त्रों से क्रमशः अनुप्राणित भोगतन्त्रानुगत--अव्ययात्मनिबन्धन श्वोवसीयस्मन, कर्मतन्त्रानुगत अक्षरात्मनिबन्धन सर्वेन्द्रियमन, अर्थानुगत--क्षरात्मनिबन्धन इन्द्रियमन--तीनों मनस्तन्त्रों के काममय--इच्छामय--विचिकित्सामय व्यापारों का संक्षिप्त स्वरूप विज्ञ पाठकों की मानस अनुभूति का लक्ष्य बनाया गया। इन तीनों मनस्तन्त्रों में से प्रतिपाद्य प्रतिज्ञात 'मनु' के तात्त्विक इतिहास का सम्बन्ध अव्ययात्मनिबन्धन काममय श्वोसीयस्मन के साथ ही है, जिसके माध्यम से यह मनःस्वरूपविवेचन भी प्रासङ्गिक बन गया है। अब पुनः सृष्टिमूलभूत कामभाव से सम्बन्धित मनु का परोक्षरूपेण सङ्केत करने वाली पूर्वोद्धृता **'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०'** इत्यादि मन्त्रश्रुति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। **मन के रेतोभूत कामने मनुद्वारा कैसे विश्वसर्ग को व्यक्त बना डाला ?**, इस मूल-प्रश्न से सम्बन्धित तात्त्विकसृष्टिविज्ञान की रूपरेखा को लक्ष्य बना लेना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा। उसी को सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जारहा है।

'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' 'योऽहं-सोऽसौ–'योऽसौ-सोऽहम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार त्रिपुरुष--पुरुषात्मक–षोडशकल–पूर्णप्रजापति का उदक्तरूप मानव भी प्रकृत्या–पुरुषेण च (क्षराक्षरधिया–अव्ययधिया च) उभयथा परिपूर्ण है। इस परिपूर्ण भी मानवश्रेष्ठ में अन्नमय प्रज्ञानमन की प्रज्ञापराध-जनिता भ्रान्ति (भूल) से, स्वयं अपनी हीं इस प्रज्ञापराधपरम्परा से इसके स्नेहगुणयुक्त, अतएव आसक्ति-धर्म्माक्रान्त सोममय प्रज्ञाधरातल पर विचिकित्सा (संकल्पविकल्प) मय ऐन्द्रियक मन के द्वारा आगत–समागत–अविद्या–अस्मिता–रागद्वेष–अभिनिवेशादि मलीमस–पाप्मा–संस्कार-दृढ़मूल बन जाते हैं। इन मलीमस–संस्कारपुटों से मेघावरणयुक्त सूर्य्यवत् तमोऽभिभूत बनता हुआ प्रज्ञानमन स्वधरातल पर प्रति-बिम्बरूप से प्रतिष्ठिता सौरप्राणमयी धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्यभावात्मिका विद्याबुद्धि के अव्ययात्मा-नुगत सत्त्वगुणान्वित–सत्त्वात्मक–भाः रूप–आकाशसमतुलित ज्योतिर्भाव को (अव्ययात्मज्योति को) भी उसी प्रकार आवृत कर लेता है, जैसे कि मेघावरण से सौरप्रभा आवृत बन जाया करती है। इस मध्य-स्थित तामस के आवरण से सत्यसंकल्पधर्म्मा काममय अन्तरात्मा, दूसरे शब्दों में मानव के शरीराकाश-केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयाकाश के केन्द्र में स्थित दहराकाशावस्थित हृत्पुण्डरीक में–सहस्रसूर्य्यज्योति.सम-तुलित नित्यकाममय श्वोवसीयस् मन सर्वात्मना अन्तर्मुख बन जाता है। तदित्थं, मानव के अपने ही दोष से इस प्रकार आत्मदेवता (परदेवता) के अन्तर्मुख बन जाने से मानव अपनी आध्यात्मिक परिपूर्णता के बोध से वञ्चित होता हुआ अपने आपको अपूर्ण–अज्ञ–ऐश्वर्य्यशून्य–सा अनुभूत करने लग जाता है। इस स्वदोषानुगता अपूर्णतानुभूति के अनुग्रह से ही मानव–परिपूर्ण भी मानव–पदे पदे कष्ट--दुःख--भय--शोक--मोह--अशान्ति–परम्पराओं का सम्मान्य अतिथि बन जाता है। निश्चित है कि—सत्यसंकल्पात्मक--नित्यकाममय--किंवा कामनामय--अतएव निष्कामभावापन्न -श्वोवसीयस् मनोमय अव्ययात्मदेव के अनुग्रह के

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दुःखपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेव्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दुःखपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव-स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

—उपनिषत्

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनुःसम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुर्लक्षण परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दुःखभाग् है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुग्रहात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। **'समानमेतत पशुभिर्नराणाम्'** प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि—वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियति-तन्त्र से—अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित—निश्चित—मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व—स्व—पशुत्त्व—पक्षित्त्वादि सहज प्राकृतिक धर्म्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में हीं क्या, अधिकांश में निर्व्याजरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ़ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादा-सूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृंखल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता—उच्छृंखलता—अमर्य्यादा—अविवेकिता—आदि को ही 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का जघन्य—पापार्ज्जन करता हुआ अपने गृह्य पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्त्ती पड़ौसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट—वृद्ध—मानवों के उत्पीड़न का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

प्राणियों के संहारकर्म्म में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करता, जो इसकी अमुक हितैषिता में आत्मार्पण किए रहते हैं। स्वयं नित्य अशान्त–भ्रान्त–विभ्रान्त–बने हुए, 'जहँ जहँ चरण पड़े सन्तन के, तँह तँह, न्याय से अपने सम्पर्क स्थलों को भी सर्वात्मना संक्षुब्ध–अशान्त–उत्पीड़ित करने के कारण अपने आद्यक्षर को दकाराभिधा से समलंकृत करते हुए इस मानव की दृष्टि में–'परापकारः पुण्याय,–पापाय हितेसाधनम्' यही सूत्र जीवन का मुख्य पुरुषार्थ बना रहता है। आवश्यक है कि, प्रकृत्या सर्व-श्रेष्ठ–परिपूर्ण–मानव का इस उद्वेगकरी दयनीय स्थिति से परित्राण हो। तदर्थ अत्यावश्यक है कि, यह अपने आपको पहिचाने, अपनी अभिभूत आत्मशक्तियों का उद्बोधन प्राप्त करे। तदर्थ अनिवार्य्य है कि यह अपने प्राकृतिक विश्वसर्गानुबन्धी तात्त्विक स्वरूप को अपने स्वाध्याय का लक्ष्य बनाये। एवं तदर्थ ही यह आवश्यकरूप से अनिवार्य्यतम है कि, मानव के वास्तविक हितसाधक (ज्ञानविज्ञानपूर्ण)–शतसहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय–नैगमिक आम्नायपरम्परानुप्राणित उस सृष्टिविज्ञान की रूपरेखा की ओर इसका ध्यान आकर्षित किया जाय, जिसके आधार पर इसकी मूलप्रतिष्ठारूप वे 'मनु' प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिन्हें विस्मृत कर सचमुच इस प्राणी ने आज अपनी सर्वश्रेष्ठा–गुह्यब्रह्मलक्षणा–श्रेष्ठतमा 'मानव' अभिधा को अभिभूत कर लिया है।

तथाकथिता आवश्कतापरम्परा को दृष्टि में रखते हुए अबतक के वाङ्मय प्रपञ्च के द्वारा तथाविध मानव के सम्मुख काममय ईश्वरप्रजापति का संक्षिप्त स्वरूप समुपस्थित किया गया। तत् प्रसङ्ग से ही ईश की प्रणववाचकता का स्वरूप उपस्थित किया गया। इसी प्रसङ्ग में मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'श्वोवसीयस्मन–प्रज्ञानमन–इन्द्रियमन–'इन तीन मनस्तन्त्रों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तीनों के 'काम–कामना, इच्छा–अशनाया, विचिकित्सा–संकल्पविकल्प' इन सहज धर्म्मों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक समझा गया। इस प्रासङ्गिकी परम्परा के अनन्तर ही अब यद्यपि मूलभूत–'मनु' को ही लक्ष्यभूमि बनाना प्रासङ्गिक था, किन्तु काममय आत्ममन के सत्यसंकल्प से सम्बन्धिता काममयी आत्मसृष्टि के दिग्दर्शन के बिना क्योंकि विश्वस्वरूप अपूर्ण बना रह जाता है। अतएव इस सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त कुछ निवेदन कर देना प्रासङ्गिकधिया अनिवार्य्य ही मान लिया जायगा।

(४४)–विश्वाधारभूत ब्रह्मवन का सिंहावलोकन—

पूर्व के तृतीय परिच्छेद में विश्व की मूलजिज्ञासा को मानते हुए हमने 'ब्रह्मवनरहस्य'–प्रतिपादक पाँच मन्त्र उद्धृत किए थे (देखिए पृ०सं० १४१)। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मन्त्र से सन्बन्धित त्रिविध मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए निकटपूर्व में ही काममय अव्ययेश्वर के श्वोवसीयस् नामक नित्य मन के साथ मानवाधारभूत 'मनु' का सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। वहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, यह मनोमय मनु ही विश्व का मूल बनता है। यहीं एक नवीन जिज्ञासा अभिव्यक्त हो जाती है। प्रस्तुत मीमांसा के आरम्भ में 'ब्रह्मवन' को विश्व का मूल बतलाया गया था, एवं आगे चलकर मनु को

विश्वमूल घोषित किया गया। इन दोनों दृष्टिकोणों का किस आधार पर, कैसे समन्वय किया जाय ! यही नवीन जिज्ञासा है, जिस के समाधान के लिए हमें सिंहावलोकनदृष्ट्या आरम्भ में मन्त्रपञ्चक-द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवन को ही सिंहावलोकन दृष्ट्या लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

जब कुछ न था, तो क्या था ?, दूसरे शब्दों में वर्त्तमान में अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्षदृष्ट स्थूल भौतिक–चर अचरप्रपञ्च, विज्ञानदृष्टि से दृष्ट--अवलोकित परोक्ष प्राणादिप्रपञ्च, आदि आदि कुछ भी जब न था, तो उस समय क्या था ?, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् तित्तिरि ने समाधान उपस्थित किया कि—

*** ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।६।७

विश्वमूलजिज्ञासानुगत विचारविमर्शप्रसङ्गावसर पर एक बार ऋषिसंसत् (ब्रह्मपर्षत्--परिषत्) में प्रश्न उपस्थित यह हो पड़ा कि—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस ? यतो द्यावापृथिवीं निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु, तदध्यतिष्ठद् भुवननि धारयन् ॥

ऋक्संहिता १०।८१।४।

"वह ऐसा कौनसा महावन (जंगल) था, उस महावन में ऐसा कौन सा महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर–(काट-तराश कर–छील छालकर) यह इतना बड़ा सुविस्तृत त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप द्यावापृथिव्य विश्व बना डाला गया ? । हे मनीषी विद्वानो ! आप लोग अपने मनसे भली भाँति निश्चित कर कृपया यह समाधान करने का अनुग्रह करें कि, जिस **महावन के महावृक्ष** से षड्भुवनात्मक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप

---

* इन मन्त्रों की मीमांसा पूर्व में (१४० पृ०) की जा चुकी है । अतः वे ही दोनों मन्त्र यहाँ समुपस्थित हो रहे हैं। सम्भव है 'समयबहुमूल्यवादी' आजका भावुक मानव इस पुनरुक्ति से हमारी अज्ञता का उपहास करे। उसकी इस अज्ञता का हम इसलिए हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे कि, तात्त्विक विषयों के निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली पुनरुक्तिपरम्परा आर्षनिष्ठा में उपादेया ही मानी गई है। 'एक ही सिद्धान्त, उसी का पुनः पुनः दृष्टिकोणभेद से निरूपण' यही सहज आर्षदृष्टिकोण है। यदि भावुक मानव सौभाग्य से कभी वेदग्रन्थस्वाध्याय में प्रवृत्त होगा, तो वह स्वयं इस दृष्टिकोण का यत्रतत्र सर्वत्र पदे-पदे साक्षात्कार कर लेगा। फिर हमतो ऐसे भावुक हैं इस जटिलतत्त्ववाद के समन्वय करने के सम्बन्ध में कि, आगे आगे निबन्ध–विषयों को लिपिबद्ध करते हुए पूर्व-पूर्व के मूल-विषय विस्मृत करते जाते हैं। स्वान्तःसुखमूला केवल अपनी स्वाध्यायनिष्ठानुगता अपनी तत्त्वसंस्मरणमूला भावुकताके संरक्षण के लिए ही हमें पुनः पुनः उसी शाश्वतब्रह्म का संस्मरण करना पड़ता है।

यह **महाविश्व** विनिर्म्मित होगया, इसे किसने धारण कर रक्खा है ?"। प्रश्न उपस्थित हुआ ऋक्-संहिता में भुवनपुत्र अतएव 'भौवन' नाम से प्रसिद्ध महामहर्षि विश्वकर्म्मा * के द्वारा, एवं इस प्रश्न के मार्म्मिक उत्तर का विश्लेषण हुआ भगवान् तित्तिरि के द्वारा तैत्तिरीय ब्राह्मण में-**ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्'** इत्यादि रूप से। कैसा परोक्ष प्रश्न, एवं कैसा आश्चर्य्योत्पादक परोक्ष ही समाधान, जिस के पारिभाषिक रहस्यार्थ के परिज्ञान के बिना प्रश्नोत्तर का यत्किञ्चित् भी तो समन्वयन हीं किया जा सकता। **ब्रह्म ही वन, ब्रह्म ही वृक्ष, इससे काट-छाँट कर बना हुआ ब्रह्म ही विश्व, और ब्रह्म ही अपने इस सृष्ट रूप का सर्वाधार, एवं ऐसा यह समाधान हुआ मनोयोगपूर्वक तत्त्वज्ञ महामहर्षियों के द्वारा"** कैसा है वह अद्भुत प्रश्न, और कैसा है यह अद्भुत समाधान **'स्मृत्त्वा स्मृत्त्वा रोमहर्षः प्रजायते'**।

(४५)--आलोचकों की आक्षेपपरम्परा--

वेदशास्त्र की इत्थंभूता रहस्यार्थगभीरा पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि के स्पर्शलेश से भी वञ्चित वर्तमान-युग के प्रत्यक्ष-भूतवादी-प्रतीच्यसरणिभक्त-अर्वाचीन-नव्य विद्वानों ने सम्भवतः इसीलिए अपने ये उद्गार प्रकट कर देने का अक्षम्य अपराध कर डाला है कि,-"जो तत्त्ववाद, जो मौलिकरहस्य-प्राकृतिक रहस्य भारतीय विद्वान् अपनी तत्त्वविज्ञानशून्या केवल प्रमाणभक्तिमूला भावुकता के कारण समझ न सके, उसे सर्वप्रथम तो इन्होंने 'अगम्य-अनिर्वचनीय-वाङ्मनसपथातीत' कह कर अपनी विद्वत्ता की रक्षा करली है। अथवा तो वैसे अज्ञात तत्त्ववादों के लिए केवल अपनी कल्पना के माध्यम से 'ब्रह्म' नामक एक वैसे अज्ञात नाममात्र की कल्पना कर डाली है, जिसे प्रमुख बनाकर ये विद्वम्मन्य आस्थाश्रद्धाशील अन्धभक्त भावुक भारतीयों की प्रतारणा किया करते हैं। जिस का समाधान इनकी समझ में न आया, वह अनिर्वचनीय, अगम्य, और वही 'ब्रह्म', जिस इसका अभ्रसमतुलित काल्पनिक 'ब्रह्म' नाम मात्र के सम्मुख, इसकी अचिन्त्यता-अनिर्वचनीयता की घोषणा के सम्मुख आस्तिक भारतीय मानव अवनतशिरस्क बन जाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। किन्तु जो हमारे जैसे तत्त्वज्ञ

*-निगमशास्त्र में वसिष्ठ-अगस्त्य-भरद्वाज-दीर्घतमा-बृहस्पति-अङ्गिरा-भृगु-अत्रि-आदि-आदि जितने भी ऋषिनाम श्रुतोपश्रुत हैं, वे सब वस्तुतः मौलिक प्राणरूप तत्त्वों के ही नाम हैं। जिस जिस महामानव ने अपनी तपःपूता दिव्यदृष्टि से सर्वप्रथम जिस जिस ऋषिप्राण का साक्षात्कार किया, तत्कालीना सम्मानप्रदानपद्धति के अनुसार ब्रह्मपर्षदध्यक्षों के द्वारा तत्तदन्वेषक-आविष्कारक महामानवों को तत्तत् ऋषिनामों से ही व्यवहृत कर दिया गया, जो इन मानवों के 'यशोनाम' बनते हुए तद्वंशधरों में भी प्रचलित होगए। विश्वस्रष्टा विश्वकर्म्मा-भुवनाधिष्ठाता मौलिकतत्त्व का अन्वेषण करने वाले महापुरुष इसी आधार पर **'विश्वकर्म्मा भौवन'** नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। वे ही इस मन्त्र के मन्त्रद्रष्टा (तत्त्वसाक्षात्-कर्त्ता) माने गए।

विज्ञानपथानुवर्त्मा--सत्य-स्थितिपरीक्षक मानव हैं, वे कभी ऐसी प्रतारणाओं को कुछ भी तो वाणीमात्र का भी तो सम्मान प्रदान करने की इच्छा नहीं करते"। नेति होवाच।

(४६)---समाधानकर्त्ता पूषादेवता---

अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!! बड़ी भ्रान्ति, महा अज्ञान, वेदार्थपरिभाषाज्ञान के अभाव से समुत्पन्न अभिनिवेशमूलक निरतिशय बुद्धिविभ्रम। वैदिकतत्त्ववाद के सम्बन्ध में पदे पदे "य ऐवदमिति ब्रवत्" की निर्व्याज घोषणा करने वाला वेदशास्त्र इस प्रकार परप्रतारणा के लिए प्रवृत्त होगा ?, इस प्रकार की भावना के श्रवणमात्र से भी हम प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं, जिसके लिए हमें यहाँ दो शब्दों में केवल अनन्य श्रद्धात्मिका श्रुति (श्रवण) मात्र से सम्बन्धित भी **ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस'** की पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि की उपासना करनी पड़ रही है। जिस वेदशास्त्र की यह घोषणा है कि—**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'**, उसके सम्बन्ध में अपनी लिप्सापूर्णा भूत-विज्ञानदृष्टि के माध्यम से प्रतारणा-धारणा की कल्पना करने वालों के लिए वेदमहर्षि को अवश्य ही **'असुर्य्या नाम ते ले लोकाः'** से भी कहीं घोरघोरतम लोक की कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसी हमारी केवल धारणा ही नहीं, अपितु दृढ़तम आत्मविश्वास है। हम अपनी सहज **'सर्वे सन्तु निरामयाः'—मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'** इस भारतीय भावना के माध्यम से पूषादेवता से इससे अधिक और क्या निवेदन कर सकते हैं कि,-**'पुनर्नो नष्टमाजतु'**। (हे पूषादेवता हमारे प्रज्ञापराध से हमने जिस तत्त्ववाद को, जिस मौलिक तत्त्वसम्पत् को विनष्ट-विस्मृत कर दिया है, आप ही अनुग्रह कर पुनः उसे व्यक्त करने का अनुग्रह करें, जिसके आधार पर हम अपनी विलुप्तप्राय-पारिभाषिकज्ञानसमन्विता उस तत्त्वदृष्टि को पुनः अर्जित-समार्जित करने की क्षमता प्राप्त कर सकें, जिसके प्राप्त हो जाने के अनन्तर कुछ भी तो-अज्ञात-संशयास्पद नहीं बना रह जाता। **'ओमित्युवाच पूषादेवता'**।

सम्पूषन् ! विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत् ॥१॥
समु पूष्णा गमेमहि या गृहाँ अभिशासति। इम एवेति च ॥२॥
पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। न अस्य व्यथते पविः ॥३॥
माकिर्नेशन् माकीं रिषन् माकीं संशारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि ॥४॥
परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु ॥५॥

—ऋक्सं० ६ मं० ५४ सू०।

हे पार्थिव पूषादेवता ! आप अनुग्रह कर हमें वैसे तत्त्वज्ञविद्वान् के समीप ले चलिए, जो सर्वथा सहजभाव (अञ्जसा) से तत्त्वों का अनुशासन (स्वरूपविश्लेषण) किया करता है (करने की क्षमता रखता है), एवं जो-'इदमित्थमेव नान्यथा'-यह ऐसा ही है, इस प्रकार सन्देहरहित घोषणा करता है।

"हे पूषादेवता ! आप हमें अनुग्रह कर उन परतत्त्वदर्शी (आत्मतत्त्वद्रष्टा) तत्त्ववेत्ता विद्वानों की शरण में ले चलिए (नय), जो हमें 'इदमित्थमेव, नान्यथा' रूप से सदा निर्णयात्मक निश्चयात्मक सन्देहरहित–सैद्धान्तिक समाधान से ही सर्वथा ऋजुभाव से–सरल–सुबोधगम्य शैली से ही–समाहित–आत्मतुष्ट कर सकने की क्षमता रखते हैं", इस प्रकार की उदार घोषणा करने वाला आर्षशास्त्र समाधान विदित न होने पर केवल काल्पनिक ब्रह्मादि–अनिर्वचनीयादि भावों के–शब्दों के–द्वारा हमारी प्रतारणा करता रहेगा, इस अनार्ष–जघन्य–दृष्टिकोण के तो संस्मरणमात्र से भी हम महापातक का अनुभव कर रहे हैं। जो आप्तमहर्षि अविज्ञेय तत्त्वों के सम्बन्ध में–'**यता वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' रूप से विस्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेते हैं। जो दुर्विज्ञेय तत्त्वों के सम्बन्ध में अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र **कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्**, इत्यादि रूप से अपनी अज्ञता स्वीकार करने में अणुमात्र भी संकोच नहीं करते, जो ऋजुःपथानुवर्त्ती सहजप्रज्ञ महर्षि–'**नाहं मन्ये सुवेदेति**' कहते हुए अपनी ऋजुवृत्ति का स्पष्ट विश्लेषण करते हुए नहीं अघाते, उनके प्रति इस प्रकार की जघन्य कल्पना करते हुए कि–"उनके समझ में जो नहीं आया, किन्तु जिन्हें अपने पाण्डित्य की रक्षा करने का विमोहन था, उन्होंने परप्रतारणा के लिए ब्रह्म–अचिन्त्य–अनिर्वचनीयादि शब्दों की काल्पनिक सृष्टि कर डाली"–क्या सचमुच अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी नहीं बना रहे ? ।

(४७)—सहजपरिभाषाविलुप्ति—

बात कुछ ऐसी घटित हो गई हैं कि, निगमतत्त्ववाद से सम्बन्ध रखने वालीं वे सहज परिभाषाएं आज हमारी आम्नायसिद्धा परम्परा के क्षेत्र से विस्मृत हो गई हैं, जिन परिभाषाओं के माध्यम के बिना हम अन्य प्रयत्नसहस्रों के आधार पर भी व्याकरणानुगत केवल धातु–प्रत्यय–प्रकृति–क्रिया–करण–कर्त्तादि के माध्यम से तात्त्विक समन्वय करने में नितान्त असमर्थ बने रह जाते हैं। गतानुगतिकभावापन्ना–पर–उच्छिष्ट-ज्ञानलवानुगता–काल्पनिक बुद्धिनिष्ठा के बल पर, अथवातो केवल व्याकरण के बल पर वेदतत्वार्थ के मर्म्म का स्पर्श भी सम्भव नहीं बन सकता। स्वाध्यायपरम्परा के साथ साथ ही दुर्भाग्यवश आज हमारा वह पारम्परिक पारिभाषिक बोध भी विलुप्तप्राय बन चुका है। अतएव व्याकरण–न्याय–दर्शन–वेदान्त–धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र)–आदि आदि इतर शास्त्रों के मर्म्मस्पर्शी महामहान् शास्त्रपारङ्गतों–महामहोपाध्यायों–महामहोपदेशकों–महामहाशास्त्रार्थियों के लिए भी वेदार्थसमन्वय आज एक 'समस्या' ही प्रमाणित हो रहा है *। अपने इसी एकमात्र दोष से, इसी परिभाषा–ज्ञानविस्मृतिरूप महा अपराध से आज हमें सर्वथा बालधी अर्वाचीनों के द्वारा किए गए वेदशास्त्रसम्मत तत्त्ववादों के प्रति–आक्षेप–आलोचनाओं को नतमस्तक बन कर सहन करते रहना पड़ रहा है। जिस इस असह्य स्थिति से परित्राण का एकमात्र पथ पूषादेवता का तथोक्त अनुग्रह ही बन सकता है।

---

*—देखिए–'**हमारी समस्या, और उसका समाधान**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

विश्वमूल घोषित किया गया। इन दोनों दृष्टिकोणों का किस आधार पर, कैसे समन्वय किया जाय ! यही नवीन जिज्ञासा है, जिस के समाधान के लिए हमें सिंहावलोकनदृष्ट्या आरम्भ में मन्त्रपञ्चक-द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवन को ही सिंहावलोकन दृष्ट्या लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

जब कुछ न था, तो क्या था ?, दूसरे शब्दों में ... भौतिक–चर अचरप्रपञ्च ...

... स समतुलित ... सान्तर्गर्भित–नित्यशान्तिस्वरूप सर्व- ... वैज्ञानिकों ने 'परात्परब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है, ...प्रतिपादक वचन में 'शाश्वतब्रह्म' नाम से, एवं गीता ने–'शाश्वतधर्म्म' नाम से लक्ष्य बनाया है। रससमुद्रात्मक इस परात्परब्रह्म के असीम धरातल पर अनन्त–असंख्य–रूप से समाविष्ट खचित-प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील–अतएव सामुद्रतरङ्गसमतुलित बलतत्त्वों में से एक विशेष प्रकार का सर्वबलप्रधान–सर्वबलाधारभूत- बलविशेष ही **'मायाबल'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्त्विक स्वरूप सृष्टिसर्गव्याख्या के नैगमिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करदेने वाले वर्त्तमान दार्शनिकों ने केवल 'मायावाद' कहकर उसके वास्तविक तत्त्वबोध से अपने आप को पराङ्मुख बनाते हुए भारतीय श्रद्धालु प्रजा को महाव्यामोह का अनुगामी बना डाला है।

अनन्तरससमुद्राधारेण प्रतिष्ठित अनन्तबलाधारभूत 'मायाबल' का एकमात्र कार्य्य है अपने अभिव्यक्त-भावापन्न रसप्रदेश को (परात्पर प्रदेश को *) सीमित कर देना, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बना देना, अमित को मितभाव प्रदान कर देना, व्यापक को व्याप्यभावानुगामी बना देना। अपनी सहज 'कोशवृत्ति' के कारण यह सीमाभावप्रवृत्त मायाबल भी असंख्य है। अनन्त–निःसीम–व्यापक–परात्परब्रह्म के निःसीम धरातल पर जलबुद्बुद्वत् आविर्भूत–तिरोभूत–होते रहने वाले इन असंख्य मायाबलों से तत्तत्परात्परप्रदेशा-

---

* दिक्–देश-काल–भावानुगत ये सम्पूर्ण सीमाभाव सम्वत्सरचन्द्रानुगत (सौर–चान्द्र–पार्थिव सम्वत्सरानुगत) सृष्टिसर्गों से ही सम्बद्ध है। वस्तुगत्या वहाँ इन मर्त्य दिग्–देशादि भावों का समावेश सर्वथा निषिद्ध है।

विश्वस्वरूपमीमांसा

यह महाविश्व विनिर्मित होगया, इसे किसने धारण कर रक्खा है ?"। प्रश्न उपस्थित हुआ ऋक्-संहिता में भुवनपुत्र अतएव 'भौवन' नाम से प्रसिद्ध महामहर्षि विश्वकर्म्मा * के द्वारा, एवं इस प्रश्न के मार्मिक उत्तर का विश्लेषण हुआ भगवान् तित्तिरि के द्वारा तैत्तिरीय ब्राह्मण में–ब्रह्म वनं, ब्रह्म ... प्रश्न, एवं कैसा आश्चर्य्योत्पादक परोक्ष ही समाधान, ... समन्वयन हीं किया जा

नुगत–मायाबलनिबन्धन असंख्य ही सीमाभाव आविर्भूत होते रहते हैं, एवं एक निश्चित अवधि के अनन्तर-'संयोगा विप्रयोगान्ताः' न्याय से उसी परात्परसमुद्र में इन सीमाभावों का उसी प्रकार तिरोभाव–विलयन भी होता रहता है, जैसे कि अनन्ताधार पर प्रतिष्ठित अनन्त पार्थिव धरातल पर ऋतुकालानुबन्ध से अनन्त असंख्य उत्पन्न होते रहते हैं, एवं कालपरिपाकान्त में उसी अनन्त धरातल मे विलीन भी होते रहते हैं। किंवा जैसे अनन्त समुद्राधार पर तरङ्गें आविर्भूत-तिरोभूत होतीं रहतीं हैं। मायाबलोदय के कारण परात्परब्रह्मधरातल पर उदीयमान मायामय सीमित अनन्त भाव ही उस परात्पर-वनब्रह्म में समाविष्ट 'वृक्षब्रह्म' है, जिसे विज्ञानभाषा में 'पुरुषब्रह्म' कहा गया है। अनन्त परात्परब्रह्मरूप महावन में मायामय (मायाबलसीमित) अनन्तपुरुष रूप अनन्त ही महावृक्ष समाविष्ट हैं, जिन अनन्त वृक्षों को एक विशेष रहस्य के आधार पर 'अश्वत्थवृक्ष' नाम से व्यवहृत किया गया है। विहङ्गमदृष्ट्या इस आनन्त्य के दर्शन कर हम अपना जीवन इस प्रकार धन्य–कृतकृत्य बना सकते हैं।

(४९)—योगमायासमावृत आत्मा—

सर्वबलविशिष्टरसैकघन लक्षण–अतएव अलक्षण स्वयं परात्परब्रह्म आत्यन्तिकरूप से–अत्यनपिनद्ध-रूप से सर्वात्मना अनन्त, अतएव दिग्देशकालानवच्छिन्न, अतएव वाङ्मनसपथातीत–अतएव च अचिन्त्य–अमृतवर्य–अनिर्वचनीय–अविज्ञेय। इस अनन्त परात्पर के अमुकामुक असंख्य–अनन्त–प्रदेश असंख्य–अनन्त मायाबलों के उदय से (बलदृष्ट्या ही, न तु रसदृष्ट्या) सीमित बनते हुए, इन माया-पुरों से सीमित–वेष्टित के कारण 'पुरि–शेते' निर्वचनानुसार 'पुरुष' अभिधा से समलंकृत बनते हुए 'वृक्ष' रूप में परिणत हो गए। कितने वृक्ष ?। नेति होवाचायं भावुकः। असंख्य मायाबलों की गणना करने में कौन मायागर्भित मानव अद्यावधि समर्थ हुआ है ?। यदि मायाबल–असंख्य–अनन्त हैं, तो मायिक वृक्षात्मक पुरुषब्रह्म भी असंख्य–अनन्त ही मानें जायँगे। इन असंख्य–अनन्त पुरुषब्रह्मों में से केवल एक मायानुगत एक पुरुषब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बनाइए, जिसे शास्त्रों ने 'दुर्विज्ञेय' माना है। महामायाबलान्वित इस एक पुरुषब्रह्म की स्वयं की अवयवरूपा असंख्य–अनन्त भावापन्ना योगमाया–परम्परा के आनन्त्य से सम्बन्ध रखने वाली अनन्त विभूति को ज्ञानगम्या बनाने का प्रयास कीजिए, जो पुरुषविभूति–'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**' रूप से अस्मदादि भावुकों के लिए तो अचिन्त्या ही बनी रहती है।

(५०)—हृदयबलाविर्भाव—

महामाया एक वैसा महाबल है, जिसने परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को सीमित बना कर सद्रूप परात्पर को (परात्पर के मायाशबलित तद्प्रदेशमात्र को) 'पुरुष' अभिधा से संयुक्त कर दिया है। महा-मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही महामायावच्छिन्न रसबलात्मक मायिक पुरुषब्रह्म में (तदनुगता

ऋग्वेदश्रुति ने प्रश्न किया, तैत्तिरीयश्रुति ने समाधान किया। जहाँ असंख्य–अनन्त बड़े–छोटे–वृक्ष समाविष्ट रहते हैं, उसे ही वन (अरण्य-जङ्गल) कहा जाता है। आइए ! सर्वप्रथम इस अनन्त-वृक्षसमाकुलित गहन–गभीर–ब्रह्मवन में ही आपका प्रवेश कराया जाय। बतलाया गया है कि, सृष्टि के मौलिक तत्त्व, किंवा मूलकारण **'आभू–अभ्व'** नाम से प्रसिद्ध है, जो क्रमशः–**'रस–बल'** नामों से भी प्रसिद्ध हुए हैं। नित्य–शान्त–व्यापक तत्त्व 'आभू' है, यही **'रससमुद्र'** है। सर्वथा अशान्त व्याप्य तत्त्व 'अभ्व' है, यही **'बलोर्म्मि'** है। जो स्थिति, जो जैसा स्वरूप उच्चावचभावापन्न तरङ्गसमाकुञ्जित एक आपूर्य्यमाण, अतएव अचलप्रतिष्ठ अनन्त समुद्र का है, लोकदृष्ट्या उदाहरण के लिए परिशानमात्रमाध्यम से ठीक वही स्वरूप थोड़े समय के लिए उस रस–बलतत्त्वसमष्टिरूप 'ब्रह्मवन' का समझ लीजिए।

(४८)––मायाबलस्वरूपपरिचय––

रसतत्त्व शान्तसमुद्र से समतुलित है, तो बलतत्त्व अशान्त ऊर्म्मियों (लहरों–तरङ्गो) से समतुलित है। एक 'नित्यशान्त' है, । तो दूसरा 'नित्यअशान्त' है। नित्यअशान्तिगर्भित–नित्यशान्तिस्वरूप सर्व-बलविशिष्ट रसैकघन उस महा अनन्त समुद्र को ही वैज्ञानिकों ने **'परात्परब्रह्म'** नाम से व्यवहृत किया है, जिसे मनु ने मनुःस्वरूपप्रतिपादक वचन में **'शाश्वतब्रह्म'** नाम से, एवं गीता ने–**'शाश्वतधर्म्म'** नाम से लक्ष्य बनाया है। रससमुद्रात्मक इस परात्परब्रह्म के असीम धरातल पर अनन्त–असंख्य--रूप से समाविष्ट खचित-प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील--अतएव सामुद्रतरङ्गसमतुलित बलतत्त्वों में से एक विशेष प्रकार का सर्वबलप्रधान--सर्वबलाधारभूत- बलविशेष ही **'मायाबल'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्त्विक स्वरूप सृष्टिसर्गव्याख्या के नैगमिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करदेने वाले वर्त्तमान दार्शनिकों ने केवल 'मायावाद' कहकर उसके वास्तविक तत्त्वबोध से अपने आप को पराङ्मुख बनाते हुए भारतीय श्रद्धालु प्रजा को महाव्यामोह का अनुगामी बना डाला है।

अनन्तरससमुद्राधारेण प्रतिष्ठित अनन्तबलाधारभूत 'मायाबल' का एकमात्र कार्य्य है अपने अभिव्यक्त-भावापन्न रसप्रदेश को (परात्पर प्रदेश को *) सीमित कर देना, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बना देना, अमित को मितभाव प्रदान कर देना, व्यापक को व्याप्यभावानुगामी बना देना। अपनी सहज 'कोशवृत्ति' के कारण यह सीमाभावप्रवृत्त मायाबल भी असंख्य है। अनन्त--निःसीम--व्यापक--परात्परब्रह्म के निःसीम धरातल पर जलबुद्बुद्वत् आविर्भूत--तिरोभूत--होते रहने वाले इन असंख्य मायाबलों से तत्तत्परात्परप्रदेशा-

* दिक्--देश -काल--भावानुगत ये सम्पूर्ण सीमाभाव सम्वत्सरचन्द्रानुगत (सौर--चान्द्र--पार्थिव सम्वत्सरानुगत) सृष्टिसर्गों से ही सम्बद्ध है। वस्तुगत्या वहाँ इन मर्त्य दिग्--देशादि भावों का समावेश सर्वथा निषिद्ध है।

नुगत–मायाबलनिबन्धन असंख्य ही सीमाभाव आविर्भूत होते रहते हैं, एवं एक निश्चित अवधि के अनन्तर-'संयोगा विप्रयोगान्ताः' न्याय से उसी परात्परसमुद्र में इन सीमाभावों का उसी प्रकार तिरोभाव–विलयन भी होता रहता है, जैसे कि अनन्ताधार पर प्रतिष्ठित अनन्त पार्थिव धरातल पर ऋतुकालानुबन्ध से अनन्त असंख्य उत्पन्न होते रहते हैं, एवं कालपरिपाकान्त में उसी अनन्त धरातल मे विलीन भी होते रहते हैं। किंवा जैसे अनन्त समुद्राधार पर तरङ्गें आविर्भूत-तिरोभूत होतीं रहतीं हैं। मायाबलोदय के कारण परात्परब्रह्मधरातल पर उदीयमान मायामय सीमित अनन्त भाव ही उस परात्पर-वनब्रह्म में समाविष्ट 'वृक्षब्रह्म' है, जिसे विज्ञानभाषा में 'पुरुषब्रह्म' कहा गया है। अनन्त परात्परब्रह्मरूप महावन में मायामय (मायाबलसीमित) अनन्तपुरुष रूप अनन्त ही महावृक्ष समाविष्ट हैं, जिन अनन्त वृक्षों को एक विशेष रहस्य के आधार पर **'अश्वत्थवृक्ष'** नाम से व्यवहृत किया गया है। विहङ्गमदृष्ट्या इस आनन्त्य के दर्शन कर हम अपना जीवन इस प्रकार धन्य–कृतकृत्य बना सकते हैं।

(४९)—योगमायासमावृत आत्मा—

सर्वबलविशिष्टरसैकघन लक्षण–अतएव अलक्षण स्वयं परात्परब्रह्म आत्यन्तिकरूप से–अत्यनपिनद्ध-रूप से सर्वात्मना अनन्त, अतएव दिग्देशकालानवच्छिन्न, अतएव वाङ्मनसपथातीत–अतएव च अचिन्त्य–अमृतवर्य–अनिर्वचनीय–अविज्ञेय। इस अनन्त परात्पर के अमुकामुक असंख्य–अनन्त–प्रदेश असंख्य–अनन्त मायाबलों के उदय से (बलदृष्ट्या ही, न तु रसदृष्ट्या) सीमित बनते हुए, इन माया-पुरों से सीमित–वेष्टित के कारण 'पुरि–शेते' निर्वचनानुसार 'पुरुष' अभिधा से समलंकृत बनते हुए 'वृक्ष' रूप में परिणत हो गए। कितने वृक्ष ?। नेति होवाचार्यं भावुकः। असंख्य मायाबलों की गणना करने में कौन मायागर्भित मानव अद्यावधि समर्थ हुआ है ?। यदि मायाबल–असंख्य–अनन्त हैं, तो मायिक वृक्षात्मक पुरुषब्रह्म भी असंख्य–अनन्त ही मानें जायँगे। इन असंख्य–अनन्त पुरुषब्रह्मों में से केवल एक मायानुगत एक पुरुषब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बनाइए, जिसे शास्त्रों ने 'दुर्विज्ञेय' माना है। महामायाबलान्वित इस एक पुरुषब्रह्म की स्वयं की अवयवरूपा असंख्य–अनन्त भावापन्ना योगमाया–परम्परा के आनन्त्य से सम्बन्ध रखने वाली अनन्त विभूति को ज्ञानगम्या बनाने का प्रयास कीजिए, जो पुरुषविभूति–**'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** रूप से अस्मदादि भावुकों के लिए तो अचिन्त्या ही बनी रहती है।

(५०)—हृदयबलाविर्भाव—

महामाया एक वैसा महाबल है, जिसने परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को सीमित बना कर सद्रूप परात्पर को (परात्पर के मायाशबलित तद्प्रदेशमात्र को) 'पुरुष' अभिधा से संयुक्त कर दिया है। महा-मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही महामायावच्छिन्न रसबलात्मक मायिक पुरुषब्रह्म में (तदनुगता

मायासीमा—मायामण्डल—मायापुर—के गर्भ में) **'हृदि अयं हृदयम्'** के अनुसार एक दूसरे प्रसुप्त **'हृदय-बल'** नामक महाबल का आविर्भाव हो पड़ा। निःसीम—असीम—व्यापक में केन्द्रभाव नहीं हुआ करता, किंवा वह सम्पूर्ण—सर्वस्वरूप से ही केन्द्ररूप ही है। वह अपने कण—कण से केन्द्रमूर्त्ति है, अतएव उस असीम का कोई नियत केन्द्र बिन्दु मानना असङ्गत बन जाता है। अथवा यों कह लीजिए कि निःसीम तत्त्व की प्रतिबिन्दु—बिन्दु ही केन्द्रात्मिका बनी रहती है, जिस ऐसे केवल केन्द्रभाव का संसृष्टिलक्षणा सृष्टि से कोई सम्पर्क नहीं रहता। महामायोदय से तदवच्छिन्न प्रदेश सीमित बना, इस सीमाभाव के उदित होते ही मायावेष्टित रसबलात्मक परात्पर (जिसे अब हम मायापुरसम्बन्ध से परात्पर न कह कर 'पुरुष' ही कहेंगे) स्वरूप सीमित पुर के हृदय में (केन्द्र में) हृदय (हृदयबल—हृच्छक्तिरूप विशेषबल) आविर्भूत हो गया, किंवा सर्वकेन्द्रता का स्थान इस पुरुषात्मक परात्पर में नियमित—एक केन्द्रभाव ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अब पुरुषब्रह्म में **'परिधिकेन्द्र'** इन दो सापेक्ष भावों का आविर्भाव स्वतः संसिद्ध बन गया। परिधिमण्डल बना **'शरीर'** एवं केन्द्र भाव बना **'आत्मा'**। केन्द्रावच्छिन्न रसबलात्मक यह पुरुषात्मा ही 'सुप्रसिद्ध वह 'श्वोवसीयस्' नामक 'अव्ययात्ममन' कहलाया, जिसका यशो-गान आरम्भ से उपस्तुत है। परिधि, तथा केन्द्रभावापन्न मनोमय यही मायिक पुरुष (महामायावच्छिन्न परात्पर) **'अव्ययपुरुष'** कहलाया, जिसकी कोशात्मिका पञ्चकलाओं का अनुपद में ही स्वरूपदिग्दर्शन कराया जाने वाला है।

(५१)—कामना का मूल—

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही तो कामना, किंवा इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ करता है। महावनात्मक परात्परब्रह्म अनन्त है, व्यापक है। उसके लिए उसकी अनन्तता के कारण, व्यापकता के कारण कुछ भी तो अप्राप्त नहीं है, अतएव उसे 'अप्राप्तवस्तुसंग्रहानुगता कामना'लक्षणा कामना से सर्वथा असंस्पृष्ट ही घोषित किया जायगा। वह अपने अहृदय, किंवा सर्वहृदयभाव से मनोभाव से पृथक् है, अतएव मनोऽनुगत कामभाव से पराःपरावत। इधर मायोपाधिक, अतएव नियमित (एक) हृदयभावा-नुगत, अतएव मनोमय बने हुए पुरुषब्रह्म में आज अपनी उस सहज अनन्तता का व्याघात उपस्थित हो पड़ा है, उस सहज स्वानुगत (रसानुगत) भूमाभाव से यह पुरुष मायापुर के सीमाबन्धन के कारण पराङ्मुख-सा प्रमाणित हो चला है जो अनन्तता इसका स्वरूपधर्म्म है। अपने इसी सहज अनन्त व्यापक बहुत्वानुगत भूमालक्षण भूमाभाव में पुनः परिणत होने की कामना का आविर्भाव इसका सहज धर्म्म बन जाता है। यही नैसर्गिकी पुरुष कामना 'आत्मकामना' कहलाई है, जिसका श्रुति ने अपनी भाषा में—**'एकोऽहं, बहु स्याम्'** इत्यादि शब्दों में अभिनय किया है। यही इस पुरुष का मनोमय वह कामात्मक—प्रथम 'रेत' (परिणाम—सृष्टिबीज) है, जिसकी 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि **'मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** रूप से पूर्व में आटोपपूर्वक उपबृंहण हुआ है, जिसे आधार मान कर हमें यहाँ कुछ थोड़ा और भी कुछ समझ लेना है।

(५२)—दुरधिगम्या प्रश्नावली—

आस्तिकों में ऐसा प्रवाद सुना गया है कि, सृष्टि का मूल क्या है ?, प्रश्न ही दुरधिगम्य है। यह सब तो भगवान् की माया है। इसे कौन जान सकता है, इत्यादि। अपनी भावुकतापूर्णा आस्तिकता के अनुबन्ध से हम भी भगवान् की इस माया के भरोसे ही इस उत्तरदायित्व को छोड़ते हुए थोड़ी देर के लिए–'**योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग, वेद यदि वा न वेद**, इस अन्त्यघोषणा पर विश्राम कर लेते हैं। साथ ही वर्त्तमान दृष्टिकोण की मान्यता का समादर करते हुए हम भी नितान्त भावुकतापूर्ण–**लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्**' (व्याससूत्र) रूप से ऊर्ध्वओष्ठ बन कर उच्चस्वर से इसी घोषणा के गतानुगतिक बन जाते हैं कि–"ना, बाबा ना। यह तो सब भगवान् की लीला है। इसे कौन जान सका है"। अथवा तो हम भी आदिदेवोपासक भक्तराज पुष्पदन्त की उसी श्रद्धापूर्णा घोषणा के अनुगामी बन जाते हैं, जिसका आविर्भाव हो पड़ा है सम्भवतः श्रुति के–'**किं स्विद्वनं' क उ स वृक्ष आस०'–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्–कथासीत्०'** इत्यादि वचनों के आधार पर इस रूप से कि—'**किमीहः किंकायः–स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्। कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः'**। इत्यादि इत्यादि सभी घोषणाओं को हम श्रद्धापूर्वक मान्यता प्रदान कर रहे हैं उस औपासनिक दृष्टिकोण के माध्यम से, जहाँ सचमुच भगवान् की लीला ही अनन्य अशरण-शरण है। एवं मनोऽनुगता भावुकता, भावुकतानुगता मानस अनुभूति ही जहाँ सब कुछ संसाधन कर लेने में तुष्टि का अनुभव कर लेती है, भले ही यहाँ 'वेदन'लक्षणा तृप्ति का प्रवेश, वास्तविक सत्तासिद्ध बुद्ध्यनुगत पूर्णता का प्रवेश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध ही क्यों न हो।

लक्ष्य है प्रक्रान्तस्थल में वह विज्ञानकाण्ड, जहाँ केवल श्रद्धा–भक्ति–उपासना–लीला घोषणा–आदि शब्दमात्र सहायक नहीं हो सकते। अवश्य ही इस नित्यकाण्डानुबन्ध से हमें निश्चयेन कारणतावाद के समन्वय का अन्वेषण करना ही पड़ेगा। और उस दशा में–'ये सब कुतर्क हैं, अनतिप्रश्न हैं,' इत्यादि भावावेशपूर्वक हम इन प्रश्नों के साथ कदापि गजनिमीलिका न कर सकेंगे, नहीं करनी चाहिए, नहीं की है विज्ञानपाथोदतलावगाहननिष्णात परमवैज्ञानिक महामहर्षियों ने।

(५३)—लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्—

इसीलिए तो पुनः हमें यह कहना पड़ रहा है कि, केवल 'लीला' कह कर इस लीला का योंहीं संवरण नहीं कर लेना है। अपितु स्वयं को इस भगवल्लीलाक्षेत्र में महर्षियों की विज्ञानदृष्टि की उपासना के माध्यम से प्रविष्ट कराना है। तदनुग्रहेण कारणान्वेषण में प्रवृत्त होना है। यदि यह लीला कोरी लीला ही होती, तो कभी–'**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०'–सोऽकामयत'–'तदैच्छत्'–'एकोऽहं बहुस्याम्'**–इत्यादि कारणतामूला घोषणाएँ अभिव्यक्त ही न होतीं। हुई हैं, विस्तार से हुई हैं। अतएव कारणतावाद उपेक्षणीय नहीं है। जिसे अपने भावावेश में आकर उपेक्षित करते हुए दुर्भाग्यवश हमने स्वयं को सब ओर से उपेक्षित-तिरस्कृत–दीन–हीन–दासानुदास प्रमाणित कर लिया है। पुनः हमें कहना ही पड़ेगा

कि, अभी बात कुछ और भी समझना शेष रह गया है। यदि कारणतावाद की ऐसी प्रबल–उच्च घोषणा है–तो फिर– '**सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद०**' का समन्वय कैसे और किस आधार पर ?। यही वह 'शेष' है, जिसे 'शेषप्रश्न' ही बना रहने दिया जाता, तो श्रेयःपन्था था। किन्तु जब आग्रह है तो इसका समन्वय भी प्रासङ्गिक बन ही जाता है।

(५४)–महाप्रश्नजिज्ञासा—

सभी कारणपरम्पराओं का सहजरूप से समन्वय सम्भव बनाया जा सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में समुपस्थित इस एक महाकारण का समन्वय सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म जबकि असीम है, अतएव सर्वप्राप्त–सर्वाप्त, अतएव च निष्काम है, तो उसमें सर्वप्रथम सुप्त मायाबल को किसने उदित किया ?। "मायाबलोदय हो गया, इससे असीमप्रदेश सीमितप्रदेश बन गया। इस सीमाभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो गया। तदवच्छिन्न रसबलात्मक पुरुष मनोमय बनता हुआ कामना का भी सर्जक बन गया। एवं मनोरेतोभूत कामरूप शुक्र से संसार का निर्म्माण भी हो गया"–यहाँ तक तो फिर भी कारणतावाद यथाकथञ्चित् बुद्धिगम्य बनाया जा सकता है, बन सकता है। किन्तु बिना कामना के कोई भी व्यापार सम्भव नहीं, बिना मन के कामना सम्भव नहीं, बिना हृदय के हृत्प्रतिष्ठ मन की सम्भावना नहीं। बिना सीमाभाव के हृदय का आविर्भाव सम्भव नहीं। बिना मायाबलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय सम्भव नहीं। एवं इच्छा किंवा कामना के प्रेरणारूपा क्रिया सम्भव नही, क्योंकि–'**अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित, यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्**' इत्यादि क्रियासिद्धान्त से सभी सुपरिचित हैं। कामना हो, तब प्रेरणा हो। प्रेरणा हो तब मायोदय हो। तदनन्तर सीमा हृदय–मन का प्रादुर्भाव हो। तदनन्तर कामना का उदय सम्भव बने। ऐसी स्थिति में प्राथमिक मायोदय की कारणता का समन्वय कैसे सम्भव बनाया जाय, जबकि–तत्सम्बन्धी सभी कारणतावाद '**अन्योऽन्याश्रयाणि कार्य्याणि न प्रकल्पन्ते**' न्यायानुसार असम्भव ही सम्भावित बन रहे हैं। इस महा अभ्वात्मक महाकारण का इससे अतिरिक्त और कोई समाधान सम्भव बन ही नहीं सकता कि,–"ऐसे कारण की जिज्ञासा करना सर्वथा निष्कारण है, निर्म्मूल है, कुतर्क है। मानव तो क्या, स्वयं उस कारणाधिष्ठान जगदीश्वर को भी इस मूलकारणता का रहस्य विदित है, अथवा नहीं ?, सन्देह है। सम्भवतः मूलकारण की इसी असंभवता के आधार पर ही ऋषि ने कहा होगा कि–'**योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद**'। फिर पुष्पदन्त ने जो इस सम्बन्ध में–'**कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः**' घोषणा की, उसे केवल उपासनाकाण्ड की घोषणा कहने-मात्र से विज्ञानवादी इस भावुक ने ही कौनसा पुरुषार्थ-साधन कर लिया ?। कर सकेगा भावुक इस प्रश्न का समाधान ?।

नहीं। सर्वथा नहीं ! इसलिए 'नहीं, नहीं' कि, इस प्रश्न का हमारी भावुकता के कोश में समाधान नहीं है। अपितु इसलिए 'नहीं' कि, इस प्रश्न की कारणता का प्रश्न ही नहीं बन रहा।

समाधान होता है प्रश्न का। प्रश्न होता है कल्पित कारणतावादपरम्परा में। जो स्वत एव अपने सहज-भाव से अपनी मूलकारणता के विश्लेषण के साथ-साथ सर्वथा सहजभाव से ही मायाबलोदय की कारण-भूता प्रेरणा के कारण का भी स्वरूप-विश्लेषण कर रहा है, वहाँ अपनी ओर से कारणता के कृत्रिम प्रश्न का उत्थान करना, और पुनः उसके समन्वय के लिए व्यग्र बन कर इतस्ततः कारणपरम्परा के अन्वेषण के लिए आकुल–व्याकुल सा बन जाना, एवं इसमें अन्ततोगत्वा असमर्थ बन कर स्वयं ही उस सर्वथा–ज्ञात–नित्यसिद्ध सहज कारणता को अज्ञात कह कर उसे अचिन्त्य अप्रतर्क्य अतर्क्य मानने-मनवाने की शून्य-घोषणा कर बैठना अवश्य ही हमारी दृष्टि में वैसा कारण है, जिसे हम अवश्य ही अचिन्त्य कह सकते हैं। इसी-लिए उपासनाकाण्डानुगता पुष्पदन्तादि की घोषणा हमारी दृष्टि में तो सर्वथा चिन्त्य (मीमांस्य–उपेक्षणीय) ही मानी जायगी। अब प्रश्न रह जाता है–'**सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद**' इस घोषणा का, जिसकी उपेक्षा करना असम्भव है। अतः तत्सम्बन्ध में ही अपनी भावुकता अभिव्यक्त कर देना अनिवार्य्यरूप से शेष बना रह जाता है।

(५५)–सामयिक समाधानोपक्रम––

उक्त शेष प्रश्न का समाधान यद्यपि पूर्व के (१४३ पृ०, तथा १५२ पृ० के) परिच्छेदों में किया जा चुका है। तथापि यहाँ भी एक विशेष दृष्टिकोण से उसी समाधान का सिंहावलोकन कर लिया जाता है। जो नैष्ठिक विद्वान्–निगमशास्त्र के–'**ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्**'–'**एतावानस्य महिमा–अतो ज्यायांश्च पूरुषः**'–'**अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः**'–'**महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे**' इत्यादि महिमा सिद्धान्तों के अन्तस्तल का स्पर्श कर चुके हैं, वे ब्रह्म की विश्वसर्गमूलानुगता 'महिमा' के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के आधार पर सभी कारणपरम्पराओं का सर्वात्मना सुसमन्वय करने में समर्थ हैं। इसी महिमासिद्धान्त के आधार पर वेदान्तनिष्ठा का '**अविकृतपरिणामवादात्मक वह विवर्त्त भाव**' आविर्भूत हुआ है, जो महिमानुगता नैगमिक सृष्टिसर्गव्याख्या से पराङ्मुख बनता हुआ यद्यपि सर्वात्मना मूलकारणतावाद का सहजसमन्वय करने में प्रायः असमर्थ ही रहा है। अतएव भावुक भक्तसमाज की भाँति यद्यपि उसने भी दुर्भाग्य से गतानुगतिकता का आश्रय लेते हुए सर्वथा भावुकतापूर्ण आवेश में–'**लोक-वत्तु लीलाकैवल्यम्**' यह लीलाघोषणा करते हुए ही कारणतावाद की सहजरहस्यार्थनिष्पत्ति का लीलासवरण ही कर दिया है। तथापि भक्तिकाण्ड की भगवल्लीला की अपेक्षा वेदान्तनिष्ठा की लोक-वत्तु लीला महिमभाव के स्खलितरूप विवर्त्तवाद, किंवा अविकृतपरिणामवाद के कारण महिमभाव से अंशतः समतुलित रहती हुई समाधानाभास, किंवा सामान्य समाधान बनती हुई भावुक आस्तिक–दर्शनभक्त भावुक की तुष्टि का कारण प्रमाणित हो सकती है, जैसा कि उत्तरखण्ड की दार्शनिक मानव-मीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। वहीं हम इस सहज कारणतावाद की मीमांसा विस्तार से करने वाले हैं। अतएव यहाँ सन्दर्भसङ्गति की अपेक्षा से केवल इसी सामयिक समाधान पर हमें विश्रान्त हो जाना पड़ेगा कि––

(५६)-ब्रह्म की सहज महिमा

नित्य शान्त रससमुद्र में तरङ्गरूप से प्रतिष्ठित नित्य अशान्त क्षणिक बलतत्त्वकी सहज महिमा है— सदा सहज रूप से 'अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त–पुनः–व्यक्त–पुनः–अव्यक्त' इस शाश्वत धाराक्रम में प्रवाहित बने रहना, जिस के लिए न किसी सीमाभाव की अपेक्षा है, न हृदयबल अपेक्षित है, नापि मनस्तन्त्र अपेक्षित है, नापि वा कामना अपेक्षिता है। सभी कुछ अपेक्षित है, जो कुछ सर्गात्मक व्यक्तरूप के लिए अपेक्षित होना चाहिए। कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कुछ लयात्मक अव्यक्तरूप के लिए अपेक्षित नहीं होता। दूसरे शब्दों में कुछ भी अपेक्षित नहीं है सहज व्यक्त रूप के लिए, एवं सब कुछ अपेक्षित है सहजरूप से व्यक्त होने के लिए। अव्यक्त को व्यक्तरूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं व्यक्त को अव्यक्तरूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि, व्यक्त के अव्यक्त रूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं अव्यक्त के व्यक्त रूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं। अथवा तो यह भी कहा जा सकता है कि–अव्यक्त व्यक्तरूप में परिणत होता है कारणसमुदाय को मूल बना कर, एवं व्यक्त के अव्यक्तरूप में परिणत होता है सभी कारणों को मूल बना कर। इसी विलक्षणता के कारण ही तो यह तत्त्व दुरधिगम्य बना हुआ है। इसी दुरधिगम्य दृष्टिकोण के कारण ही तो वेदान्तनिष्ठा का विवर्त्तवाद आज भावुक मानव की कृत्रिम–स्खलितप्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या प्रमाणित हो रहा है।

(५७)—भ्रान्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

स्थिति वास्तव में यह है कि, शत-शत शताब्दियों के प्रज्ञास्खलनाभ्यास के निग्रहानुग्रह से नितान्त भावुक बना हुआ मानव सहजभाव को सर्वात्मना विस्मृत कर उस कृत्रिमता पर आरूढ़ बन गया है, जिसका मूलाधार बन जातीं हैं–'क्यों–कैसे–कहाँ–कब–किन्तु–परन्तु–यद्यपि–तथापि–' आदि भावुकतापूर्ण प्ररोचनाएँ। इसी भावुकता के आधार पर उस भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक दृष्टिकोण का आविर्भाव हो पड़ा है, जिसमें तत्त्ववादचर्चा तो है सर्वात्मना असंस्पृष्ट, एवं निरर्थक एवंविध चर्चाओं का है आटोपपूर्वक समावेश कि, "अमुक कब उत्पन्न हुआ ?, अमुक के समय में सामाजिक–पारिवारिक–नैतिक–अवस्था कैसी थी ?, उस युग में लिपि का प्रचलन था, अथवा नहीं ?, वेशभूषा कैसी थी ?, भाषा का क्या स्वरूप था ?, आवास–निवास–अशन–पान–गमन–आगमनादि कथंभूत थे ?, इत्यादि। मानव के सहज जीवन में क्या अतिशय उत्पन्न हो सकता है इत्यादि बाह्यप्रसङ्गों से ?, कौनसी तत्त्वचर्चा गतार्थ बन जाती है आत्मबुद्धि–निष्ठावञ्चिता केवल मनःशरीरभावप्रधाना इस भावुकता से–भावुकतापूर्णा बाह्यचर्चा से ?, प्रश्न का समाधान तो उन इतिहासान्वेषकों से ही कराना चाहिए। जिस प्रकार मानवेतिहास के सम्बन्ध में निरर्थक दृष्टिकोणपरम्पराओं का समावेश हो रहा है, एवमेव सृष्टीतिवृत्त में भी यही दृष्टिकोण समाविष्ट है। ब्रह्म के महिमालक्षण विवर्त्तवाद के स्वरूपबोध से असंस्पृष्ट ये ऐतिहासिक अपनी दिग्–देश–कालानुगता भूतदृष्टि के माध्यम से सहजसिद्ध सृष्टि–सर्ग के सम्बन्ध में भी 'सृष्टि का

आरम्भ कब हुआ ?, किसने किया ?, कब तक रहेगी ?, इत्यादि रूप से कृत्रिम प्रश्नपरम्पराओं के आधार पर इनके कार्य्यकारणात्मक कृत्रिम समाधानों को ही अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ घोषित करते रहते हैं।

(५८)—कृत्रिम कार्य्यकारणवाद—

कृत्रिम-कार्य्यकारणवाद केवल प्रत्यक्षदृष्टि का ही उद्बोधक बना करता है। शाश्वत विश्वसर्ग के सम्बन्ध में तो स्वाभाविक वह सहज कार्य्यकारण ही आधार बना रहता है, जिसके ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप-शक्तिभाव सहजरूप से बिना क्यों ? कैसे ? के सुसमन्वित हैं। सहजकार्य्यकारणभावों से अनुप्राणित सहजसृष्टि के मूलस्वरूप की उपासना–अनुशीलन ही भारतीय आर्षमहर्षियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य रहा है। इस मूलतत्त्वान्वेषण–अनुशीलन से ही सभी कार्य्यकारणरहस्य सहजरूप से सर्गस्वरूपानुपात से सुसमन्वित होते रहते हैं। कृत्रिम कार्य्यकारणवाद उस स्वाभाविक सहजकार्य्यकारणवाद के समतुलन में कोई महत्त्व नहीं रखता, इसी दृष्टिकोण का अपनी सहजभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ने कहा है—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च॥

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, सृष्टि के सम्बन्ध में यहाँ कार्य्यकारणभाव की मीमांसा हुई ही नहीं है। हुई है, विस्तार से हुई है, महता समारम्भेण हुई है। इसी आधार पर कालगणनात्मिका वह युग-धर्मव्यवस्था व्यवस्थित हुई है, जिसके नैगमिक–आगमिक (पौराणिक) मौलिक–रहस्यज्ञान से परिचित न होने के कारण कितने एक भारतीय विद्वानों को भी व्यामोह हो गया है, जिसके फलस्वरूप उस अनन्त-कालगणना के सम्बन्ध में उनके मुख से भी ये श्रद्धा–आस्थाशून्य भावुकतापूर्ण उद्गार विनिःसृत हो पड़े हैं कि–**'एतत् सर्वं पुराणाश्रितं बोध्यम्"**(भास्कराचार्य्य)। मानों इनकी दृष्टि में पौराणिक कालगणना केवल आलङ्कारिक वर्णन ही हो, जैसाकि पारिभाषिक ज्ञान से वञ्चित अन्य अभारतीय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की शून्यकल्पनाओं के द्वारा अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाते रहते हैं।

(५९)–सृष्टिसर्गमीमांसा—

युगानुगता कालगणना का सृष्टि के साथ सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु उस सृष्टि के साथ, जिसका सौरसम्वत्सरचक्रात्मक 'पुराणाकाश' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पुराणाकाश के सम्बन्ध से ही 'पुराण' नाम से प्रसिद्ध यह आर्य्यसर्वस्वशास्त्र सौरसर्ग, तद्गर्भीभूत पार्थिवसर्ग, एवं तद्गर्भीभूत चान्द्र-सर्ग, इन त्रिविध **देवमानवसर्ग–भौतिक अचेतनसर्ग–चतुर्दशविध चान्द्र चेतनसर्ग**, इन तीन सर्गों को ही मुख्यरूप से अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है। देव, और मानव, दोनों का कालापेक्षया सौरसम्वत्सर-चक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम **'मनःसर्ग–आत्मसर्ग'**–भी कह सकते हैं कि जिसका–**"पितृभ्यो देवमानवाः"** (मनुस्मृति ३।२०१) से संग्रह हुआ है, जो कि वेदान्तदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है।

धातूपधातु–आदिलक्षण पार्थिवसर्ग जड़सर्ग (अचेतनसर्ग) कहलाया है, जो वैशेषिक दर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है । ब्रह्मादिस्तम्बान्त–चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग चेतनसर्ग कहलाया है, जो सांख्यदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग का चान्द्रसम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम **'चेतनसर्ग'** कह सकते है, **'प्राणसर्ग'** कह सकते हैं, जिसके सत्त्व–रजः–तमोविशाल तीन अवान्तर वर्ग माने गए हैं, एवं जो सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है । पाषाण-लोष्ठ–धातूपधातु आदि सर्ग का पार्थिव सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे **'अचेतनसर्ग'–'भूतसर्ग'** आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, एवं जो वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है । इस प्रकार कालचक्रानुगत यह त्रिविध सर्ग ही आगमशास्त्र के सृष्टिसर्ग का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है *।

अयमत्र संग्रहः—

(६)–सम्वत्सरचक्रानुगतसर्गत्रयीस्वरूपपरिचयपरिलेखः—

पुराणसर्गत्रयी—
(१)–सौरसम्वत्सरचक्रानुगतः—देवमानवसर्गः——आत्मानुगतो मनःसर्गः वेदान्तप्रतिपाद्यः)
(२)–चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगतः–चतुर्दशविधभूतसर्गः–प्राणसर्गः–चेतनसर्गः (सांख्यप्रतिपाद्यः)
(३)–पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगतः-जड़सर्गः — वाक्सर्गः–अचेतनसर्गः (वैशेषिकप्रतिपाद्यः)

(६०)—दिग्देशकालमीमांसा—

उक्त तीनों सर्गों के साथ ही यद्यपि कार्यकारणमीमांसात्मक दिग्देशकालभावों का अपेक्षाभेद से सम्बन्ध स्वीकार किया है पुराणशास्त्र ने । तथापि सूक्ष्मविवेचना के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणमीमांसा का प्रधान सम्बन्ध पार्थिवसम्वत्सरचक्रात्मक उस जड़सर्ग के साथ ही है, जिसमें प्रत्यक्ष में दिग्–देश–कालानुबन्धी–स्थूलभावापन्न–"जायते-**अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–नश्यति**" इन षड्भावविकारों का सम्बन्ध अन्वर्थ बना करता है । चेतनसर्गात्मक सांख्याभिमत प्राणसर्ग सूक्ष्मसर्ग है । अतः भूतदृष्ट्या स्थूल भी प्राणदृष्ट्या सूक्ष्म ही इस चेतनसर्ग की मीमांसा दिग्–देश–कालानुबन्ध से यथावत् समन्वित नहीं की जा सकती, जैसाकि सांख्यदर्शन के एतत्सर्गानुगत दिग्–देश–कालासंस्पृष्टत्व से प्रमाणित है । तीसरे देवमानवात्मक आत्मसर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना हीं नहीं है । यहाँ आते-आते तो दिग्–देश–कालानुगता कार्य्यकारण-

* देखिए, श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का चान्द्रसर्गप्रकरण–पृ० सं० २०८ से पृष्ठ २२४ पर्य्यन्त ।

मीमांसा एवं तदनुगता इतिहासमीमांसा सर्वात्मनैव अभिभूत हो जाती है, जो कि वेदान्तनिष्ठा का सुप्रसिद्ध दिग्-देशकालानवच्छिन्न अविकृतपरिणामवादात्मक विवर्त्तवाद माना गया है। तदित्थं–कार्य्यकारणात्मिका हेतुवादसम्मता ऐतिहासिकदृष्टिकोण--निबन्धना मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य शेष रह जाता है, त्रिविध-सर्गों में से सर्वान्त का केवल पार्थिव सर्ग–लोष्ठ–पाषाणादि भूतसर्ग। इनका इतिहास अवश्य ही क्यों, ?, कैसे ?, कब ?, कहाँ ?, कबतक ?, इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्नपरम्पराओं का विषय बन सकता है, बनना चाहिए, इसीलिए बना भी है। किन्तु········· ?।

(६१)––सम्वत्सरचक्र की असमर्थता—

स्पष्ट हो जाना चाहिए इसी त्रिविधसर्ग के आधार पर ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का वास्तविक मर्म्म। किन्तु जो इस दृष्टिकोण से एकान्ततः अपरिचित हैं, वे कदापि इस तथ्य को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकते अपनी भूतविज्ञानानुगता जड़दृष्टि के निग्रहानुग्रह से। जब कि सम्वत्सर-कालानुगत त्रिविध आगमीय पौराणिक सर्ग में भी केवल अन्त के पार्थिव जड़ अचेतन भूतसर्ग के साथ ही दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणजिज्ञासा का सम्बन्ध है, तो उस लोकातीत सुसूक्ष्मतम अव्ययसर्ग के सम्बन्ध में कालानुगता कार्य्यकारणता की जिज्ञासा करना, एवं तत्समाधान की आशा-प्रतीक्षा करना, सो भी मनोऽनुगता अनुभूतिलक्षणा सर्वथा स्थूलतमा प्रत्यक्षभावापन्ना भूतदृष्टि के माध्यम से। इससे अधिक मानव की स्वप्रतारणा और क्या होगी ?।

[६२]–सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति––

तीनों साम्वत्सरिक सर्गों का मूलाधार माना गया है भृग्वङ्गिरोमय वह आपोमय पारमेष्ठ्यसर्ग,–जिसके 'सरस्वान्' नामक महासमुद्र में पुराणशास्त्र ने पार्थिव–चान्द्र–सौर–सम्वत्सराधिष्ठाता त्रैलोक्यभाग्यविधाता महामहिम सहस्रांशु सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता मानी है, जो कि स्वरूपसत्ता अनन्त समुद्र में बिन्द्वात्मक एक बुद्बुद की मानी गई है। अतएव आगम (पुराण) ने एक स्थान पर सूर्य्य को **'बुद्बुद'** (बुलबुला) नाम से भी व्यवहृत किया है। इसी आधार पर निगम ने–**'द्रप्सश्चस्कन्द'** (ऋक्संहिता १०।१७।११)–**'अपां गम्भन्त्सीद'** (शत० ७।५।२।८।) इत्यादि रूप से सूर्य्य को आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का **'द्रप्स'** * माना है। सौरब्रह्माण्ड को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला परमेष्ठी ही 'पितृसर्ग' का मूला-धिष्ठान माना गया है जिसके सम्बन्ध में आगमशास्त्र तो तटस्थ है, किन्तु निगम ने विस्तार से इसके

---

* स्तोक–पृषत्–द्रप्स–आदि भेद से जलबिन्दु की अनेक अवस्थाएँ मानीं गई हैं। बड़ी स्थूलबिन्दु को ही **'द्रप्स'** कहा गया है, जिसके लिए प्रान्तीय भाषा में–**'टपका'** शब्द प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध में सङ्गीतरसिक **'बरस निसंक घन बड़ी-बड़ी बूँदनतें, ऐसो गहराव, जैसो पुर गहरावतो, अब तोसों डरूँ नाय, तोरे पांव परूँ नांय, वे तो दिन व्यतीत भये, जामें तू डरावतो'** इत्यादि रूप से उपवर्णन किया करते हैं।

कार्यकारणभाव की मीमांसा की है। जिसके आधार पर सुप्रसिद्ध **'पिण्डपितृयज्ञ'** प्रतिष्ठित है। जो **देवयज्ञात्मक** सौरमण्डल की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है, एवं जिस आधार पर–**'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते'** सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। आपोमय पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र आहुति इस सौर सावित्राग्नि में होती रहती है। इसी आधार पर–**'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्'** (शत० २।३।१।१।) इत्यादिरूप से सूर्य्य को अग्निहोत्र माना गया है। सौरसावित्राग्नि अपने स्वरूप से घोरकृष्ण (काला) है, इसी लिए तत्प्रवर्ग्यभूत पार्थिव भूताग्नि को मृग्यमाणत्वेन **'मृगाग्नि'** कहा गया है, जिसका नैदानिक प्रतीक माना गया है–**'कृष्णमृग'** (काला हरिण द्रुतगामी) ÷, जिसे इसी याज्ञिकभाव-सम्बन्ध से हविर्यज्ञ में हविःपेषण का आधार बनाया जाता है। सौरमण्डल में जो प्रकाश–ज्योति–**आतप** है, वह सौर कृष्णसावित्राग्नि में + निरन्तर आहुत होने वाले दाह्य पारमेष्ठ्य सोमाहुति का ही प्रभाव है। इसी प्रज्वलित सोम का नाम सौर प्रकाश है *। जबतक सौर दाहक अन्नादाग्नि में उस पारमेष्ठ्य दाह्य अन्नसोम की आहुति प्रक्रान्त है, तभी तक सृष्टिस्वरूपसंरक्षण है। जिस दिन यह यज्ञक्रम विच्छिन्न हो जाता है, सूर्य्य अपने प्रचण्डाग्नि से अपने सौर–चान्द्र–पार्थिव त्रैलोक्य को भस्मसात् करता हुआ अन्ततः स्वयमपि अपने प्रभव पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता है, और यही सूर्य्याविर्भाव–तिरोभावात्मिका कालयुगानुगता कालसीमा कालगणना-मन्वन्तरस्वरूपा पौराणिकी सृष्टि–प्रतिसृष्टि (सर्ग–प्रतिसर्ग–सर्ग–लय) का मूलाधार माना गया है। यही रहस्यात्मक पुराणशास्त्र का सर्वस्व तात्त्विक स्वरूपपरिचय+ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है इस पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति के सम्बन्ध में कि, सम्वत्सरचक्रत्रयी से अनुप्राणिता पूर्वसंग्रहात्मिका सर्गत्रयी इसी परमेष्ठी के अर्वाक्–धरातल में चङ्क्रमण कर रही है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

÷ **'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत'** ॥

\+ **आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।**
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
—ऋकसंहिता १।३।५।२।

* **त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।**
त्वमा ततन्थोर्वान्तर्रिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥
—ऋक्संहिता १।६१।२२।

\+ **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मनवन्वन्तरस्तथा ।**
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

यस्मादर्वाक् सम्वत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

—शतपथब्राह्मण १४।७।२।२०।

(६३)–प्राणसृष्टि की सर्वात्मकता—

पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति का मूलाधिष्ठानरूप 'ब्रह्मा' नामक स्वयम्भू प्रजापति उस–'ऋषि-सृष्टि' का आधार माना गया है, जिसे 'प्राणसृष्टि' भी कहा गया है। जो स्थान पारमेष्ठ्य समुद्र में समहिम सौरब्रह्माण्ड का है, वही स्थान परमाकाशलक्षण 'नभस्वान्' नामक स्वायम्भुवमण्डल में समहिम पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्य को स्वगर्भ में बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित रखने वाले आपोमय पारमेष्ठ्यमण्डल का है। इसी से स्वयम्भू की महिमा के आनन्त्य का अनुमान लगाया जा सकता है ÷। इस स्वायम्भुव ऋषिसर्ग की कार्य्यकारणमीमांसा भी निगमशास्त्र में–'असद्' रूप से विस्तार के साथ हुई है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो रहा है—

असद्वाऽइदमग्र आसीत। तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?–ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः–के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद् ऋषयः।

—शतपथब्राह्मण ।१।१।१।

अयमत्र सर्वसंग्रहः—पञ्चसर्गानुगतः—

(७)–ऋषि–पितृ–देव–सत्त्व–भूतानुगतपञ्चविधसर्गपरिलेखः

(१)–ऋषिसर्गः	(स्वायम्भुवः)–प्राणमयः–सर्वाधारसर्गः	(जनज्जनकानुगतः) *	–निगमसर्गत्रयी	
(२)–पितृसर्गः	(पारमेष्ठ्यः)-आपोमयः-आत्माधारसर्गः	(सम्वत्सरजनकानुगतः)		
(३)–देवमानवसर्गः(सौरः)—वाङ्मयः-आत्मसर्गः		(सौरसम्वत्सरानुगतः) *		
(४)-सत्त्वसर्गः	(चान्द्रः) –अन्नमयः–चेतनसर्गः	(चान्द्रसम्वत्सरानुगतः) *		–आगमसर्गत्रयी
(५)–भूतसर्गः	(पार्थिवः) –अन्नादमयः-अचेतनसर्गः	(पार्थिवसम्वत्सरानुगतः) *		

÷ ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तत् स्वाराज्यं पर्य्येत्। (शत० १३।७।१।१, ।

(६५) — मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा—

कार्य्यकारणानुगत पाँचों सर्गों की समष्टि है एक पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा (*पञ्चपर्वयुक्त–अश्वत्थ की एक शाखा–टहनी)। ऐसी सहस्र शाखाएँ जिस महामायी त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययेश्वरप्रजापति में प्रतिष्ठित हों, उसके दुर्विज्ञेय आनन्त्य को लक्ष्य बनाइए, जिसकी कारणता का भी निगमशास्त्र ने–'कामस्तदग्रे०' इत्यादि रूप से साटोप निरूपण किया है। सहस्रवल्शात्मक ऐसे महामायी अव्ययेश्वर जिस मायातीत–निश्वातीत–सर्वातीत–सर्वधर्म्मोपपन्न–शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति–सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म के अमुक स्वल्प–स्वल्पतर–स्वल्पतम प्रदेश में बिन्दुवत् समाविष्ट हैं, उसके आनन्त्य का भी अपने मानस-क्षेत्र में ही संस्मरण कीजिए। इस सम्पूर्ण अनन्त प्रक्रिया को लक्ष्य बनाने के अनन्तर अपने मन से ही यह प्रश्न करने का अनुग्रह कीजिए कि, उस अनन्तानन्त-सर्वरूप-सर्वातीत–परात्पर के बल को–मायाबल को-उदित होने के लिए किसने प्रेरित किया ?। यही वह अचिन्त्य–अविज्ञेय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य–शब्द द्वारा अनिर्वचनीय कार्य्यकारणवाद है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को–**'क इत्था वेद यत्र सः ?'–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'–'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु०'–'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो'** इत्यादि सहज सिद्धान्तों का समाश्रय ग्रहण करना पड़ा है, एवं जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न के सहज उत्तरात्मक–**'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस'** इस यथार्थ समाधान की आज का विमूढ़तम मानवाभास आलोचना करता हुआ अपनी विमूढ़ता को सर्वतोभावेन चरितार्थ कर रहा है। इसीलिए पुनः हमको उसी इस वाक्य की पुनरावृत्ति करनी पड़ रही है कि, अभी इस सम्बन्ध में पुनः कुछ समझना शेष है, जिस शेषप्रश्न का समाधान प्राप्त हो रहा है हमें उस जगन्माता जगदम्बा हैमवती उमा भगवती के निःसीम अनुग्रह से, जिसके वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह से हमारे जैसा सर्वज्ञानवञ्चित नितान्त भावुक लौकिक यथाजात जन भी इस मीमांसा के समसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त होने का दुःसाहस कर रहा है।

'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वैतालः' न्याय से हम पुनः अपने सहज स्वभाव के कारण ब्रह्मानुगता उसी वैतालवृत्ति का अनुगमन कर ही तो बैठे। वही अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–शब्दों का आश्रयग्रहण, वही अज्ञात-स्वरूप 'ब्रह्म' शब्द की उच्च घोषणा। क्या वास्तव में इस परोचनापथ के अतिरिक्त उस मूलतत्त्व के सम्बन्ध में कोई कार्य्यकारणमीमांसा है ही नहीं ?। निवेदन किया तो जा चुका इस सम्बन्ध में अपनी स्वल्पमति के सम्बन्ध में, जो कुछ भी निवेदन करना अपेक्षित था। सहजसिद्ध मानस कार्य्यकारणभावों के साथ कौन किससे अद्यावधि यह प्रश्न करने गया है कि,–"**सर्वप्रथम यह विश्व किसकी प्रेरणा से**

---

* **पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।**
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां 'पंचपर्वा'मधीमः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

कैसे कब उत्पत्तिधाराक्रम का अनुगामी बन गया ?, उस नितान्त सूक्ष्म अणोरणीयान् अतएव सर्वथा अनस्थिमत्–स्थूलभूतानुगता घनता से असंस्पृष्ट–तत्त्वविशेष ने इस अस्थिमत्-स्थूल–विश्व को कैसे अपने अनस्थिमत्–सुसूक्ष्म स्वरूप पर धारण कर लिया ?, इत्यादि सहजसिद्ध प्रश्न, एवं सहजसिद्ध केवल मनोऽनुगत बुद्धिगम्य–स्वानुभवैकगम्य समाधान के सम्बन्ध में किसने तो देखा, किसने सुना, एवं कौन किस विद्वान् से इस सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए अग्रगामी बना ?"। तात्पर्य्य, इन स्वानुभवैकम्य सहजसिद्ध शाश्वत–सिद्धान्तों में इन सम्वत्सरकालचक्रानुगत कृत्रिम कार्य्यकारण-भावों का प्रवेश ही जब निषिद्ध है, तो तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और उत्तर की जिज्ञासा–समाधान के लिए प्रवृत्त होगा ही कौन ?। देखिए ! महर्षि दीर्घतमा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं--

को ददर्श प्रथमं जायमानं–अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।४।

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्रवोचत् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥

—ऋक्सं० १।१६४।१८।

मानस प्रश्न, और मानस उत्तर, ही इस दिशा में वास्तविक प्रश्नोत्तरविमर्श माना जायगा। इसी आधार पर निगमशास्त्र में एक वैसी विलक्षण परिभाषा का आविर्भाव हुआ है, जिसमें प्रश्न, और उत्तर, दोनों भाव समाविष्ट रहते हैं। जो प्रश्न, वही उत्तर। दूसरे शब्दों में जिस वाक्य से, किंवा मन्त्र–सन्दर्भ से प्रश्न का स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसी वाक्य–मन्त्रसन्दर्भ से उत्तर का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है। इसी शैली के आधार पर लोकव्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्यविन्यास व्यवस्थित हुए हैं, जिनके द्वारा प्रश्न एवं उत्तर, दोनों समाहित बन जाते हैं। अमुक कार्य्यकारण का स्वरूप जानकर भी अमुक व्यक्ति इस प्रकार की अनिरुक्त शैली के माध्यम से अपनी कार्य्यकारणविज्ञता अभिव्यक्त कर दिया करता है कि,–"विदित नहीं, वे–क्या किया करते हैं, कब कैसे कहाँ उनकी जीवनधारा प्रवाहित रहती है ?"। इस प्रश्नवाक्य के गर्भ में ही उत्तर भी समाविष्ट रहता है। जानकार व्यक्ति ही इस प्रकार की अनिरुक्तभावापन्ना काकूभाषा का उपयोग किया करते हैं। दुरधिगम्य–सुसूक्ष्म–मनोभावानुगत–अतएव अनिरुक्त ऐसे कार्य्यकारणभावों के सम्बन्ध में भी इसी परोक्षशैली के माध्यम से प्रश्नोत्तरविमर्श हुआ है। महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा आरम्भ में आदिकारण के सबन्ध में इसी अनिरुक्तशैली के आधार पर कार्य्यकारणमीमांसा अभिव्यक्त हुई है। देखिए !

किं कारणं ? ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठाः ? ॥
अधिष्ठिताः केन ? सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

कालः–स्वभावो–नियति–र्यदृच्छा–भूतानि–योनिः–पुरुष–इति चिन्त्यम् ॥
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १ अध्याय १,२,३,७, ।

उपनिषत् के अनिरुक्तभावात्मक किं ?, कुतः ? केन ?, क्व ?, इत्यादि प्रश्नों के गर्भ में हीं इसी अनिरुक्त भाव से (ककार से) सम्बन्धित उत्तर भी समाविष्ट हैं। एक अन्य मूलसंहिता के मन्त्र पर दृष्टि डालिए–जहाँ इसी अनिरुक्त भाव से प्रश्नोत्तर का समसमन्वय हुआ है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ॥
—यजुसंहिता २५।१०।

"सम्पूर्ण भूतों के (चान्द्र तथा पार्थिव भूतों के) अधिपति हिरण्यगर्भप्रजापति (सौर–त्रयीघन–नभ्य प्रजापति–केन्द्रप्रजापति–अतएव अनिरुक्तप्रजापति) ही इस त्रैलोक्य में सर्वप्रथम आविर्भूत हुए। जिन्होंनें इस द्यावापृथिवीरूप त्रैलोक्य को अपने महिमामण्डल में धारण किया। हम किस के लिए हविःप्रदान करें " इत्याद्यक्षरार्थक मन्त्र का–'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाक्य अवधेय है। 'कः–सः' आदि व्याहृतियाँ (अभिधाएँ–नामें) अनिरुक्तभाव की ओर सङ्केत कर रहीं हैं। केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी तत्त्व अपने सुसूक्ष्म भाव के द्वारा वाणी का विषय नहीं बना करता। अतएव यज्ञकर्म्म में प्रजापतिकर्म्म उपांशु ही होता है *। जिसका कोई व्यक्त नाम नहीं, उसका नाम 'कः–सः' इत्यादि ही तो लोक में प्रसिद्ध है। 'कौन–वह–' ये सब अभिधाएँ अनिरुक्तभाव का ही समर्थन कर रहीं हैं। पति के लिए इसी दृष्टि से 'कुणीजीरा–

*–"वाक् और मन में परस्पर अहमहमिकारूपा प्रतिस्पर्द्धा जागरूक हो पड़ी। मन कहता था, मैं महान् हूँ–वाक् की अपेक्षा। वाक् कहती थी, में महीयसी हूँ मन की अपेक्षा। निर्णयार्थ दोनों प्रजापति के समीप गए। प्रजापति ने दोनों के समतुलन में मन को ही श्रेष्ठ घोषित कर दिया। इस से वाक् अप्रसन्न हो गई प्रजापति पर। और वाक् ने यह घोषणा कर दी कि, अब में तुम्हारे लिए (प्रजापति के लिए) कभी हवि का वहन न करूँगी। तभी से प्राजापत्य कर्म्म तूष्णीं होने लगा।" इत्यादि आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

—शतपथब्रा० १।४।१।१२।

अजी–ओजी–आप'–आदि अनिरुक्त व्याहृतियाँ हीं प्रयुक्त होतीं हैं। इसी दृष्टि से हृद्य मनोमय अनिर्वचनीय (वाणी के द्वारा निरूपण करने की मर्य्यादा से अतीत) प्रजापति के लिए अनिरुक्तभावाभिव्यञ्जक 'कः'–'सः' इत्यादि संकेतपरिभाषा व्यवस्थित कर दी गई है। 'कस्मै देवाय' का प्रश्नात्मक रूप है–'हम किसके लिए हवि का विधान करैं'। एवं इसी का उत्तरात्मक रूप है–'हम किसके लिए ही हवि का विधान करैं'। प्रश्न में 'कस्मै' का अर्थ होगा किसके लिए, उत्तर में 'कस्मै' का अर्थ होगा–ककारवाच्य हृद्य अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति के लिए। यही दृष्टिकोण हैवमवती उमानुग्रहप्रतिपादक ब्रह्मस्वरूपोद्बोधक 'केनोपनिषत्' (अनिरुक्तप्रजापतिविद्यारहस्योपनिषत्) के मन्त्रों के साथ सुसमन्वित हुआ है। देखिए !

प्रश्न—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः ?। (किससे प्रेरित मन विषयानुगामी बनता है ?)।
उत्तर—('केने'षितं पतति प्रेषितं मनः)।– 'अनिरुक्तप्रजापतिरूप ककार से।
प्रश्न—केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?। (किस से प्रेरित प्राण युक्त होता है ?)।
उत्तर—('केन'प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः)।– ककारप्रजापति से, अन्तर्य्यामी से।
प्रश्न—केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?। (किससे प्रेरित वाक् बोलते हैं ?)
उत्तर—('केने'षितां वाचमिमां वदन्ति)।– ककारप्रजापति की प्रेरणा से।
प्रश्न—चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ?– (कौन चक्षु और श्रोत्र को विषयानुगामी बनाता है?)
उत्तर—(चक्षुः श्रोत्रं 'क' उ देवो युनक्ति)।– ककार ही इन्हें विषयानुगत बनाता है।

—केनोपनिषत् १।१।

(६५)–पारिभाषिक शैली के द्वारा समाधान—

यही पारिभाषिक शैली **'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्०'** इत्यादि मन्त्रों के सम्बन्ध में समन्वित हुई है। **'को ददर्श प्रथमं जायमानम्'** का उत्तर भी **'को ददर्शप्रथमं जायमानः'** ही प्रमाणित हो रहा है। **'कवीयमानः क इह प्रवोचत्–देवं, मनः कुतो अधिजातम्'** प्रश्नात्मक वाक्य भी इसी वाक्य के द्वारा उत्तर भी प्रदान कर रहा है। यही कारण है कि ऋक्संहिता में–**किंस्विद्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०'** इत्यादि रूप से केवल प्रश्न ही हुआ है, उत्तर का स्वतन्त्ररूप से विश्लेषण इसीलिए नहीं किया गया कि, इस प्रश्न के गर्भ में ही अनिरुक्त 'क' कारव्याहृति के माध्यम से उत्तर गर्भीभूत है। अनिरुक्त मानस हृद्यभाव ही इस प्रश्न का मौलिक समाधान है, इसीलिए–**'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्'** रूप से **'मनसा पृच्छतेदु०'** घोषणा हुई है। महर्षि तित्तिरि ने जो इस ऋक् श्रुति का यह समाधान किया कि–**'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस०'**, सो भी तत्त्वतः अनिरुक्त भाव का ही समर्थक बना हुआ है। जैसा अनिरुक्तभावप्रतिपादक 'कः', वैसा ही 'ब्रह्म'। इसीलिए तो तित्तिरि को भी अपने इस उत्तर का उपसंहार करते हुए–**'मनसा विब्रवीमि वः'** रूप से मानस अनिरुक्त भाव का ही आश्रय लेना पड़ा है। **'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'** भी इस अनिरुक्तता की ओर ही संकेत

कर रहा है । इत्थंभूत हृद्य–मनोमय–काममय अनिरुक्तभाव का अनिरुक्तरूप से ही तो समाधान शक्य है, जिस अनिरुक्तभावदर्शन में स्थूलदृष्टि का प्रवेश, तदनुगत भूतेतिहासानुगत स्थूल कार्य्यकारणभाव का प्रवेश सर्वथा अवरुद्ध ही बना रहता है । विद्याबुद्धिलक्षण मानसप्रज्ञानेत्र ही तद्दर्शन में, तत्कार्य्यकारणानुभूति में समर्थ है, जैसा कि–**'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'** (मुण्डकोपनिषत् २।२।७) इत्यादि श्रुत्यन्तर से स्पष्ट है । यदि तटस्थ आलोचक के कथनानुसार 'अचिन्त्य'–'अनिर्वचनीय'–'ब्रह्म' आदि शब्द केवल प्रतारक ही होते, तो **"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि'–'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'–'सोऽकामयत–स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्–तस्य श्रान्तस्य कामयमानस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्वेदोऽजायत । तत् सुवेदोऽभवत्"** इत्यादि रूप से निरूपित कार्य्यकारणभावों का क्या अर्थ होता ?। अतएव एक बार और अन्तिम बार पुनः हमें यह कहना पड़ा कि, सृष्टिमूलनिबन्धन कार्य्यकारणभाव के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जैसी है । स्थूलदृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है ।

समझने जैसी बात अब शेष क्या रह गई ?, प्रश्न का समाधान एक अन्य श्रुति के द्वारा यों हुआ है कि, उस सत्य-ज्ञान-अनन्तलक्षण, नित्य-विज्ञान-आनन्दलक्षण शाश्वत ब्रह्म का भले ही शब्दद्वारा, वैखरीवाग्द्वारा निर्वचन सम्भव न हो, किन्तु 'सत्ता' रूप से आबालवृद्धवनिता सब को उसका साक्षात्-कार हो रहा है । 'अस्ति' लक्षणा सत्ता का **'सत्'** रूप से सम्बन्धित बोध ही (अस्तित्त्व का परिज्ञान ही) **'चित्'** है, इस सद्बोध से स्वतः अभिव्यक्ता तृप्ति (बोधात्मिका आत्मतृप्ति–शान्ति) ही **'आनन्द'** है। **अस्ति (सत्) की बोध (चित्) रूपा** * **उपलब्धि (रसप्राप्ति–तृप्ति–लाभलक्षण आनन्द)** ही तो 'सच्चिदानन्दलक्षण' ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है, जिस काममय इस सत्यज्ञानअनन्त ब्रह्म का तैत्तिरीय ने **'कोशब्रह्म'** रूप से विस्तार से विश्लेषण किया है । 'ब्रह्म' शब्द वैसा नहीं है, जिसकी अनिर्वचनीयता हमारी प्रतारणा कर के ही उपशान्त हो जाती हो । अपितु यह वैसी अनिर्वचनीयता है, जिसके गर्भ में– अनिरुक्तभाव से प्रत्यक्षानुभूतिरूपा ब्रह्मकारणता अन्तर्निगूढ है । तभी तो यह कोशब्रह्म 'गूढोत्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो अपने सहज अनिरुक्तभाव से अनिर्वचनीय–मनसा–वाचा–

*** सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ब्रह्मैवेदं सर्वम् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।**

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् २।६।१२,१३, ।

चक्षुषा असंकल्पित--अवर्णित–अदृष्ट बनता हुआ भी आत्ममनोद्वारा ग्राह्य–परावाग्द्वारा वर्णित–विज्ञान-चक्षुर्द्वारा सर्वात्मना दृष्ट है, जो विज्ञानदृष्टि 'अग्रदृष्टि' कहलाई है * ।

जिन आलोचकों का इस सम्बन्ध में यह दुराग्रह है कि, जबतक उन्हें भूतवत् प्रत्यक्ष स्थूल कार्य्य-कारणद्वारा मूलकारण का साक्षात्कार नहीं हो जाता, जबतक उस मूलकारण का वे साक्षात् रूप से मर्त्य भूतेतिहास की भाँति वर्णन नहीं सुन लेते, तबतक वे कथमपि मूलकारणतानुगता जिज्ञासा को उपशान्त नहीं कर सकते । उनसे इसके अतिरिक्त हम तो अब कुछ भी निवेदन करने में असमर्थ हैं कि, ऐन्द्रियक भौतिक विषयों की अनुभूति का वर्णन भी जो आलोचक करने में असमर्थ हैं, वे इन्द्रियातीत, किंवा सर्वातीत ÷ पुरुषब्रह्म के निरुक्तभावापन्न साक्षात् वर्णन की कामना करें, इस से अधिक उनकी अपनी ओर से ही वञ्चना और क्या होगी ? । मधुर ही द्राक्षा, मधुर ही शर्करा, दोनों ही मधुर । किन्तु दोनों के रसमाधुर्य्य में महान् विभेद । क्या इस विभेद का, इस इन्द्रियानुभूति का आलोचक शब्दद्वारा स्पष्टीकरण कर सकेंगे ?, असम्भव । 'भवति रसनामात्रविषयः' । रसनेन्द्रियानुभूति ही इस माधुर्य्यविभेद का अनुभवमात्र कर सकती है, वर्णन नहीं । जब कि लौकिक–भौतिक विषयों का भी केवल अनुभव ही सम्भव है, मन से ही जो ज्ञात विज्ञात बने रहते हैं, तो फिर लोकातीत सुसूक्ष्म भावों के सम्बन्ध में स्वानुभवैकगम्यपथातिरिक्त स्थूल वर्णन की जिज्ञासा रखना, तत्समाधान के लिए व्यग्र हो पड़ना, क्या जानबूझ कर अपनी स्वयं की वञ्चना नहीं है । तदपि निराशा का क्षेत्र नहीं हैं । अवश्य ही योगनिष्ठ अतिमानव इस सम्बन्ध में भी उन आलोचकों को वैखरीवाणी के माध्यम से भी उनका समाधान करा सकते हैं । किन्तु यह सम्भव तभी है, जब कि हम आस्थाश्रद्धापूर्वक सर्वप्रथम इस पथ पर आरूढ़ हो जायँ । अवश्य ही कालान्तर में प्रत्यक्षदर्शक भी उन्हें प्राप्त हो ही जायँगे । ब्रह्मविद्यात्मिका देवविद्या के द्वारा सभी कुछ सम्भव है । इसी आस्था के आधार पर इस दृष्टिकोण को उपसंहृत करते हुए हमें प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है ।

---

* एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

÷ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्त–अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥

(६६)–अहोरात्रनिबन्धन सहजकर्म्म—

हम जब अपने अहोरात्रनिबन्धन सहजेच्छा (कामना) सहकृत कर्म्मों की मीमांसा में प्रवृत्त होते हैं, तो सहसा इनकी कामना–प्रवृत्ति–परिणाम आदि के सम्बन्ध में हमें स्वयं अपने ही अन्तर्जगत् में आश्चर्य्यविभोर बन जाना पड़ता है। कब किसने इच्छा की, कब आध्यात्मिक सूक्ष्मशक्तियाँ जागरूक हो पड़ीं, कब उन्होंनें मूर्त्त परिणाम धारण कर लिया ?, इत्यादि हमारे स्वयं के ही प्रश्न, हमारे अपने ही कार्य्यकारणभाव हमारे लिए अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–प्रमाणित होते रहते हैं। एक स्थूल उदाहरण को लक्ष्य बना कर इस स्थिति का समन्वय कीजिए। दो व्यक्ति, किंवा अनेक व्यक्ति किसी गन्तव्य स्थान की ओर अग्रेसर हैं। परस्पर किसी तात्त्विक विषय के आधार पर प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। प्रश्नोत्तरपरम्परा अवधानपूर्वक प्रक्रान्त है, और प्रक्रान्त है इनकी सहजगति। कब पैर उठे, कब आगे बढ़े, मार्ग में कौन मिला, क्या मिला, क्या देखा, क्या सुना, कुछ भी तो आभास नही रहता इन मार्गानुगामी विचारविमर्शकों को। फिर भी मानना तो पड़ेगा ही कि, पूर्ण स्वस्थदशा में हीं इनकी गति प्रक्रान्त रही, सभी कुछ मिलते गए–देखते गए--सुनते गए अवधानपूर्वक। फिर भी इन सहज गति–मिलन–दर्शन–श्रवण–परम्पराओं का वर्णन यदि आप इनसे पूँछने लगेंगे तो वे यही कह पड़ेंगे कि,—हम स्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कह सकते। हमारा ध्यान तो विचारविमर्श में समाविष्ट था। ध्यान गत्यादि की ओर न था, तो ये ठोकर खाकर गिर क्यों न पड़े, मार्ग में आगत–गत वाहनादि से कुचले क्यों न गए, इत्यादि सभी प्रश्न तब तक हमारे लिए मीमांस्य बने रहते हैं, जब तक कि हम आध्यात्मिक ज्ञानधाराओं के वास्तविक सुसूक्ष्म स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं कर लेते।

(६७)–पंचविधा ज्ञानधारा—

महद्ज्ञानधारा, विज्ञानज्ञानधारा, प्रज्ञानज्ञानधारा, इन्द्रियमनोज्ञानधारा, आदि रूप से चार ज्ञानधाराओं का जब हम विश्लेषण करने लगते हैं, तो इस सम्बन्ध की अनेक मीमांसाएँ स्वतःएव समाहित बन जातीं हैं। आगत–समागत–दृश्यों का दर्शन, शब्दश्रवण, गन्धग्रहण, शीततप्तवायुस्पर्श आदि आदि ऐन्द्रियक अनुभूतियों के सङ्कल्पविकल्पभावों का आधार है इन्द्रियमनोज्ञानधारा। इनकी अनुभूतियों का आधार है प्रज्ञानमनोज्ञानधारा। तात्त्विक विषयानुगत प्रश्नोत्तरविमर्श का आधार है विज्ञानधारा। एवं शारीरिक सुसूक्ष्मभूतशक्तियों के संचरण से अनुप्राणित सहज गति का आधार है महद्ज्ञानधारा। चारों में पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरापेक्षया वरीयान् है, वसीयान् है। चारों के समसमन्वय का ही नाम 'समत्वयोग' है, यही कर्म्मकौशल है। **'सत्त्वज्ञान, बुद्धिज्ञान, मनोज्ञान, ऐन्द्रियकज्ञान',** चारों स्वतन्त्र उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण स्वतन्त्र ब्रह्म हैं, जो उस एक अखण्ड पुरुषब्रह्म से प्रेरित होकर स्वसंस्थाओं के प्रभव प्रतिष्ठा–परायण बने रहते हैं। इन चारों ज्ञानधाराओं में सर्वान्त की बाह्यभूतानुगता–स्थूलभूतानुगता श्रवण–दर्शनादिरूपा ऐन्द्रियक अनुभूति ही जब पूर्वकथनानुसार शब्दद्वारा उपवर्णित नहीं हो सकती, तो इतर तीनों ज्ञानधाराओं के उपवर्णन की जिज्ञासा भी कर बैठना क्या प्रतारण नहीं है ?। हाँ,

विवेकबुद्ध्या अनुभवमात्र कर सकते हैं आप इन ज्ञानधाराओं का। अनुभव· (मानसिक अनुभव) भी इन चारों में से केवल तीन ज्ञानधाराओं का ही सम्भव है। चौथी महद्ज्ञानधारात्मिका सत्त्वज्ञानधारा, एवं सर्वाधारभूता पुरुष (अव्यय) ज्ञानधारा, दोनों तो मानसानुभूतियों से भी अतीत हैं। आभ्यन्तर सुसूक्ष्म प्राण–रक्त–शिरा–स्नायु–आदि का संघटन–विघटन–परिरक्षण–आदि सभी व्यापार (कर्म्म) बुद्धिज्ञान-धारा (विज्ञानधारा) से भी परे की वस्तु है, वही सत्त्वलक्षणा महद्ज्ञानधारा है, तदनुबन्धी कर्म्म ही सहजकर्म्म है, जिनकी कामना–कार्य्यकारणमीमांसा बुद्धि के द्वारा दृष्टमात्र अवश्य है, किन्तु–'इदमित्थमेव' रूप से मीमांस्य नहीं। इस महद्ज्ञानधारा की इत्थंभूतलक्षणा मीमांसा का आधार तो पुरुषज्ञानधारा ही बना करती है। इन पाँचों, किंवा सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं का आधार सर्वाधार सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्पर' नामक शाश्वतब्रह्म, एवं तत्सन्बन्ध में इस प्रकार की निरुक्तभावमूला कार्य्यकारणजिज्ञासा कि--'सुप्त-मायाबल को किसने प्रेरित किया ?, क्या सचमुच ऐसी जिज्ञासा से हम सर्वात्मना अपनी प्रतारणा नहीं कर रहे ?। मुकुलितनयन बन कर पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए, स्वतः समाधान हो जायगा। यदि तदनन्तर भी समाधान न होगा, तो समाधान के अन्य प्रकारों से आलोचकों के समाधान करने का प्रयत्न किया जायगा।

अयमत्र संग्रहः—

(८)–खण्डात्मानुगतषड्विधज्ञानधारापरिलेखः—

❀—शाश्वतज्ञानधारा (निराधारा शाश्वतब्रह्मधारा)——विश्वातीता (परात्परः)

(१)—पुरुषज्ञानधारा (सर्वाधारा अव्ययज्ञानधारा)——विश्वाधारभूता (पुरुषः)

(२)—महद्ज्ञानधारा (सहजकर्म्माधारा सत्त्वज्ञानधारा)–अध्यात्माधारभूता (महान्)

(३)—विज्ञानज्ञानधारा (विचारविमर्शरूपा-बुद्धिज्ञानधारा)–पुरुषार्थाधारभूता (बुद्धिः)

(४)—प्रज्ञानज्ञानधारा (श्रवण–दर्शनादिरूपा–सर्वेन्द्रियमनोज्ञानधारा)–क्रत्वर्थाधारभूता (मनः)

(५)—ऐन्द्रियकज्ञानधारा (संकल्पविकल्पात्मिका–इन्द्रियमनोज्ञानधारा)–लोकाधारभूता (इन्द्रियाणि)

(६८)–अवस्थात्रयीमाध्यम से प्रश्नसमाधान—

एक दूसरे उदाहरण से कारणमीमांसा कीजिए, किन्तु–"सर्वथा अपने मनस्तन्त्र में हीं, मनोऽनुगता अनिरुक्त भाषा में हीं" इस सत्यसंधा के साथ। क्योंकि, कारणमीमांसा का आप लक्ष्य उसे बना रहे

हैं, जहाँ * वाक्–प्राण–चक्षुः–श्रोत्र–मन–बुद्धि–महत्–आदि किसी भी ज्ञानधारा की गति नहीं है श्रुति के–'विज्ञातारमरे ! वा केन विजानीयात्' इस सिद्धान्तानुसार । अहःकालानुगता सम्पूर्ण इति–कर्त्तव्यता को सहजभाव से सहजेच्छा (ईश्वरेच्छारूपा आत्मकामना) पूर्वक आपने सम्पूर्ण–(कृत्स्न) बना लिया । इसी सहजभाव से अपने कर्म्म से तुष्ट–तृप्त बन कर आप रात्रौ विश्रामानुगत बनते हुए 'स्वमपीतो भवति' लक्षणा 'स्वपिति' अवस्था (सुषुप्ति–शयन) के क्रोड़ में समाविष्ट हो गए, जिसकी व्याख्या वैज्ञानिकोंनें इस प्रकार की है कि, अहःकालीन ज्ञानानुगत भावनासंस्कारों को अपने प्रज्ञागर्भित असङ्ग प्राणधरातल में, एवं कर्म्मानुगत वासनासंस्कारों को अपने प्राणगर्भित ससंज्ञ प्रज्ञा–(सौम्य)–धरातल में समाविष्ट अर्जित करते रहने वाला 'सर्वेन्द्रिय' नामक इन्द्रियाध्यक्ष प्रज्ञानमन अपने इस संस्कारपुञ्ज के साथ स्वाध्यक्ष विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्योतिर्भाव से जबतक अनुगृहीत प्रकाशित रहता है, तबतक तो अपने इन्हीं संस्कारपुञ्जों के आधार पर काल्पनिक निर्म्माणात्मक स्वप्नों का सर्जन कर इनका द्रष्टोपद्रष्टा बना रहता है, एवं यही इसकी 'स्वप्नावस्था, कहलाई है, जिसका 'न तत्र रथाः न रथयोगाः' इत्यादिरूप से विस्तार से उपवर्णन हुआ है । आगे चल कर जब विज्ञानात्मा अपने आश्रित इस संस्कारी प्रज्ञानमन को अपनी प्रभूतज्योति से अभिभूत कर देता है, तो यह चान्द्रप्रज्ञानमन उसी प्रकार इस सौरविज्ञान के प्रखर तेज से निस्तेज बन जाता है, जैसे कि अहःकाल में सौरतेजसे खगोलमें विद्यमान भी चन्द्रमा निस्तेज–हतप्रभ बन जाया करता है । चन्द्रमा है, चन्द्रिका भी है । किन्तु अभिभव के कारण रहती हुई भी चन्द्रिका नहीं के समान है । ठीक यही दशा इस समय चान्द्रप्रज्ञान मन की हो जाती है । मन भी है, उसमें चन्द्रिकास्थानीय भावना–वासनासंस्कारप्रज्ञा भी है । किन्तु कोई उपयोग नहीं हो सकता इस अभिभवदशा में इस मानसी प्रज्ञा का । यहाँ आकर विवश बने हुए मन को विज्ञानात्मा के साथ पुरीततिनाड़ीमार्ग से दहराकाशस्थ ज्योतिषांज्योतिर्लक्षण नित्यविज्ञानघन सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म पुरुषात्मक उस ईश्वरात्मा में विलीन हो जाना पड़ता है, जो इसका ही नहीं, अपितु इन्द्रिय–मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्तादि सम्पूर्ण सोपाधिक भावों का अखण्ड 'स्व' आत्मा माना गया है ।

---

* न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति, नो मनो, न विद्मः (बुद्धिर्न गच्छति), न विजानीमः । अथतदनुशिष्यात् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्व्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे । केनोपनिषत् १।३।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥१॥
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ॥
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥२॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।८,९,।

इस 'स्व' रूप आत्मज्योति में इन सब (केवल महान् को छोड़ कर) खण्डात्मभावों की अपीति (अप्यय-विलयन) हो जाती है । यही **'सुषुप्ति-अवस्था'** कहलाई है, जिसे स्व में अपीत होने के कारण **'स्वपिति'** कहा गया है । इस अद्वैतावस्था में कुछ भी तो भान नहीं रहता । केवल जाग्रत महान् के अनुग्रह से ÷ आध्यात्मिक प्राणों का सञ्चार होता रहता है, अतएव श्वास-प्रश्वास कर्म्म प्रक्रान्त रहता है, जो प्रक्रान्ति जीवनसत्ता का आधार मानी गई है । इसी आधार पर महानात्मनिबन्धन प्राणों को भी (प्राणापानसमानोदानव्यानरूप पञ्च प्राणों को भी) प्राणोपनिषत् ने जाग्रत मान लिया है । तदित्थं—इन्द्रियप्राणगर्भित (स्तौम्य वषट्कार के त्रिवृदग्नि—पञ्चदश वायु, एकविंश-आदित्य, त्रिणव भास्वरसोम, त्रयस्त्रिंश दिक्सोम, इन पाँच पार्थिव भौतिक प्राणदेवताओं के प्रवर्ग्यरूप से निष्पन्न आग्नेयी + वाक्—वायव्य प्राण—आदित्य चक्षु—दिश्य श्रोत्र—भास्वरसौम्य संकल्प—विकल्पात्मक **मन**, इन पञ्चविध प्राणेन्द्रियों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले) प्रज्ञानमन को स्वज्योति से सर्वात्मना अभिभूत कर देने वाले विज्ञानात्मा (बुद्धि) का पुरीततिनाड़ी के द्वारा दहराकाशस्थ अव्ययेश्वरात्मा में अपीत हो जाने का नाम ही सुषुप्त्य-वस्था है । निम्नलिखित श्रौत वचन इन्हीं तीनों अवस्थाओं का दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिन तीनों अवस्थाओं का भोक्ता ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञ, क्रियाशक्तिमय तैजस, एवं अर्थ-शक्तिमय वैश्वानर, ये तीनों जीवात्मपर्व बन रहे हैं । जाग्रदवस्था में महान्—विज्ञान—प्रज्ञान—तीनों जाग्रत हैं । स्वप्नावस्था में महान्—विज्ञान जाग्रत हैं । सुषुप्त्यवस्था में केवल महान् जाग्रत है, जिसे सुषुप्त्यवस्थानन्तर—**'सुखमहमस्वाप्सीः'** यह उद्घोष करने का अवसर प्राप्त हुआ करता है । महानात्मा की सुषुप्ति ही मृत्युलक्षणा सर्वावसाना-वस्था मानी गई, जिस इस सर्वावसान—सर्वप्रवृत्ति के मूलाधार महानात्मा को स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के सम्बन्ध से 'शान्तात्मा' (क) भी कहा गया है ।

÷ य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः । तदेव शुक्रं—तद् ब्रह्म—तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् (महानात्मा)

—कठोपनिषत् ५।८।

+ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्य-श्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् ॥

—ऐतरेयोपनिषत् २।४।

(क) तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि (कठोपनिषत्—१।३।१३) ।

यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति 'शान्तात्मा' तदा सर्वं निमीलति ॥

मनुः १।५२।

क (१)–अथ हैनं सौर्य्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ–भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे (अध्यात्मसंस्थायां) कानि स्वपन्ति ?, कान्यस्मिन् जाग्रति ?, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ?, कस्यैतत् सुखं भवति ?, कस्मिन्नु सर्व्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ?, इति । तस्मै स होवाच–यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्व्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्सर्व्वं परे देवे मनस्येकीभवन्ति (इन्द्रियाणि) । तेन तर्ह्येष पुरुषः–न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, न विसृजते, नेयायते । 'स्वपिति' इत्याचक्षते । (सैषा सुषुप्त्यवस्था) ॥

(२)–प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानोऽन्वाहर्य्यपचनः । यद्गार्हपत्यात्–प्रणीयते, प्रणयनात्–आहवनीयः प्राणः । यदुच्छ्वासनिःश्वासौ–एतावाहुती समं नयतीति, स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति । (सैषा जाग्रदवस्था) ॥

(३)–अत्रैव देवः (मनः) 'स्वप्ने' महिमानमनुभवति, यत्–दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्व्वं पश्यति, सर्व्वः पश्यति । (सैषा स्वप्नावस्था) ॥

(४)–स यदा तेजसा (विज्ञानात्मना) अभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति, अथैतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति । (सैषा सुखावस्था) ॥

(५)–स यथा सोम्य ! वयांसि (पक्षिणः) वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत्सर्व्वं पर आत्मनि (अव्ययात्मनि) सम्प्रतिष्ठते । (सैषा सम्प्रतिष्ठितावस्था) ॥

(६)–एष हि द्रष्टा–स्प्रष्टा–श्रोता–घ्राता–रसयिता–मन्ता–योद्धा–कर्त्ता–'विज्ञानात्मा' पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते । स यो ह वैतत्-

क–इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यों में, विशेषतः 'प्रश्नोपनिषत्-विज्ञानभाष्य' के एतत्प्रकरण में देखना चाहिए ।

अच्छायं–अशरीरं–अलोहितं–शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्व्वो भवति, तदेष श्लोकः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्व्वज्ञः सर्व्वमेवाविशेति"

—प्रश्नोपनिषत् ४ प्रश्नः ।

अयमत्र संग्रहः–अवस्थानुगतः—

(१)—कानि स्वपन्ति ? — प्रज्ञानमनोऽनुगतानीन्द्रियाणि स्वपन्ति ।
(२)—कान्यस्मिन् जाग्रति ? — महानात्मानुगताः पञ्च प्राणा जाग्रति ।
(३)—कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ? — सर्वेन्द्रियमनः स्वप्नान् पश्यति विज्ञानात्मना ।
(४)—कस्यैतत् सुखं भवति ? — महानात्मनः सुखं भवति ।
(५)—कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ? — परेऽव्यये सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति सर्वे ।

(७)–तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः–इदं च (जाग्रत्स्थानं)–परलोकस्थानं च (सुषुप्तिस्थानञ्च) । सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम् * । तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति–इदं च, परलोकस्थानं च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति । तमाक्रम्याक्रम्य–उभयान् पाप्मन आनन्दाँश्च पश्यति । स यत्र प्रस्वपिति–अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्म्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ।

(८)–न तत्र रथाः, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्–रथयोगान्–पथः–सृजते । न तत्रानन्दाः–मुदः–प्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान्–मुदः–प्रमुदःसृजते । न तत्र वेशान्ताः–पुष्करिण्यः–स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ताः–पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो सृजते । स हि कर्त्ता । तदेते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ॥
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥१॥ (विज्ञानात्मा)

---

* सन्ध्ये सृष्टिराह हि । सूचकश्च हि । निर्म्मातारं चैके पुत्रादयस्य । (वेदान्तसूत्राणि)

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ॥
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥२॥ (हंसात्मा)
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ॥
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥३॥ (प्रज्ञानात्मा)॥

(६)–आराममस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यं हास्मै भवति, यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुः–'जागरितदेश एवास्यैष' इति। यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त, इति। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।

(१०)–स वा एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव। स यत्तत्र किंचित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गो ह्ययं पुरुषः।

(११)–स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव। स यत् यत्र किञ्चित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गो ह्ययं पुरुषः।

(१२)–स वा एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति, स्वप्नान्तायैव।

(१३)–तद्यथा महामत्स्यः–उभे कूलेऽनुसञ्चरति–पूर्वञ्च–अपरञ्च, एवमेवायं पुरुषः–एतौ–उभौ–अन्तौ–अनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च। तद्यथास्मिन्–आकाशे-श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुषः–एतस्मा (स्मै) अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।

(१४)–ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो–यथा केशाः सहस्रधा भिन्नास्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति–शुक्लस्य–नीलस्य–पिङ्गलस्य–हरितस्य–लोहितस्य–पूर्णाः। अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव–हस्तीव–विच्छाययति–गर्त्तमिव पतति। यदेव जाग्रद्भयं पश्यति, तदत्राविद्यया मन्यते। अत यत्र देव इव, राजेव, अहमेवेदं सर्वोऽस्मि–इति मन्यते,

सोऽस्य परमो लोकः। तद्वा अस्यैतत्–अतिच्छन्दा–अपहतपाप्मा–अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतत्–आप्तकामं–आत्मकामं–अकामं रूपं शोकान्तरम्।

(१५)–अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः। अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।

(१६)–यद्वै तन्न पश्यति–पश्यन्वै तत्र पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति -ततोऽन्यद्विभक्तं पश्येत्। यद्वै तन्न जिघ्रति, न रसयते, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति, न हि–घ्रातुर्घ्रातेः–रसयितू रसयतेः–वक्तुर्वक्तेः–श्रोतुः श्रुतेः–मन्तुर्मतेः–स्प्रष्टुः स्पृष्टेः-विज्ञातुर्विज्ञातेः–विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति-ततो-ऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत्–यद्रसयेत्–यद्वदेत्–यच्छृणुयात्–यन्मन्वीत–यत् स्पृशेत्-यद्विजानीयात्। यत्र वा अन्यदिव स्यात्–तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येत्–जिघ्रेत्–रसयेत्-वदेत्–शृणुयात्–मन्वीत–स्पृशेत्–विजानीयात्। सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्–इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषास्य परमा गतिः। एषास्य परमा सम्पत्। एषोऽस्य परमो लोकः। एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यै-वानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४ अ०।३ ब्रा०।

(१७)–सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। जागरितस्थानो बहिः-प्रज्ञः–सप्ताङ्गः–एकोनविंशतिमुखः–स्थूलभुक्–वैश्वानरः प्रथमः पादः (जाग्रद-वस्थानुगतः)। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः–सप्ताङ्गः–एकोनविंशतिमुखः–प्रविविक्तभुक्-तैजसः–द्वितीयः पादः (स्वप्नावस्थानुगतः)॥ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं काम-यते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थानः–एकीभूतः-प्रज्ञानघनः–एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्–चेतोमुखः–प्राज्ञः–तृतीयः पादः (सुषुप्त्यवस्थानुगतः)॥ एष सर्व्वेश्वरः (अध्यात्मसंस्थायाः)। एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्य्यामी, एष योनिः सर्व्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि (शारीर) भूतानाम्।

(१८)–नान्तःप्रज्ञं—न बहिःप्रज्ञं–नोभयतःप्रज्ञं–न प्रज्ञानघनं–न प्रज्ञं–नाप्रज्ञं—अदृष्टं–अव्यवहार्य्यं—अग्राह्यं–अलक्षणं–अचिन्त्यं–अव्यपदेश्यं–ऐकात्म्यप्रत्ययसारं—प्रपञ्चोपशमं–शान्तं–शिवं–अद्वैतं–चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा । स विज्ञेयः । सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रम् । पादा मात्राः । मात्राश्च पादाः–अकारः, उकारः, मकारः, इति ।

(१९)–जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा–आप्तेरादिमत्त्वात् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एवं वेद ॥ स्वप्नस्थानस्तैजसः-उकारो द्वितीया मात्रा–उत्कर्षादुभयत्त्वाद्वा । उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं, समानश्च भवति, नास्याऽब्रह्मवित् कुले भवति, य एवं वेद ॥ सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा–मितेरपीतेर्वा । मिनोति ह वा इदं सर्वं, अपीतिश्च भवति–य एवं वेद । अमात्रश्च-तुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिवः–अद्वैतः । एवमोङ्कार आत्मैव । संविश-त्यात्मना (अमृतात्मना–सर्वभूतान्तरात्मना) आत्मानं (जीवात्मानं–भूतात्मानं) य एवं वेद, य एवं वेद ॥

—माण्डूक्योपनिषत् ।

अयमत्र संग्रहः—

(९) अवस्थाप्रवर्त्तकभोक्तात्मस्वरूपपरिलेखः—

(❀)–प्रपञ्चोपशमः–(चतुर्थः–सर्वः) –सर्वाधारः–अर्धमात्रासमतुलितः–साक्षी
(१)–प्राज्ञः –(दिव्यः–एकविंशः–ऐन्द्रः) –सुषुप्त्यवस्थाधारः–मकारमात्रिकः–आनन्दभुक्
(२)–तैजसः (आन्तरिक्ष्यः-पञ्चदशः–वायव्यः)-स्वप्नावस्थाधारः-उकारमात्रिकः-प्रविविक्तभुक्
(३)–वैश्वानरः) पार्थिवः–त्रिवृतः–आग्नेयः)–जाग्रदवस्थाधारः–अकारमात्रिकः –स्थूलभुक्

} प्रणवोङ्कारमूर्त्तिर्भोक्तात्मादेही

(१०) चतुष्पादात्मस्वरूपपरिलेखः—

१—इन्द्रियानुगतो वैश्वानरः —(इन्द्रियाणि)—जाग्रद्‌वस्थाभूमिः
२—प्रज्ञानमनोनुगतस्तैजसः —(मनः)—स्वप्नावस्थाभूमिः
३—विज्ञानबुद्ध्यनुगतः प्राज्ञः —(बुद्धिः)—सुषुप्त्यवस्थाभूमिः
४—महानात्मानुगतः प्रपञ्चोपशमः–(महान्)—सर्वावस्थाभूमिः

} –सोऽयमात्मा चतुष्पात् 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'

अयमत्र सर्व्वसंग्रहः— (११)–अधिदैवत–अध्यात्मसमतुलनपरिलेखः—

—सर्वबलविशिष्टरसैकघनः परात्परः	—अभयम्]——सर्वभावः
(*) त्रिपुरुषपुरुषात्मकः–पुरुषः	—साक्षी (श्वोवसीयसमनः)]–पुरुषभावः
(१) स्वायम्भुवाऽव्यक्तः –परमात्मा	—शान्तात्मा (विरजः) } प्रकृतिभावाः
(२) पारमेष्ठ्यः –प्रजापतिः	—महानात्मा (सत्त्वम्) } प्रकृतिभावाः
(३) सौरः –हिरण्मयः पुरुषः	—विज्ञानात्मा (बुद्धिः) } प्रकृतिभावाः
(४) चान्द्रः –इरामयः पुरुषः	—प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमनः) } प्रकृतिभावाः
–१–दिव्येन्द्रमूर्त्तिः –सर्वज्ञः	—प्रज्ञानात्मा (आनन्दभुक्) } भोक्ता
–२–आन्तरिक्ष्यवायुमूर्त्तिः –हिरण्यगर्भः	—तैजसात्मा (प्रविविक्तभुक्) } भोक्ता
–३–पार्थिवाग्निमूर्त्तिः –विराट्	—वैश्वानरात्मा (स्थूलभुक्) } भोक्ता
त्रयस्त्रिंशानुगतः(३३) –दिक्सोमः (५)	—श्रोत्रम् } भोगसाधनानि
त्रिणवानुगतः(२७) –भास्वरसोमः(४)	—इन्द्रियमनः } भोगसाधनानि
एकविंशानुगतः(२१) –आदित्यः(३)	—चक्षुः } भोगसाधनानि
पञ्चदशानुगतः(१५) –वायुः(२)	—प्राणः } भोगसाधनानि
त्रिवृदनुगतः(६) –अग्निः(१)	—वाक् } भोगसाधनानि
(५) भौमः— –भूतेशः	—शरीरम्] भोगायतनम्
इति नु–अधिदैवतम्	——इति नु—अध्यात्मम्
पूर्णमदः	——पूर्णमिदम्
सोऽसौ	—योऽहम्
योऽसौ	——सोऽहम्

"सर्वमिदमोङ्कार एव"

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्त्वा धीरो न शोचति॥
इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम्॥
सत्त्वादधि महानात्मा,महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तस्तु परःपुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति॥

—कठोपनिषत् ६।६।७,८।

एकोनविंशतिसंख्यानुगत पूर्वोद्धृत औपनिषद वचनों के मानसिक समसमन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि—ब्रह्मयोनिभूत सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा के महदायतन में प्रतिष्ठित वैश्वानर-तैजस–प्राज्ञभावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थशक्तिमय बनता हुआ भोक्ता देही कर्म्मात्मा इन्द्रिय–प्रज्ञानमन–विज्ञानबुद्धि, इन तीन प्राकृत भावों के सहयोग से क्रमशः जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति नाम की तीन सुप्रसिद्ध अवस्थाओं का सहजरूप से अनुगामी बना रहता है, बना रहना चाहिए। 'बना रहना चाहिए' यह सन्दिहान वाक्य इस लिए प्रयुक्त हुआ कि, यदि विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रिय–शरीरादि–सूक्ष्मतम–सूक्ष्मतर–सूक्ष्म–स्थूल–चारों आभ्यन्तर–बाह्य साधनों के द्वारा कर्म्मात्मा सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा की सहज–प्राकृतिक–ईश्वरेच्छा का अनुगामी बना रहता है, तब तो इसके शारीरिक–ऐन्द्रियक–मानसिक–एवं बौद्ध कर्म्म भी उत्थिताकांक्षारूपा सहजकामनालक्षणा सहजेच्छा से ही सुसमन्वित बने रहते हैं। यदि प्रज्ञापराधवश कर्म्मात्मा उत्थाप्याकांक्षारूपा कृत्रिमकामनारूपा इच्छा का क्रीतदास बन जाता है, तो इस अवस्था में यह उस सहज आत्मकामनानुग्रह से वञ्चित होता हुआ लक्ष्यभ्रष्ट बन जाता है। एवं इस दुरवस्था में आकर ही यह लक्ष्यभ्रष्ट–सर्वभ्रष्ट मानव भूतदृष्टिपरायण बनता हुआ भौतिक–स्थूलकार्य्यकारणों की मीमांसा–जिज्ञासा–प्रश्नोत्तरविमर्शाकांक्षा में प्रवृत्त हो जाता है।

सहजरूप से जाग्रदवस्था में संयुक्त सहज मानव सहज कर्म्मों में प्रवृत्त होता हुआ सहजभावापन्न भावना–वासनासंस्कारपुञ्जों से समन्वित होता हुआ सहजरूप से विश्रामानुगामी बन कर भोक्ता बन सहज स्वप्नद्रष्टा हो गया। ऐसे सहज मानव के सहज स्वप्न वास्तव में शुभाशुभ भावों के सूचक बनते रहते हैं। स्वप्नावस्थापर्य्यन्त कर्म्मप्रवृत्त्याधारभूत भावना–वासनासंस्कारपुञ्ज अन्तर्जगत् में उद्बुद्ध हैं, विकसित हैं। अतएव स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था की भाँति विविध सूक्ष्म कर्म्म वस्तुगत्या प्रक्रान्त रहते हैं। जो अर्वाचीन दार्शनिक स्वप्नवत् जगत् का मिथ्यात्त्व प्रतिपादन करने की महद्भ्रान्ति करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, जब स्वप्न ही मिथ्या नहीं, तो तदाधारेण **'नामरूपे वै सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः'** (शत० ब्रा० १४।४।४।४) इत्यादि श्रौती घोषणाओं से अनुप्राणित सर्वथा 'सत्य' विश्व को मिथ्या प्रमाणित करने का साहस कथमपि क्षम्य नहीं माना जा सकता। शशशृङ्ग–खपुष्प–वन्ध्यापुत्र–आदि कतिपय उदाहरण तो अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए फिर भी हम मान्यकोटि में अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। किन्तु जिस स्वप्नजगत् में तदनुबन्धी सूक्ष्म कर्म्मों का स्थूल परिणाम भूत-परिणामवत् प्रत्यक्ष दृष्ट है, उस स्वप्नजगत् को तो कथमपि काल्पनिक–मातिसिद्ध–किंवा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। स्वयं मूलदर्शन ने (वेदान्तसूत्र) जब कि–**'सन्ध्ये सृष्टिराह हि–सूचकश्च हि'** इत्यादि रूप से स्वप्न को शुभाशुभ भावों का सूचक घोषित किया है, तो विदित नहीं किस अज्ञात वेदान्तनिष्ठा–व्याख्या के आवेश से वेदान्तव्याख्याताओंने स्वप्नवत् जगन्मिथ्यावाद की कल्पना कर डाली ?। त एव प्रष्टव्या अभिनिविष्टाः।

'सुप्तोऽहं किल विललाप' इत्यादि अनुभूतियाँ स्पष्ट हैं। स्वप्न में मानव के अश्रुपात होते देखे गए हैं, अट्टाट्टहास-मन्दहास-अलग्ल वैखरीवागुच्चारण श्रुतोपश्रुत है। स्वप्नानुगत दाम्पत्यकर्म्म के परिणामस्वरूप रेतःस्खलन 'स्वप्नदोष' नाम से प्रसिद्ध ही है। यदि इन स्थूल-प्रत्यक्षदृष्ट परिणामों के अनुरूप स्वप्न में कर्म्म न होता, तो इन परिणामों का एवंविध मूर्त्तरूप खपुष्प-वन्ध्यापुत्रादिवत् सर्वथा असम्भव ही बना रहता। इसीलिए तो इस व्याख्यात्मक भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में हमें विवश बन कर यह कहना ही पड़ रहा है कि, नैगमिक सर्गव्याख्यालक्षणा आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट यह केवल तत्त्वमीमांसात्मक भारतीयदर्शन 'दर्शन' से अधिक कुछ भी तो नहीं है। अलमतिपल्लवितेन। उत्तर-खण्ड में थोड़े विस्तार से दार्शनिक दृष्टिकोण की मीमांसा होने वाली है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर दिया जाता है। निष्कर्षतः ये स्वाप्न अनुभूतियाँ अपने उदर्कभावों से यह प्रमाणित कर रहीं हैं कि, स्वप्नानुगत सांस्कारिक कर्म्म केवल भातिसिद्ध-काल्पनिक पदार्थ नहीं हैं, अपितु स्थूल बाह्यजगद्वत् सत्ता-सिद्ध सत्य तत्त्व हैं। अतएव 'स्वप्नवत् जगत् मिथ्या' वाक्य के स्थान में अवश्य ही निगमनिष्ठ मानव को **'जगत्वत् स्वप्न भी सत्य'** इस वाक्य का प्रतिष्ठान कर लेना चाहिए।

हाँ, तो प्रकृत दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। इत्थंभूता सहज स्वप्नावस्था के अनन्तर संस्कारसमन्वित-प्रज्ञानमन विज्ञानज्योति से सर्वथा अभिभूत होता हुआ विज्ञानद्वारा पुरीततिनाड़ी के मार्ग से स्वाधार-सर्वाधार आत्मदेवता में अपीत हो जाता है, यही इस की सुषुप्त्यवस्था है, जिसे ब्रह्मावस्था (अद्वैतावस्था) से समतुलित माना गया है दाम्पत्यभाववत्। इस अवस्था में सब कुछ अपीत है। यहीं वह मूलप्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, जिसके समन्वय की अब तक चेष्टा हुई है। जबकि कामना-संस्कार-क्रिया-बुद्धि-मनः-इन्द्रियव्यापार-आदि सब कुछ इस अवस्था में विलीनवत् है, तो पुनः जाग्रदवस्था किसकी कामना-किसकी प्रेरणा से आविर्भूत हो पड़ी ? यही तो आलोचक का मुख्य मूलप्रश्न है। जो समाधान इस प्रश्न का है, वही समाधान उस प्रश्न का है। समाधान का मूलाधार है **'बल की सहज अवस्था'**, जिसका शाश्वत चंक्रमणात्मक अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तादि धारारूप से सतत चंक्रमण होता रहता है। चंक्रमण सहज, तदनुगता कामना-प्रेरणा सहज। और इस सहज परिवर्त्तन में कृत्रिम कार्य्य-कारणात्मक प्रश्नों का समावेश सर्वथा अवरुद्ध।

क्षणभावापन्न बलों की 'सुप्तावस्था-कुर्वद्रूपावस्था-निर्गच्छदवस्था' रूप से तीन मुख्य अवस्थाएँ मानीं गई हैं। ये ही तीनों अवस्थाएँ विज्ञानपरिभाषानुसार क्रमशः 'बल-प्राण-क्रिया' इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। सुप्तावस्था में वही बल 'बल' कहलाया है, कुर्वद्रूपावस्था में वही बल 'प्राण' कहलाया है, एवं निर्गच्छदवस्था में वही बल 'क्रिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उदाहरण के माध्यम से इस बलत्रयी का समन्वय कीजिए। आप सशक्त हैं, इसका यह अर्थ हुआ कि आप बलवान् हैं। तात्पर्य्य, आप में बल-मात्रा आवश्यकतानुसार परिपूर्ण है। इसी बल के आधार पर तो आप गमनागमन-अशनपानादि करने में सशक्त (सबल-समर्थ) माने जाते हैं। हाँ, तो आपको अपने दैनंदिन नियमानुसार सहजभाव से

अपने नियत सहज समय में गन्तव्य स्थान की ओर गमन करना है। इस गमन से पूर्व आप यथास्थान सहज भाव से समासीन हैं। इस आसीनावस्था में आपका बल (गत्युन्मुख बल) 'सुप्त' माना जायगा, जिसे कि आपने अभी कार्य्यरूप में परिणत नहीं किया है, किन्तु निकट भविष्य में हीं कार्य्यरूप में परिणत करने वाले हैं। इस अकुर्वद्रूपावस्थापन्न बल को ही 'सुप्तबल' कहा जायगा, यही 'बल' कहलाएगा।

सहसा सहजभाव से बिना किसी तात्कालिक कामना से प्रेरित होकर नियत समय पर गन्तव्य-स्थान की ओर आप अभिमुख हो पड़ते हैं। सुप्त–सञ्चित–कोशात्मक बल जागरूक हो पड़ता है, कुर्वद्रूपावस्था में परिणत हो जाता है। बल की गतिरूपा यही द्वितीयावस्था 'प्राण' कहलाई है। इस प्रकार आप कबतक–कहाँतक–कितने वेग से गत्युन्मुख बने रह सकते हैं ?, प्रश्नों का समाधान कोशबलोक्थ के द्वारा प्राणरूप में परिणत बल की इयत्ता पर ही अवलम्बित है। प्राणावस्था में परिणत बल शनैः शनैः व्ययभावानुगत भी तो बनता रहता है, दूसरे शब्दों में खर्च भी तो होता रहता है। ऐसा भी क्षण आ सकता है, जब आप एक पादमात्र भी अग्रगामी बनने में असमर्थ हो जायँ। इसलिए कि, प्राणावस्थापन्न बल अपने सहज विस्रंसन–संक्षरण–धर्म्म से खर्च जो होता रहता है। यही बल की तीसरी निर्गच्छदवस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंनें गुणभूतावयवानुगत धाराबल के माध्यम से 'क्रिया' नाम से व्यवहृत किया है*।

(६९)—ज्ञान–इच्छा–क्रतु–कर्म्मस्वरूपपरिचय—

एक अन्य दृष्टिकोण से बलावस्थात्रयी का समन्वय कीजिए। आप का हाथ अभी निश्चेष्ट है। मक्षिका–मशकादि के दंश निवारणार्थ निश्चल भी हाथ सहसा गतिरूप में परिणत हो जाता है। इस हस्तविधूननरूप कर्म्म में 'ज्ञान–इच्छा–क्रतु–कर्म्म' ये चार भाव समाविष्ट माने गए हैं। 'मैं हाथ उठाऊँ' इस सहज इच्छा का मूलाधार (जिसके कार्य्यकारण से हम स्वयं भी परिचित नहीं हो पाते) मनोमय-प्रज्ञानज्ञान है, वही सम्पूर्ण इच्छारूप अर्कों (रश्मियों) का मूल उक्थ (प्रभव) है। इसी आधार पर 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही हाथ में आमूलचूड़रूप से एक प्रकार का कम्पन-सा हो पड़ता है, जिसका अर्थ है आभ्यन्तर प्राणव्यापार। जिसे संस्कृत भाषा में कृति–यत्न–चेष्टा आदि कहा जाता है, वही छन्दोभ्यस्ताभाषा (वेदभाषा) में 'क्रतु' कहलाया है। अर्द्धाङ्ग (लकवा) का रोगी कामना करता है, कामना को कर्म्मरूप स्थूलभाव में परिणत करने वाला भौतिक शरीर भी यहाँ है। किन्तु भूत तथा मन, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहने वाला प्राण इसका मूर्च्छित है। अतएव इसकी कामना कार्य्यरूप में परिणत नहीं हो पाती। यही 'कृति' का निदर्शन है। इस आभ्यन्तर–सुसूक्ष्म–प्राणव्यापाररूप क्रतु के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं हाथ (हस्तात्मक स्थूलभूत) क्रियाशील बन जाते हैं, हाथ हिल पड़ता है। यही 'कर्म्मावस्था' कहलाई है, जिसे

---

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः 'क्रिये'ति व्यपदिश्यते ॥
—वाक्यपदी (भर्तृहरिर्म्महावैय्याकरणः)।

विज्ञानभाषा में **'दक्ष'** कहा गया है। अतएव कर्मवृत्ति 'दक्षता–दाक्षिण्य' कहलाई है, तद्युक्त मानवश्रेष्ठ 'दक्ष' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही चान्द्रकक्षात्मक दक्षवृत्त के आधार पर दक्षप्रजापति का सुप्रसिद्ध पौराणिक इतिहास अवतीर्ण हुआ है। इस प्रकार मनोमय ज्ञान, तज्जन्या इच्छा, तज्जन्य क्रतु, तज्जन्य कर्म, चारों के समसमन्वय से ही 'कृत' (कर्म्मस्वरूपनिष्पत्ति) भाव का उदय होता है, जैसाकि अभियुक्तोंनें कहा है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म, तदेतद् 'कृत' मुच्यते ।।

(७०)–बल-प्राण-क्रिया-स्वरूपपरिचय—

महानात्मा मनोमय है, कृतिभाव प्राणमय है, कर्म्मभाव वाङ्मय है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ही ज्ञान सहकृत कामना–कृति–कर्म्म–रूप कृतात्मा नामसे प्रसिद्ध हुआ है, जिसका–**'कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि'**—(छान्दोग्य० उप० ८।१३।१) इत्यादि रूपसे यशोवर्णन हुआ है। यही कृतात्मा श्रौतस्मार्त्त उपनिषदों में– **'युक्तात्मा'– 'आरूढ़'– 'पर्य्याप्तकाम'– 'आत्मकाम'– 'आप्तकाम'** इत्यादि उपाधियों से विभूषित हुआ है *। इन चारों कृतपर्वों में मनोमय बल सुप्तबल है, ज्ञानसहकृत–इच्छाभाव, एवं तदभिन्न आभ्यन्तर प्राणबलात्मक कृतिभाव कुर्वद्बल है। एवं भूतानुगत कर्म निर्गच्छद्बल है। इस दृष्टि से भी बल–प्राण–क्रिया का समन्वय हो रहा है।

अयमत्र संग्रहः—ज्ञानेच्छाक्रतुकर्म्मविषयसमष्टिपरिलेख :—

१—ज्ञानम् (उक्थम्) २—इच्छा (अर्काः)	—मनस्तन्त्रम् (ज्ञानम्)—सुप्तबलात्मकं बलम् (१)	—समष्टिरेव **(कृतभावः)**
३—क्रतुः (अर्कभावाः) ४—कर्म (अर्करूपाः) *विषयाः (अशीतयः)	—प्राणतन्त्रम् (क्रिया)—कुर्वद्रूपात्मकः प्राणः (२) —अर्थतन्त्रम् (अर्थः)—निर्गच्छद्रूपा क्रिया (३)	

***कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र ॥**
पर्य्याप्तकामस्य 'कृतात्मनस्तु' इहैव सर्व्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥१॥
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः 'कृतात्मानो' वीतरागाः प्रशान्ताः ॥
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा 'युक्तात्मानः' सर्व्वमेवाविशन्ति ॥

(टिप्पणी का शेषांश पृष्ठ २४४ पर देखिए) —मुण्डकोपनिषत् ३।२।२,५।

(७१)-बल का सहज धर्म्म, और प्रश्न समाधान—

अवस्थात्रयी बल का सहज स्वभाव है। कब कैसे कहाँ क्या हो पड़ता है ?, इत्यादि प्रश्नपरम्पराओं का बल के इस सहजकाम–सहजप्रेरणा–सहजक्रिया–सहजकर्म्मों के सम्बन्ध में प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सुप्तावस्था का यह अर्थ किस आधार पर मान लिया गया कि, अब वह बल अपने सहज कुर्वद्भाव से ही उच्छिन्न हो गया। कुर्वद्रूपता का अभिभवमात्र है अव्यक्तावस्था में। जैसे कुर्वद्रूपता–कामना–क्रियाभावों का अभिभवभावात्मक अव्यक्तभाव सहज है, स्वाभाविक है, तथैव इनका व्यक्तीभाव भी तो सहज ही रहेगा। इस दिशा में किसने, कब, कहाँ प्रेरित किया ? प्रश्नों को अवसर ही कहाँ प्राप्त होता है। सुषुप्ति में श्रवण–मननादि सब व्यापार अव्यक्तभाव में परिणत हो जाते हैं, इसका यह अर्थ कैसे मान लिया गया कि, ये सब व्यापार नष्ट ही होगए, अतः अब इनकी पुनः प्रवृत्ति के लिए किसी नवीन सृष्टि-कर्म्म–नवीन कामना–नवीन प्रेरणा–नवीन क्रिया–कर्म की अपेक्षा है ? **'नासतो विद्यते भावः–नाभावो विद्यते सतः'** लक्षण सत्-कार्य्यवाद सिद्धान्त से परिचित मानव कभी इस आविर्भाव–तिरोभावमूलक सहज सर्ग–प्रलयधारा में इस प्रकार के न च–नुच की कल्पना भी नहीं कर सकता। **'धाता यथापूर्वमकल्पयात्–'–'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'** इत्यादि निगमवचन बलानुबन्धी इसी शाश्वत धाराक्रम का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसके महिमभाव (विवर्त्तभाव) से अपरिचित यथाजात मानव ही कब–कैसे–किसलिए ? इत्यादि निरर्थक प्रश्नों का अनुगामी बना रहता है। जो समाधान यह अपनी विज्ञानदृष्टि से अपनी सुषुप्त्यावस्था के अनन्तर समागत जाग्रत् अवस्था के लिए करेगा, कर सकेगा ?, वही समाधान उस सुप्त मायाबल के सम्बन्ध में समन्वित मान लिया जायगा, जो सर्वलयभाव शाश्वत बललक्षण मायातीत अनन्तर परात्पर में सुप्त हो जाया करता है।

वह सत्कार्य्यवादी ऐसा निरर्थक प्रश्न करेगा ही क्यों, जिसने यह मर्म्म हृदयङ्गम कर लिया है कि शिल्पी पाषाणशिला से किसी नवीन प्रतिमा का निर्म्माण नहीं करता। अपितु अव्यक्तरूप से पूर्व से ही विद्यमान यथेच्छ प्रतिमा के आवरण को हटाकर मूर्त्ति को अपने शिल्पकौशल से व्यक्तमात्र कर दिया करता है। नहीं, तो वह पानी की प्रतिमा क्यों नहीं बना डालता ?। दुग्ध से ही तो घृत का विनिर्गमन सम्भव है। जो है, उसी का तो व्यक्तीभाव होता है। अहरागम में अव्यक्त से व्यक्त का सहज रूप से आविर्भाव, एवं रात्र्यागम में व्यक्त का अव्यक्त में सहज रूप से ही विलयन, इस सहज सर्ग–लयभाव में काल्पनिक कार्यकारण–प्रश्नोत्तर–विमर्श का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। स्पष्ट है कि—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

—गीता ८।१८।

(२४३ की टिप्पणी का शेषांश)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ गीता ७।१८।

(७२)-अचिन्त्याः खलु ये भावाः—

अलमतिपल्लवितेन। तुष्यद् जंनन्यायेन विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्वमूलकारणभूत-सीमाभावप्रवर्त्तक-अव्यक्तावस्थापन्न मायाबल के प्राथमिक उदय से सम्बन्धित आलोचक के कार्य्यकारणभाव के समाधान की चेष्टा की गई। वह इससे कृतात्मा (संतुष्ट) बन जाय, अथवा तो अभिनिवेशानुग्रह से अपनी विमूढ़ता को ओर भी दृढ़ बनाता हुआ सर्वज्ञानविमूढ़ अकृतात्मा ही बना रह जाय, इत्यादि मीमांसाओं का भार उसी के बुद्धि-तन्त्र पर विसर्जित करते हुए हम तो जो सर्वान्त में अपनी उसी 'पुनः एक बार बात कुछ समझने जैसी है' इस धारणा के माध्यम से इस सम्बन्ध में **'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'** आदेश को शिरोधार्य्य कर यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त समझते हैं कि, उस अनन्त ब्रह्म के अनन्त स्वरूप को भी जिस महामाया जगदम्बा उमा हैमवती पीताम्बरा भगवती ने सीमित बना डाला, उस महिमामयी विवर्त्ताधारभूता महामाया के आविर्भाव-तिरोभाव जैसे अचिन्त्य प्रश्न को श्रद्धापूर्वक अचिन्त्य ही मानते हुए उसके इसी निःसीम अनुग्रह की कामना से सर्वात्मना तच्चरणों में अर्पित कर रहे हैं अपनी सामान्य बुद्धि को निम्नलिखित आर्षवाणी के आधार पर—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

(७३)-युगानुगता लोकभावुकता—

वर्त्तमानयुग की लोकभावुकता के कारण समुपस्थित सामयिक उद्वेगकरी प्रश्नचर्चा को यहीं सदा के लिए समाप्त करते हुए हम पुनः अपने श्रद्धाशील पाठकों को उस महामाया की शरण में आकर्षित कर रहे हैं, जिसने अपने बलानुबन्धी सहजभाव से उदित होकर व्यापक परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को स्वपुरसीमा से सीमित करते हुए 'पुरुष' अभिधा में परिणत कर दिया है, जो कि मायावच्छिन्न परात्पर अब परात्पर न कहलाकर 'पुरुष' नाम से ही घोषित होने लगा है। इसी दुर्विज्ञेय पुरुषाव्यय की उपासना में यह भावुक उसी महामायानुग्रह से प्रवृत्त होने का साहस कर रहा है।

पृष्ठ सं० २१२ से आरम्भ कर पृष्ठ सं० २१४ पर्य्यन्त यह स्पष्ट हुआ है कि, असीम परात्पर में सीमाभावसम्पादक मायाबल का सहज भाव से उदय हुआ। इससे परात्पर ब्रह्म का तत्प्रदेश सीमित बनता हुआ इस मायापुर सम्बन्ध से 'पुरिशेते' निर्वचन से 'पुरिशयः' बन गया, जो कि 'पुरिशय' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं (महर्षियों) की परोक्षभाषा में—**'पुरुष'** अभिधा से प्रसिद्ध हुआ। इस पुरुष का केन्द्रस्थ बल ही 'श्वोवसीयस्' नामक काममय आत्ममन कहलाया। इससे सर्वप्रथम उद्भूत मनोरेतोभूता कामना से यही अव्ययपुरुष-निष्कलपुरुष-आगे चलकर पञ्चकलात्मक बनता हुआ 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस स्थिति के प्रसङ्ग में ही यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो गया था कि, असीम अतएव सर्वप्राप्त-आप्त-परात्परब्रह्म में सुप्त मायाबल को किसने प्रेरित किया ?। इस प्रासङ्गिक प्रश्न का प्रसङ्गधिया विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से समाधान करने की चेष्टा की गई। अब पुनः मायी निष्कल अव्यय पुरुष के पञ्चकल, तत्र प्रतिज्ञात कोशस्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

(७४)—मनोमय कामात्मक रेत—

मनोमय कामात्मक रेत का मनोमयमात्र निष्कल अव्ययपुरुष में **'एकोऽहं बहुस्याम्-प्रजायेय'** इत्येवंरूपा भूमाभावपरिणति की कामना से सहज कामनामयसूत्र उदित हुआ। इस कामोदय से निष्कल अव्यय-पुरुष को अपनी भूमा के साफल्य के लिए क्या प्राप्त हुआ ?, दूसरे शब्दों में अपनी इस प्रथम कामना से अव्यय को क्या लाभ हुआ ?, प्रश्न का समाधान है—"निष्कलरूपता से अव्ययपुरुष का कलात्मक 'सकल' रूप मे परिणत हो जाना"। 'सकल' शब्द एक रहस्यार्थक शब्द है। लोकव्यवहार में 'सकल' शब्द का उपयोग—सम्पूर्ण—पूर्णता' आदि भावों के लिए हुआ करता है, जैसा कि—**'सकल ब्रह्माण्ड नायक परमेश्वर'**—**'सकलविश्वाधिष्ठाता'—'सकलत्रिभुवनभाग्यविधाता'** आदि लोकव्यवहारों से प्रमाणित है। तत्वतः 'सकल' शब्द का अर्थ सम्पूर्ण, किंवा पूर्णता नहीं है। अपितु कलाभाव—खण्डभाव—का ही नाम 'सकल' है (कला-सहित—खण्डसहित)। निष्कल अव्ययपुरुष की पाँच कलाएँ हीं पुरुष का कलात्मक—खण्डात्मक—सकलभाव है।

(७५)—'सकल' शब्द मीमांसा—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जब तक पुरुषात्मा रसबलचितिलक्षणा पाँच कलाओं में अपने आपको विभक्त—परिणत न कर पञ्चकल चिदात्मस्वरूप में परिणत नहीं हो जाता, तब तक विश्वसर्गरूपा खण्डात्मिका—नाना-भावात्मिका परिपूर्णता (विश्वस्वरूपनिष्पत्तिलक्षणा विश्वपरिपूर्णता—सम्पूर्णत्व) असम्पन्न ही बनी रहती है। सकल (कालात्मक—खण्डात्मक—नानाभावात्मक—विभिन्नपदार्थात्मक) पाञ्चभौतिक महाविश्व की परिपूर्णता (स्वरूपनिष्पत्ति) निष्कल अव्ययपुरुष के सकलभाव (पञ्चकलात्मकभाव) पर ही अवलम्बित है। इस विश्वपूर्णता—साधकता की दृष्टि से ही आत्मवाचक सकल शब्द का लौकिक अर्थ 'पूर्णता' बन गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं निष्कल अव्ययेश्वर की भूमाभावात्मिका परिपूर्णता भी अमुक दृष्टिकोण से कलात्मक—नाना-भावात्मक विश्वस्वरूप पर ही अवलम्बित है। विश्व ही 'विश्वेश्वर—पूर्णेश्वर' अभिधाओं का मूल बनता है। अतएव सकल (कलात्मक) विश्वनिबन्धना ईश्वरपरिपूर्णता की दृष्टि से भी 'सकल' शब्द व्यवहार में पूर्णता का वाचक बन गया है। इस प्रकार निष्कल अव्यय की कलाओं के द्वारा विश्व परिपूर्ण बनता है, इस आत्म-निबन्धन दृष्टिकोण से, तथा सकल विश्व के द्वारा विश्वेश्वर 'परिपूर्ण' अभिधा से घोषित होता है, इस विश्वनिबन्धन दृष्टिकोण से, उभयथा कलाभावात्मक भी सकलशब्द व्यवहार में पूर्णतावाचक बन गया है।

(७६)—रसबल की व्यापकता—

रसबलात्मिका महामाया की परिधि के आसमन्तात्—चारों ओर से वेष्टित हृदयबलावच्छिन्न मनोमय—रसबलात्मक निष्कल—अव्ययात्मा में भूमाभावात्मिका पूर्णता के उदय के लिए सर्वप्रथम 'कामरेत' का प्रादुर्भाव हुआ, कामना का आविर्भाव हुआ। इस रेतोमयी (सृष्टि—मुक्ति—बीजमयी) कामना का क्या स्वरूप ?, प्रश्न का उत्तर 'रस—बल' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। सद्रूप रस, एवं असद्रूप बल, दो के अतिरिक्त, दोनों के समन्वित, किंवा वियुक्त रूप के अतिरिक्त कामना का यथार्थ में अन्य कोई रूप हो भी क्या सकता है। रस—बल, दो ही तत्त्व परिधिमण्डल में व्याप्त, रस—बल, दो ही तत्त्व केन्द्र में व्याप्त। दो ही तत्त्व हृदयस्थ मन के स्वरूपनिर्म्मापक। फलतः मनोमयी कामना में रसबल के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है। यह

रसबल ही कामना का वास्तविक स्वरूप है । अतएव इस अव्ययात्मानुगता मनोमयी कामना के हम 'रसकामना'-'बलकामना',-रसबलकामना, ये तीन ही नामकरण कर सकते हैं। मन रस की कामना कर सकता है, बल की कामना कर सकता है, रसबल दोनों की कामना कर सकता है। यही तो कामना का वास्तविक स्वरूप है । उक्थ का स्वरूप ही कामना का आधार बना करता है । अतएव जैसा स्वरूप उक्थ का होता है, 'अर्चंश्चरति' रूपा अर्कलक्षणा कामना का भी वैसा ही स्वरूप हुआ करता है । उदाहरण से समन्वय कीजिए ।

(७७) सांस्कारिक उक्थस्वरूपपरिचय—

स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, **'यान्येव जाग्रत् पश्यति-तानि सुप्तः । इति'** (बृ० उप० ६।३।)। तात्पर्य्य, स्वप्नावस्था में मन अपने मनोराज्य में संस्कारपुञ्ज के द्वारा उन्हीं दृश्यों को देख सकता है, देखता है, जिन्हें जाग्रदवस्था में देख सकता है, देख चुका है, अनुभव कर चुका है । ठीक यही स्थिति कामना के सम्बन्ध में समझिए । मन उन्हीं विषयों की कामना कर सकता है, करता है, जो संस्काररूप से, बीजरूप से पहिले से ही इसके प्रज्ञाधरातल पर प्रतिष्ठित रहा करते हैं । जिनका संस्कार मन में नहीं होता, उनकी इच्छा भी नहीं होती, नहीं हो सकती। कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-मधुर-(कड़ुए-खट्टे-खारे-तीखे मीठे) स्वादु अस्वादु भावों की सत्ता स्वयं मानसप्रज्ञा में पहिले से ही विद्यमान रहती है । यही तो वह सुप्रसिद्ध सत्कार्य्यवाद सिद्धान्त है, जिसका निकट पूर्व में हीं प्रासङ्गिक प्रश्नसमाधान में दिग्दर्शन कराया गया है । **निम्ब-आमलक-लवण-मरीचिका-इक्षुरस** (नीम-आँवला-नमक-मिर्च-गन्ने का रस) आदि कटु-अम्लादि पदार्थों में कटु-अम्लादि तत्त्व नहीं हैं । अपितु ये तो कटु अम्लादि भावों के अभिव्यञ्जकमात्र है । दीपशलाका सुप्त दीप में ज्वाला का समावेश नहीं करती। अपितु अव्यक्त ज्वाला को व्यक्तरूप प्रदानमात्र कर देती है । तथैव निम्बादि पदार्थों के सम्पर्क से रसनेन्द्रिय में प्रतिष्ठित कट्वादिरस अभिव्यक्तमात्र हो पड़ते हैं । कहीं से इन रसों का अपूर्व आगमन नहीं होता । जिसकी रसनेन्द्रिय में जो रस संस्कारस्वरूप से जितनी मात्रा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है, उसकी रसनेन्द्रिय उसी मात्रा से तत्सजातीय पदार्थ के सम्पर्क से तद्रसानुभूति में समर्थ बना करती है । देखते हैं, स्वयं भी अनुभव करते हैं कि, किसी के लिए तिक्त मरीचिका अश्रुपात का कारण बन जाती है, एवं कोई इसे मधुररस की भाँति चर्व्वित कर जाता है । कहीं प्रचण्ड सीत्कार है, तो कहीं सीत्कार का आभास भी नहीं । ज्वरादिदशा में मधुर भी रस कटु प्रतीत होने लग जाते हैं । जिस जिस रसोक्थ पर किसी दोष का आक्रमण हो जाता है, वह वह रस अभिभूत होता हुआ तत्तदभिव्यञ्जक बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से भी उद्बुद्ध नहीं हो पाता । इस सहज स्थिति के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि, जिन भौतिक विषयों की मन कामना करता है, वे भौतिक विषय संस्काररूप से पहिले से ही मानसप्रज्ञा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं । जो संस्कार उक्थरूप से प्रज्ञा में नहीं हैं, उनकी इच्छा भी नहीं हुआ करती, नहीं हो सकती । सुप्रसिद्ध **"जात्यायुर्भोगाः"** भी सिद्धान्त का यही मूल है । यही दृष्टिकोण 'भाग्यवाद' की मूलप्रतिष्ठा बना करता है, जिसे पुरुषार्थानुगत स्वतन्त्र उक्थ से अभिभूत भी किया जा सकता है । पूर्वोक्थ अभिभूत किए जा सकते हैं, नवीन उक्थ प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं । प्रत्येक दशा में कामना के लिए उक्थ की पूर्वसत्ता अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित ही मानी जायगी ।

(७८)–रसबल का अन्तरान्तरीभाव—

उक्त सिद्धान्त से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, महामायावच्छिन्न रसबलात्मक अव्ययपुरुष में क्योंकि रसोक्थ–बलोक्थ, रूप से दो ही प्रकार के उक्थ हैं। अतः इसके काममय मनसे अर्करूपा कामना के भी रसकामना, बलकामना, किंवा उभयकामना, ये तीन हीं विवर्त्त हो सकते हैं। अभी दो कामना मान कर ही हम लक्ष्यमीमांसा में प्रवृत्त होते हैं। रसात्मिका **रसकामना**, बलात्मिका **बलकामना**, कामना के ये दो विभिन्न रूप हृद्य काममय अव्ययमनसे प्रादुर्भूत हुए। यह स्मरण रखने की बात है कि, अपने नैसर्गिक अन्तरान्तरीभावात्मक-ओतप्रोतभावरूप–विलक्षण सम्बन्ध के कारण–जिसका कामस्वरूपप्रतिपादिका श्रुति में हीं—**'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'** रूप से विश्लेषण हुआ है—रस और बल, दोनों में अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध रहता है, जिसका–**'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'—'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहित'** इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्टीकरण हुआ है। दोनों में आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। अपितु ओतप्रोतसम्बन्ध है, अविनाभाव सम्बन्ध है, जिसका लौकिक निदर्शन क्रियाशीला अँगुली मानी जा सकती है। अँगुली हिल रही है। यह हिलना क्रिया है। स्थूलभाषा में इस क्रिया को अँगुली का आधार माना जाताहै, एवं क्रिया को आधेय माना जाताहै। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। यदवच्छेदेन अँगुली है, तदवच्छेदेनैव क्रिया है। अँगुली के अणु अणु में क्रिया है, क्रिया के अणु अणु में अँगुली है। यही अविनाभावात्मक ओतप्रोत वह सम्बन्ध है, जिसका यथार्थ दर्शन तो एकमात्र रसबलक्षेत्र में ही सम्भव है। शुद्धरस, शुद्धबल, किंवा शास्त्रीय भाषानुसार निर्विशेष ऐकान्तिक रस, तथा निर्विशेष ऐकान्तिक बल, इन दो शब्दों का, निर्विशेष भावों का आप अपने ज्ञानीय जगत् में (बुद्धि में) अनुभवमात्र कर सकते हैं। किन्तु सत्ताद्दष्ट्या दोनों कभी स्वतन्त्र–निर्विशेष रूपसे नहीं रह सकते। अतएव जहाँ जहाँ भी 'रस' का उल्लेख होगा, सर्वत्र उन उन रसप्रकरणों में सर्वत्र रसगर्भ में बल का समावेश स्वतः समाविष्ट मान लेना होगा। एवमेव यत्र यत्र 'बल' का उल्लेख होगा, तत्र तत्र सर्वत्र बलगर्भ में रसका समावेश स्वतः समाविष्ट मान लिया जायगा। दूसरे शब्दों में 'रस' शब्द का सर्वत्र अर्थ होगा **'बलगर्भित रस'** (बल को गर्भ में रखनेवाला रस), एवं 'बल' शब्द का सर्वत्र अर्थ होगा **'रसगर्भित बल'** (रसको गर्भ में रखनेवाला बल) रसबलनिबन्धना–ओतप्रोतभावात्मिका इस सहज परिभाषा के माध्यम से हीं प्रस्तुत विश्वस्वरूप की तात्त्विकमीमांसा में हमें प्रवृत्त रहना पड़ेगा।

(७९)–सिसृक्षा–मुमुक्षास्वरूपपरिचय—

उक्त सहज परिभाषानुसार **'रसकामना'** का अर्थ होगा–**'बलगर्भिता रसकामना'**, जिसे शास्त्रोंनें **'मुमुक्षा'** कहा है। एवं **'बलकामना'** का अर्थ होगा–**'रसगर्भिता बलकामना'**, जिसे शास्त्रोंनें **'सिसृक्षा'** कहा है। सृष्टिस्वरूपनिबन्धना बलग्रन्थियों को उन्मुक्त–विमुक्त करते रहने वाली रसकामना ही 'मुमुक्षा' कहलाएगी, एवं सृष्टिस्वरूपनिबन्धना बलग्रन्थियों को दृढ़मूल बनाने वाली बलकामना ही 'सिसृक्षा' कहलाएगी। दूसरे शब्दों में सम्भूतिकामना को सिसृक्षा कहा जायगा, विनाशकामना को 'मुमुक्षा' माना जायगा। ध्वंसकामना मुमुक्षा कहलाएगी, निर्म्माणकामना सिसृक्षा मानी जायगी। 'लयकामना' को मुमुक्षा कहा जायगा, सर्गकामना को सिसृक्षा माना जायगा। एवं इन परस्परात्यन्तविरुद्ध भी इन दोनों कामनाओं को रसबलवत् एक ही बिन्दु में समसमन्वित माना जायगा, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतिसे स्पष्ट है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
—ईशोपनिषत

(८०)–ध्वंसनिर्म्माणमीमांसा—

प्रतिक्षण–विलक्षण–निर्म्माण–ध्वंस–चक्रपरम्परा के सहज शाश्वत आवर्त्तन का नाम ही वास्तविक 'सृष्टिविद्या', 'किंवा' सृष्टिविज्ञान' है। 'प्रतिक्षण' शब्द तो समझने के लिए–व्यवहारमात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतस्तु इस सृष्टिधाराचक्र के परिभ्रमण के सम्बन्ध में काल का नियमन कदापि कथमपि सम्भव नहीं है। दिग्–देश–कालभाव इस सहज–नित्य–शाश्वत सर्गलयधारा का कदापि कथमपि नियमन नहीं कर सकते, जिनके नियमनसूत्रों का केवल सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरमात्र से ही सम्बन्ध माना गया है। एवं जो मूलसृष्टिधारा–**'यस्मादर्वाक् सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते'** के अनुसार सम्वत्सर का भी मूल बनी हुई है, सम्वत्सरात्मक दिग्–देशकाल–चक्र जिस सृष्टिधारा के गर्भ में अपने नियमनसूत्रों का संचालन कर रहा है। तभी तो ऋषि को इस शाश्वत सृष्टिधारा के सम्बन्ध में **'क इत्था वेद, यत्र सः'** यह घोषणा करनी पड़ी है। क्षण–निमेष–काष्ठा आदि की कथा का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है, जब कि यदवच्छेदेन सिसृक्षा है, तदवच्छेदेनैव मुमुक्षा भी प्रकान्त रहती है। क्या महत्त्व शेष रह जाता है उन भूतकार्य्यकारणवादी आलोचकों की आलोचना का, प्रश्नपरम्परा का, जो अपनी काल्पनिक इतिहास दृष्टि के माध्यम से—'इससे पूर्व वहाँ तक यह–वहाँ से आगे यह' इत्यादि रूप से अपने कल्पनाप्रसूनों का सर्जन किया करते हैं। अन्तरान्तरीभावात्मक सहज धाराक्रम में रस–बल के सहजभावापन्न इस मुमुक्षा–सिसृक्षा क्रम में–'यहाँ से यह–वहाँ से यह' इत्यादिलक्षण कालनियमन का, तन्निबन्धना दिग्–देशभावानुगता इतिहासपरम्परा का संस्मरण भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बना रहा है। स्पष्ट है कि, रसबल की इस नैसर्गिक अविनाभूति के सम्बन्ध में भावुक मानव जब भी कभी भ्रान्ति कर बैठता है; वही क्षण इसके दुःख का श्रीगणेश बन जाया करता है। सम्भूति और विनाश, निर्म्माण एवं ध्वंस, सर्ग तथा प्रलय, इन दोनों बलरसनिबन्धन भावों की अविनाभावानुभूति जहाँ नैष्ठिक सहज मानव की अव्ययात्मानुगता सहज आत्मनिष्ठा है, वहाँ इस द्वन्द्वभाव की पार्थक्यानुभूति भावुक मानव की क्षरानुगता वैकारिक मानसिक भावुकता है। अव्ययात्मानुगत समत्त्वबुद्धियोग के उपदेष्टा भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में इसी अविनाभावलक्षणा समता (समत्त्वयोगमूलक समदर्शन) को लक्ष्य बनाते हुए ही पदे पदे भावुक अर्जुन के माध्यम से हमारे जैसे भावुक मानवों का अनुग्रहपूर्वक उद्बोधन कराया है।

(८१)–पञ्चचितिक चिदात्मस्वरूपमीमांसा –

बलगर्भिता रसकामना का अव्ययमन से उदय हुआ। इस रसकामना के उदय से केन्द्रस्थ मनोमय रसबलोमयमूर्त्ति निष्कल अव्ययपुरुष धरातल पर केन्द्र से परिधिपर्यन्त व्याप्त परिपूर्ण–रसबलात्मक अशीति–परिग्रह (कामनाभोग्यपरिग्रह) में से रस (बलगर्भित रस) की चिति (चयन–वेष्टन) हुई। यही **'प्रथमा रसचिति'** कहलाई, जिसमें बल सर्वथा सहचर–संशर–श्लथभाव से रस के साथ समन्वित रहा, अतएव ऐसे सहचरभावात्मक बल की विद्यमानता में भी वैज्ञानिकों ने इस बलरसोभयात्मिका भी मुमुक्षाकामनानुगता चिति को केवल **'रसचिति'** नाम से ही व्यवहृत कर दिया। अतएव इसे **'विशुद्धरसचिति'** मान लिया गया (अपने

ज्ञानक्षेत्र में)। विशुद्धरसात्मिका यही प्रथमचिति (बलसहचरभावापन्ना रसचिति) ही अव्ययात्मा की प्रथमा **'आनन्दकला'** कहलाई, जिसका **'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'** इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है। स्मरण रहे—यह रसात्मक आनन्द, किंवा आनन्दात्मक रस लोकप्रसिद्ध ऐन्द्रियक 'सुख' से सर्वथा विभिन्न विलक्षण तत्त्व है। सुख अपने परावलम्बनत्त्व (विषयालम्बत्त्व) से—जहाँ सादि–सान्त बनता हुआ क्षणिक है, अशाश्वत है, विनश्वर है, परिणामे दुःखान्त है, सहज 'ख' सम्बन्ध से ऐन्द्रियक बनता हुआ अनुकूलवेदनालक्षण दुःखैकसार ही है, वहाँ आनन्दात्मक रस स्वस्थानात्मक (अव्ययात्मस्थानात्मक) केन्द्रबल से अच्युत बना रहता हुआ अपने केन्द्रस्थ श्वोवसीयस् नामक मनोभाव के सम्बन्ध से श्वः श्वः भूमा–अनन्तभाव का स्वरूपसमर्पक–संग्राहक–संरक्षक बनता हुआ शाश्वत है, सनातन है, अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है, 'ख' (इन्द्रिय) सम्बन्ध से असंस्पृष्ट–वियुक्त–उन्मुक्त रहता हुआ शाश्वत शान्ति का प्रवर्त्तक है, शाश्वतशान्तिस्वरूप है। **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (व्याससूत्र) रूप से भगवान् व्यास ने इसी आनन्दरूपा अव्ययात्मनिबन्धना रसात्मिका प्रथमा अव्ययकला का ही यशोगान किया है।

(८२)–रसचिति का मूलाधार—

बलगर्भिता रसकामना की प्रक्रान्ति से आनन्दचिति पर पुनः बलगर्भित रस की चिति हुई। इस द्वितीया रसचिति में यद्यपि ग्रन्थिबन्धन तो नहीं हैं, किन्तु बलों का अबन्धनात्मक सहचर सम्बन्ध भी नहीं है। 'संशरबन्धन' नामक असंबन्धात्मक सम्बन्ध, (**'बहिर्य्याम सम्बन्ध'** नामक असम्बन्धात्मक संशर भावात्मक सम्बन्ध) तथा (**'अन्तर्य्याम सम्बन्ध'** नामक सम्बन्धात्मक ग्रन्थिबन्धनभावात्मक सम्बन्ध,) इन दोनों सम्बन्धों के मध्य का जो एक उभयधर्म्मात्मक सम्बन्ध होगा, वही इस दूसरी रसचिति का मूलाधार माना जायगा, जिसका अर्थ यह होगा कि, इस द्वितीया रसचिति में बल उद्‌बुद्धावस्थापन्न रहेगा, रस भी उद्‌बुद्धावस्थापन्न रहेगा, दोनों एक प्रकार से समतुलित रहेंगे। किन्तु ग्रन्थिबन्धनात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्धलक्षण यागसम्बन्ध नाम के अपनी सहज वास्तविक उद्‌बोधनावस्था से वञ्चित रहने के कारण यहाँ बल को निर्बल तथा रस को ही उद्‌बुद्ध–प्रधान–माना जायगा। एवं इसी प्राधान्य से इस द्वितीया चिति को बल के उद्‌बुद्ध बने रहने पर भी कहा जायगा रसचिति ही।

(८३)–अन्तर्वित्त, और अन्तर्म्महिमा—

इस द्वितीया रसचिति में क्योंकि बल प्रथमा चिति की अपेक्षा उद्‌बुद्ध हो जाता है, अतएव यहाँ बल का स्वाभाविक मृत्युनिबन्धन नानात्त्वधर्म्म भी जागरूक हो जाता है। इस बलनिबन्धन नानात्त्व से एकत्वनिबन्धन रसानुगत, किंवा रसरूप ज्ञानभाव भी नानाभावसहचारी बन जाता है। एकमात्र इसी आधार पर इस द्वितीया रसचिति को **'विज्ञानचिति'** (विविधं ज्ञानं–नानाभावापन्नं ज्ञानं–नानाभावानुगतो रस एव विज्ञानम्। तस्यैषा चितिर्विज्ञानचितिः) नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस प्रकार बलगर्भीभूता–सहचरबलनिबन्धना प्रथमा 'आनन्दचिति' नाम की रसचिति ही–रसात्मा ही–इस बलजागरूकावस्था में 'विज्ञानचिति' रूप में परिणत हो जाता है। वही यह है, जो कि विज्ञानचिति है। इसी रसनिबन्धना अद्वयभावना की श्रुति ने सर्वत्र सब चितियों में—**"तस्यैष एव शारीरात्मा, यः पूर्वस्य"** (तै० उप० २।३) इस प्रकार घोषणा की है। **बलसहचरभावनिबन्धना प्रथमा रसचिति, बलजागरूकभावनिबन्धना द्वितीया रसचिति, इन दोनों**

आनन्द-विज्ञानचितियों का एक स्वतन्त्र विभाग इसलिए माना जायगा कि, इन दोनों में ही तत्त्वतः प्राधान्य रस का ही है। रस ही वस्तुगत्या यहाँ उद्‌बुद्ध है। बल दोनों ही चितियों में सुप्तप्राय ही है। क्योंकि बिना बलग्रन्थिसम्बन्ध के केवल सहचर, किंवा जाग्रद्‌भावापन्न भी बल संसृष्टिलक्षण सृष्टिकर्तृत्त्व धर्म्म में असमर्थ बना रहता हुआ सुप्तवत् ही माना जायगा। तभी तो बल के रहते हुए भी इन दोनों चितियों को 'रसचिति' कहना अन्वर्थ प्रमाणित होगा। रस सुसूक्ष्मभाव है। सूक्ष्मता का अन्तर्भाव से सम्बन्ध है। अतएव इस उभयचितिसमष्टि को विज्ञानभाषा में **'अन्तश्चिति'** कहा जायगा, जिसका मूल बनती है केन्द्रस्थ रसबलोभयात्मक काममय पुरुषमन की बलगर्भिता रसकामनारूपा 'मुमुक्षा'। सहजरूप से बन्धन से विमुक्त रस की कामना मुमुक्षा ही तो मानी जायगी, जिससे ग्रन्थिबन्धनविमोक ही हुआ करता है। अतएव इस अन्तश्चितिरूप आनन्दविज्ञानमय अव्ययपुरुष को अवश्य ही **'मुक्तिसाक्षी'** आत्मा कहा और माना जायगा, एवं यही मुमुक्षारूपा कामना का प्रथम **'अन्तर्विवर्त्त'**, किंवा निगमभाषा में **'अन्तर्म्महिमा'** मानी जायगी।

(८४) अधामच्छद प्राणतत्त्व—

काममय मन का बलभाग अब उत्तेजित होने लगा। उत्तेजित-उद्‌बुद्ध तो वह हो पड़ा था विज्ञानचिति में ही, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु वहां रसप्राधान्य से बल को सृष्टिकार्य्योन्मुख बनने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव आनन्द-विज्ञानात्मिका रसचितियों में बल की जागरूकावस्था-उत्तेजितावस्था भी तत्त्वतः सुप्तावस्था में ही परिणत हो रही थी। केन्द्रस्थ काममय मन में सहज स्वभाव से बलनिबन्धना सिसृक्षा जागरूक हो पड़ी, जिसे हम 'बलेच्छा' (**रसगर्भिता बलेच्छा**) कहेंगे। इस मनोमय कामात्मक बल की प्रेरणा से विज्ञानचिति के उत्तेजित-उद्‌बुद्ध बल को प्रोत्साहन मिला। उद्‌बुद्धोत्तेजित विज्ञानचितियुक्त बल सहसा और भी अधिक उत्तेजित होता हुआ एक प्रकार से क्रियाशील बन गया। यहाँ रसभाव अंशतः अपने सहज शान्त भाव से अभिभूत-वत् बन गया (बलापेक्षया, न तु स्वरूपापेक्षया)। बल की प्रधानता से, तथा रस की गौणता से यह चिति 'बलचिति' (रसगर्भिता बलचिति) कहलाई, जिसे विज्ञानपरिभाषा में **'प्राणचिति'** कहा गया है। क्रियाशीलतत्त्व का ही नाम 'प्राण' है, जैसा कि पूर्व के **'बल-प्राण-क्रिया'** भावस्वरूपनिरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट कर दिया गया है। सुप्तावस्थापन्न वही बल 'बल' है, कुर्वद्‌रूपावस्थापन्न वही बल 'प्राण' है, एवं निर्गच्छदवस्थापन्न वही बल 'क्रिया' है। रसचिति (आनन्द-विज्ञानचिति) में बल उद्‌बुद्ध तो था, किन्तु कुर्वद्‌रूपावस्थापन्न नहीं था। अतएव मायातीत नितान्त प्रसुप्त बलवत् इस बलको भी उन दोनों चितियों में 'बल' नाम की सुप्तावस्थापन्ना अभिधा से ही समन्वित रहना पड़ा। किन्तु बलप्रधाना सिसृक्षारूपा बलकामना के सजातीय प्रेरणाबल से कुर्वद्‌रूपावस्थापन्न बनने वाला वही सुप्त बल यहाँ इस तृतीया बलचिति में 'प्राण' अभिधा से समन्वित हो गया। इसी दृष्टि से इस बलचिति को 'प्राणचिति' (कुर्वद्‌रूपावस्थापन्न बल की चिति) कहना सर्वात्मना अन्वर्थ बना, जिसमें रस बना अन्तर्म्मुख, बल बना बहिर्म्मुख। रस का यहाँ आत्यन्तिक रूप से अभिभव (अन्तर्म्मुखता) नहीं है। अपितु सहज अभिभव है। अतएव इस इस चिति का ससङ्ग भी बल रस की इस आंशिक जागरूकावस्था से असङ्ग ही बना रहता है। अतएव वैज्ञानिकों नें प्राण को 'असङ्ग' मानते हुए इसे 'अधामच्छद' ही कहा है। अतएव च प्राण का--**"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श--शब्दाऽसंस्पृष्टः--अधामच्छदः--सुसूक्ष्मभाव एव प्राणः"** यह लक्षण किया गया है।

(८५) सप्तप्राणात्मिका सुपर्णचिति—

तृतीया बलचितिरूपा यह प्राणचिति सृष्टिकर्म्म में अपना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सम्पूर्ण सर्गरहस्यों में सर्वत्र यह 'प्राणब्रह्म' ही उपक्रमोपसंहार बना है। सर्गमूलान्वेषक आर्षवैज्ञानिक महर्षि इस प्राणात्मक बलान्वेषण के आधार पर ही 'ऋषि' अभिधाओं से समलंकृत हुए हैं। अपने कुर्वद्रूपावस्था-लक्षण गतिभाव से ही वह बलतत्त्व 'अरिषन्' निर्वचन से 'ऋषि' कहलाया है। बड़ा ही गहन गभीरतम स्वरूप है इस प्राणतत्त्व का, जिसके अनन्त विवर्त्त हो जाते हैं। अतएव '**त इद्गम्भीरवेपसः**'* कहते हुए मन्त्रर्षि ने प्राण के आनन्त्य का यशोगान किया है। '**को हि प्राणानामानन्त्यं वेद**' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति भी प्राण के आनन्त्य का ही यशोगान कर रही है। यही वह सुप्रसिद्ध प्राणर्षि, किंवा ऋषिप्राण है, जिसे 'असद्' रूप (सदात्मकरूप) से उपवर्णित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने विश्व का मूल माना है। इसी को सृष्टि का मूलाधार माना गया है। यही ऋषिप्राण आगे जाकर सर्वप्रथम सप्तर्षिप्राणरूप में परिणत होता है। सातों के पारस्परिक स्वानुगत सर्वहुतभावात्मक आहुतिसम्बन्ध से सप्त-सप्त प्राणात्मक सप्त-सप्त पुरुषात्मक 'सप्तपुरुषप्रजापति' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, जिसका '**चत्वारः आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा**' रूप से संस्थान माना गया है, जो कि संस्थान सुप्रसिद्ध '**सुपर्णचिति**' का मूलाधार माना गया है। यही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणप्रजापति सृष्टि का मूलाधार बनता हुआ '**प्रतिष्ठाब्रह्म**' कहलाया है, जिसका तत्त्वात्मक त्रयीवेदरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। "**ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रयीमेव विद्याम्। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत**" इत्यादि रूप से तत्त्ववेदमूर्त्ति इस प्राणब्रह्म के अन्तर्य्यामरूप कार्य्य से ही **अस्त्वण्ड-पोषाण्ड-यशोऽण्ड-रेतोऽण्ड** आदिरूप आगे जाकर अण्डसृष्टि (ब्रह्माण्डसृष्टि) का विकास हुआ है। जिसका शतपथभाष्य के तत्प्रकरण (अग्निचितिरहस्यप्रकरण) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, यही प्राणचितिरूप प्राणब्रह्म का प्रासङ्गिक यशोगान है, जिसे आधार मान कर ही हमें विश्वस्वरूप-मीमांसा का स्वरूपविश्लेषण करना है। '**परे प्राणम्**' रूप से यही प्राण 'मनु' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें इस आत्मस्वरूपमीमांसा का प्रासङ्गिक आश्रय लेना पड़ा है। सर्वगति-लक्षण यही वह प्राणतत्त्व है, जिसके गति-स्थित्यादि पञ्च विवर्त्तों के आधार पर 'निष्ठा-भावुकता की तात्त्विक मीमांसा' व्यवस्थित बनने वाली है। प्राणविद्या ही ऋषिविद्या है। यही निगमविद्या है, यही वह सुप्रसिद्धा ब्रह्मविद्या है, जिस ब्रह्मात्मिका देवविद्या के बल पर नैगमिक महर्षियों नें किसी युग में यह घोषणा की थी कि, "**ब्रह्मविद्यया ह वै सर्व्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः**"।

(८६)—मनःप्राणवाङ्मय 'वौक्' एवं वषट्कार—

बल कुर्वद्रूपावस्था में परिणत होता हुआ विशेषरूप से समुद्दीप्त हुआ। काममय मन की सिसृक्षा का पुनः प्रेरणाबल प्राप्त हुआ। इस आत्यन्तिक संघर्षावस्था में आकर वही प्राणात्मक बल मूर्त्तरूप का अनुगामी

---

* विरूपास इद् ऋषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥
—ऋक्सं० १०।६२।५

बन गया। दूसरे शब्दों में अव्यक्तावस्थापन्न प्राण व्यक्तावस्थापन्न **'वागभाव'** में परिणत हो गया, जिस वागभाव के गर्भ में अकार–उकार–समतुलित मन, प्राण, दोनों भाव समाविष्ट हैं। **'अ–उ–अच्'** ही वागभाव का मौलिक स्वरूप माना गया है। वागभाव में 'उ' रूप प्राण का प्राथम्य है, 'अ' रूप मन का द्वितीय स्थान है। अतएव 'अ'–'उ' ('मन'–'प्राण') इस प्राकृतिक स्थिति के स्थान में प्राण–प्राथम्यापेक्षया 'उ'–'अ' ('प्राण'–'मन') यह स्थिति बन जाती है। जो बल–जो मूर्त्तावस्थानुगत क्रियाशील व्यक्त बल 'उ–अ' दोनों को (प्राण और मन, दोनों को) अपने स्वरूपविकास के लिए 'अञ्चति', वही व्यक्तबल 'उ–अ–अच्' रूपसे **'वाक्'** कहलाया है, जिस मनःप्राणगर्भिता, किंवा प्राणमनोगर्भिता इत्थंभूता वाक् को **'वौक्'** माना-गया है, जिसके आधार पर निगमशास्त्र की सुप्रसिद्धा **'वषट्कारविद्या'** का वितान हुआ है। मनुरूप इन्द्र, किंवा इन्द्रवाक्रूप मनु इसी वागाहुति से संतृप्त बना करते हैं, जैसाकि–**'इन्द्राय वौ·······षट्'** इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। 'उ' को वकारदेश हुआ, इस से 'उ–अ–अच्' स्वरूप 'व्–अ–अच्' स्वरूप में परिणत होगया। दीर्घभाव से 'व्–अ–अच्' ही 'वाच्', किंवा 'वाक्' रूप में परिणत होगया। यही 'वाक्' शब्द का निर्वचनेतिहास माना गया। इस मनःप्राणमय बल में यज्ञसृष्टि के द्वारा पुनः–**'तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्'** रूपसे मन और प्राण का (अ और उ का) समावेश हुआ। इससे वाक् शब्दकी **'वा–अ–उ–क्** यह स्थिति बन गई। गुणद्वारा मध्यस्थ अ–उ 'ओ' रूप में परिणत हो गए। वृद्धिद्वारा 'वा–ओ–क्' भाव **'वौक्'** रूप में परिणत हो गया। यही वौषट् 'वौक्–षट्' रूप 'वौषट्' कहलाया, जिसे **'वाक्षट्कार'** रूपसे 'वषट्कार' कहा गया है।

(८७)–यजुः का तत्त्वात्मक स्वरूप—

त्रयीवेदमूर्त्ति प्राणचितिलक्षण प्रतिष्ठाब्रह्म को पूर्व में 'सप्तपुरुषपुरुषप्रजापति' कहा गया है। इसका ऋक्सामरूप वयोनाध से नद्ध (सीमित–छन्दित) वयरूप यजुर्भाग ही वह वास्तविक मौलिक तत्त्व है, जो अपने अव्यक्तरूप से 'प्राण' है, एवं व्यक्तरूप से 'वाक्' है। पूर्वावस्था उसी मौलिक तत्त्व की 'प्राणावस्था है, जिसे हमने 'प्राणचिति' कहा है। उत्तरावस्था उसी मौलिक बलतत्त्व की 'वागवस्था', है जिसे यहाँ 'वाक्चिति' कहा जायगा। प्राणचितिलक्षण बल ही संकेतपरिभाषा में अपने गमनधर्म्म–गतिस्वरूप से—**'यत्'** कहलाया है, एवं वाक्चितिलक्षण बल ही पूर्वप्राणरूप, तथा प्राण के भी पूर्वरूप मन, दोनों के समन्वयभाव से 'वाक्' कहलाता हुआ संकेतभाषा में **'जूः'** कहलाया है। प्राणरूप 'यत्', तथा वाक्रूप 'जूः' इन दोनों बलतत्त्वों की समष्टि ही, दूसरे शब्दों में प्राण–वाक्–रूप दोनों बलचितियों की समष्टि ही निगम में—'यत्–जू' रूप से–**'यज्जूः'** कहलाई है। यह 'यज्जूः' शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुः' कहलाया है, यही तत्त्वात्मक–प्राणवाग्रूप–नित्य यजुर्वेदतत्त्व का मौलिक रहस्यार्थ है, वयात्मक जो यजुर्वेद वयोनाधात्मक 'ऋक्सामे' में अपीत * रहता हुआ ही मूर्त्तसृष्टि का अपने उत्तरभावी 'सुब्रह्म' रूप के माध्यम से प्रभव–मूलप्रवर्त्तक बना करता है। 'यत्' रूप प्राण स्वरूपतः 'गति'–धर्म्मात्मक **'वायु'** (प्राणवायु) है, 'जू' रूपा वाक् स्वरूपतः

---

* **तदेनमेते उभे रसो भूत्वापीत ऋक्च सामाच। तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः।**
(शत० ब्रा० १०।१।१।६।)।

'स्थिति' धर्म्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश-मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से वर्णितोपवर्णिता, अव्ययमन की बलनिबन्धना सिसृक्षा से आविर्भूता प्राणचिति बलचिति की समष्टिरूपा बलचितिद्वयी ही ऋक्सामावच्छिन्ना वह यजुर्वेद-चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्व्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेव-आकाशो जूः×, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्मात्-यजुः। एष एव यदेष ह्येति। तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)-ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का सहजरूप से क्योंकि समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसके अक्षरार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है—"यह जो सर्वत्र (दोषभावों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, वही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जूः' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी-सूर्य्य और भूपिण्ड को अग्निगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो वह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत और जूः है। इसीलिए तो यह 'यजुः' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)-वातवायु और यजुः—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक वह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ?। उत्तर है वह सुप्रसिद्ध उपलालनभाव, नैदानिक प्रतीकभाव, जिसे मध्यस्थ बना कर ही मादृश बालभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने भौतिक विधूननधर्म्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर **'प्रहितां संयोगः-प्रयुतां संयोग.'** लक्षण आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि-वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—**'वात आ वातु भेषजम्'** (ऋक्सं॰१०।१८६।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।

—विश्वकोशः।

रूप से उपवर्णन हुआ है। **गुणाणुरेणुभूतभौतिक–भावानुगता** बलग्रन्थिपरम्परा से प्राणवायु ही कालान्तर में अन्तिम बलग्रन्थि का अनुगामी बनता हुआ अविकृतपरिणामरूप से इस भूतवायु के स्वरूप में परिणत हुआ करता है। अतएव उस प्राणतत्त्व का, सुसूक्ष्म–इन्द्रियातीत प्राणवायु का स्वरूप–परिचय कराने मात्र के लिए श्रुति ने नैदानिकविधि से, किंवा प्रतीकविधि से, किंवा उपलालनविधि से—**'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते'** इत्यादि रूप से प्रवहणशील भूतवायु को ('वात' वायु को) लक्ष्य बना लिया है। प्राण–गतिशील प्राण-के गतिधर्म्म से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है। अतः अवश्य ही इस सुसूक्ष्म प्राणवायु को 'यजुः' कहा जा सकता है।

(९०)–यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आतानात्मक वितान—

यहाँ श्रुति वायु (प्राण) को यजु' कह रही है, एवं यही श्रुति आगे चल कर 'यजुः' के–'यत्–जूः' ये दो विभाग करती हुई 'यत्' को वायु (प्राण) कह रही है, एवं 'जूः' (वाक्) को 'आकाश' कह रही है। यह कैसा पारस्परिक विरोध ?। समन्वय कीजिये। जबकि 'यत्' का नाम वायु (प्राण), तथा 'जूः' का नाम आकाश (वाक्) है, तो 'यजु' (यत् और जू दोनों की समष्टि) को **'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते'** इत्यादि रूप से 'यजु' नाम से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है। मनोमय सिसृक्षाबल ही प्रथम बलचिति से 'प्राण' भाव में (यत्भाव में) परिणत हुआ है, यह कहा जा चुका है। पूर्व पूर्व चिति में उत्तर उत्तर चिति का बीज 'बीजांकुरन्याया' नुगत अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण से समाविष्ट रहता है। पूर्व पूर्व कारण ही अविकृतपरिणामवादात्मक नित्यमहिमाभाव से उत्तरोत्तर के कार्य्यभावों में परिणत होता है। साथ ही पूर्व पूर्व कारण अपने उत्तरोत्तर के व्यक्तीभूत कार्य्यों को व्यक्त कर **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार उन कार्य्यों में गर्भीभूत बनता जाता है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पूर्व पूर्व कारण में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म रूप से, एवं उत्तरोत्तर कार्य्यों में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म–स्थूलरूप से। जो 'यत्' रूप प्राण अपने बीजात्मक कारणभाव से कार्य्यरूप 'जूः' (मर्त्याकाश) भाव में परिणत होने वाला है, उसमें सत्कार्य्यवादसिद्धान्तानुसार पहिले से ही सूक्ष्म–अव्यक्त रूप से 'जूः' रूप आकाशभाव भी प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नसत्तात्मक अव्यक्तभावात्मक कार्य्यकारणैक्यदृष्टि से यत्रूप भी प्राण को यजुरूप प्राणवाक्रूप से व्यवहृत कर देना निर्विरोध समन्वित हो जाता है। यही कारण है कि, प्राण के कार्य्यभूत वाक्–(मर्त्याकाश) से उत्पन्न आगे के वायु–तेज–जल–मृत्–आदि सम्पूर्ण व्यक्त कार्य्यों को–**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि रूप से 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। प्राण तथा वाक्, दोनों के संगमनात्मक **'यजन'** का ही नाम 'यजु' है, जो कि देवयजन (देवप्राणसंगमनात्मक यज्ञ) का आधार बना करता है। इसी उभयसमन्वित दृष्टिकोणमाध्यम से 'यजु' को **'यज'** नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। 'यज्जूः' का परोक्ष नाम तो 'यजुः' है ही। साथ ही वाक्प्राणसंगमनभावात्मक 'यज' शब्द का भी परोक्ष नाम 'यजु' मान लिया गया है, इसी अभिनसत्तामाध्यम से। देखिए !

यजुषा ह देवाः–अग्रे यज्ञं तेनिरे, अथ ऋचा, अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि—
यजुषैवाग्रे तन्वते, अथ ऋचा, अथ साम्ना। 'यजो' ह वै तद्यजुरिति ॥

—शत० ४।६।७।१३।

(६१)–अन्नात्मक यजुःप्राण—

अव्यक्तप्राण से व्यक्तीभूत वाक् ही आगे जाकर पञ्च मर्त्यभूतस्वरूपों में परिणत होती हुई 'अन्न' रूप में परिणत होती है। अतएव "**अन्नमेव यजुः**' (शत० १०।३।५।६।) रूप से वाङ्मय भूतसमष्टिरूप अन्न को भी 'यजुः' कह दिया जाता है। काममय मन ही यत्–जूरूप प्राण–वाक् चितिरूप में परिणत होता है। अतएव 'मनो युजर्वेदः' (शत० १४।४।३।१२)—'मन एव यजूँषि' (शत० ४।६।७।५।)–'**मनो वै यजुः**। (शत० ६।३।१।४०) इत्यादि रूप से मन को भी 'यजु' कह दिया जाता है, जबकि व्यक्तदृष्ट्या प्राणवाक् के समन्वित रूप का ही नाम 'यजुः' है। जिन छन्दोरूप ऋक्–सामों को यहाँ—'**ऋक्सामे यजुरपीतः**' '**ऋक्-सामे वहतः**' इत्यादि रूप से प्राणवाक्रूप यजु का आधार माना गया है, वहाँ अन्यत्र आधाराधेयभाव के अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध से '**वागेवऽर्चश्च–सामानि च–मन एव यजूँषि**' (शत०४।६।७।५) इत्यादि रूप से वाक् को ऋक्साम–अभिधा से भी व्यक्त मान लिया गया है। हमें अपनी स्थूल भावुकदृष्टि से यद्यपि श्रौत-सिद्धान्त विप्रतिपन्न प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु वस्तुगत्या सम्पूर्ण तत्ववचनों का तत्त्वदृष्ट्या निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वक्तव्यांश यही है कि, '**सर्वा गतिर्याजुषी हैव शाश्वत्**' (तै० ब्रा० ३।१२।६।) इत्यादि निगमा-नुसार गतिप्रकृतिक **प्राण**, तथा सापेक्ष स्थितिप्रकृतिक '**वाक्**' दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'यज्जूः' है, जो परोक्षभाषा में 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है *।

(६२)–यजुर्वाक्चिति का आपोभाग—

मनोमयी सिसृक्षा से उद्भूत प्राणचिति में जहाँ बलतत्त्व निरतिशयरूप से समुत्तेजित था, वहाँ उसी सिसृक्षा से उद्भूत वाक्चिति में बलतत्त्व ग्रन्थिभावानुगत बन जाता है। साथ ही इसमें 'तत् सृष्ट् वा०' न्याय से मनः–प्राण दोनों गर्भीभूत रहते हैं। यही त्रयीब्रह्मात्मक–मनःप्राणवाङ्मय विश्वसाक्षी–सृष्टिसाक्षी आत्मा कह-लाया है। सृष्टिसाक्षी इस आत्मब्रह्मलक्षण प्रतिष्ठाब्रह्म के तप (प्राणव्यापार) से यजु के जूरूप वाक् भाग का (वाक्चिति का) द्रुत भाग ही 'आपः' (वायु नामक सूक्ष्म आपः) का आविर्भाव हुआ है, जैसाकि '**सोऽपो सृजत–वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत**' (शत० ६।१।१।७।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

(६३)–पञ्चकोशात्मक अव्ययब्रह्म—

स्पष्ट किया गया है कि बल कुर्वद्रूपा वस्था में परिणत होता हुआ विशेषरूप से समुद्दीप्त हुआ (२५२-२५३)। इस आत्यन्तिक उत्तेजन से बल मूर्त्तसृष्टि का अनुगामी बन गया। यही चौथी '**वाक्चिति**' कहलाई, जिसमें रस सर्वथा अभिभूत है। जो स्थिति आनन्दचिति की है वही इस वाक्चिति की है। जो स्थिति विज्ञानचिति की है, वहीं स्थिति प्राणचिति की है। इसलिए कि–प्रथमा आनन्दचिति में बल अभिभूत–सुप्तवत् है, रस सर्वात्मना विकसित है। चतुर्थी वाक्चिति में–रस अभिभूत है, सुप्तवत् है, बल सर्वात्मना विकसित है। एवमेव द्वितीया विज्ञानचिति

---

* जिस अपौरुषेय शब्दवाङ्मय शास्त्र में प्राकृतिक अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद का निरूपण हुआ है, वह तत्त्वात्मक वेद बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है, जिसका सहस्रपृष्ठात्मक निबन्ध उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय–तृतीय खण्डों में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

में बल सहचारीमात्र है, रस ही प्रधान है। तृतीया प्राणचिति में रस सहचारी है, बल ही प्रधान है। इन चारों चितियों के मध्य में हृदयस्थान में रसनिबन्धना मुमुक्षा, बलनिबन्धना सिसृक्षा-दोनों से समन्वित रसबलमूर्त्ति काममय उभयात्मक श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन प्रतिष्ठित है, जिसकी रसात्मिका कामना से आनन्द-विज्ञान-चितियाँ अनुप्राणित हैं, एवं बलात्मिका कामना से प्राण-वाक्चितियाँ अनुप्राणित हैं। अतएव काममय उभयात्मक मन दोनों का साक्षी बनता हुआ दोनों में अन्तर्भूत है। इसी आधार पर **'आनन्द-विज्ञान-रसप्रधान-मन'** इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। **'बलात्मक मन-प्राण-वाक्'** तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। प्रथम विभाग को रसकामनानुबन्ध से **'मुक्तिसाक्षी आत्मा'** कहा जा सकता है। द्वितीय भाग को **'सृष्टिसाक्षी आत्मा'** कहा जा सकता है। चितिदृष्टि से मुमुक्षाप्राणिता आनन्दविज्ञान-चिति समष्टि को **'अन्तश्चिति'** कहा जा सकता है, सिसृक्षानुप्राणिता प्राण-वाक्चितिसमष्टि को **'बहिश्चिति'** कहा जा सकता है, एवं मध्यस्थ उभयात्मक मन को **'कामचिति'** कहा जा सकता है। परात्पराभिन्न मायी रस-बलमूर्त्ति निष्कल अव्ययपुरुष की इस प्रकार मनोमयी कामना, किंवा कामरेत से सत् रस के असत् बल में बन्धु (सम्बन्ध) तारतम्य से **'आनन्दचिति-विज्ञानचिति-कामचिति-प्राणचिति-वाक्चिति'** ये पाँच चितिआँ व्यवस्थित हो जातीं हैं। यों निष्कल पुरुष सकलपुरुष, किंवा पञ्चचितिकपुरुष बनता हुआ इन पाँच चितियों से **'चिदात्मा'** नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जिसका उपनिषत् ने **'पञ्चकोशब्रह्म'** रूप से यशोगान किया है। इन पाँचों में रस-बल के तारतम्य से पूर्व पूर्व कोश उत्तर उत्तर कोश का आत्मा है, उत्तर उत्तर कोश पूर्व पूर्व कोश का शरीर। पूर्व पूर्व कोश सूक्ष्म है, तदपेक्षया उत्तरोत्तर कोश स्थूल है। सूक्ष्म पूर्व कोश स्थूल उत्तर कोश का शारीर-आत्मा है, स्थूल उत्तरकोश सूक्ष्म पूर्वकोश का शरीर है। अतएव यह कोशब्रह्म **'आत्मन्वी'** (शरीरविशिष्ट आत्मा-प्रजापति) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** के अनुसार यह एक ही निष्कल ही मायी अव्ययपुरुष तदित्थं पञ्चकल बन रहा है।

(९४)-वाङ्मय अन्तर्विवर्त्त—

उपनिषत् ने 'वाङ्मयकोशब्रह्म' को **'अन्नमयकोशब्रह्म'** नाम से व्यवहृत किया है। कारण यही है कि मनःप्राणगर्भिता यजुर्वाक् ही वह मर्त्याकाश है, जिसका मनोगर्भित प्राणमयकोश के अनन्तर 'वाक्चिति' रूप से आविर्भाव बतलाया गया है। **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** के अनुसार मनोगर्भित प्राणात्मा ही वाग्रूप भूताकाश का प्रभव बनता है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, मनोगर्भित प्राणात्मा के सिसृक्षामूलक प्राणव्यापार से बलजागृति के द्वारा प्राण ही उत्तरावस्थामें 'वाक्' रूप में परिणत होगा। सिसृक्षा प्रक्रान्त रही, बलग्रन्थि का उपक्रम हुआ। इस मनःप्राण वाङ्मय (मनःप्राणआकाशमय) आत्मा से वायु (आपः) नामक भूत का आविर्भाव हुआ। मनःप्राणवाग्वायुरूप आत्मा से तेजोभूत का, मनःप्राण-वाग्वायुतेजोमय आत्मा से जलभूत का, मनःप्राणवाग्वायुतेजजलात्मा से पार्थिवभूत का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार बलग्रन्थितारतम्य से मनःप्राणगर्भिता वाक्, किंवा मनःप्राणगर्भित आकाश ही आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी, इन पञ्च सूक्ष्म-गुण-भूतों में परिणत हो गया, जो कालान्तरमें-रेणु-अणु-भूत-भौतिकभावानुगता पञ्चीकरणप्रक्रिया से 'पञ्चमहाभूत' रूप में परिणत हो जाता है। पञ्चमहाभूतात्मिका पृथिवी ही ओषधि-वनस्पत्यादिरूप में परिणत होती है। यही शारीराग्निमें हुत होकर रस-बल के क्रमिक विशकलन के द्वारा

रेतोरूप में परिणत होती है। यह वृषारेत ही योषाग्नि में आहुत होकर सर्वान्त में 'पुरुष' रूप में परिणत होता है। यह है सहज सृष्टिक्रम, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः,—आकाशाद्वायुः—वायोरग्निः—अग्नेरापः—अद्भिः पृथिवी—पृथिव्या ओषधयः—ओषधीभ्योऽन्नम्—अन्नात्—रेतः—रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। —तै० उ० प० २।१।

आकाश (वाक्)—वायु—अग्नि—जल—पृथिवी—पाँचों भूत ही भोग्य बनते हैं। अतएव 'अद्यते' के अनुसार इन की समष्टि को अवश्य ही 'अन्न' कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से इस वाङ्मयविवर्त्त को 'अन्नविवर्त्त' कहा जाता है, जिसे **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** रूप से सर्वभूतात्मक घोषित किया गया है। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने वाङ्मय कोशको 'अन्नमयकोश' नामसे व्यवहृत कर दिया है। केवल मौलिक तत्त्वसृष्टि के प्रसङ्ग में तो इसे 'वाङ्मयकोश' ही कहा जायगा। किन्तु अन्नरसद्वारा समुत्पन्ना वैकारिकी प्रजासृष्टि की व्याख्या करते हुए इसे 'अन्नमयकोश' अभिधासे समलङ्कृत किया जायगा। सृष्टि-मूलमीमांसा का उपक्रम करते हुए हम ने पूर्व में 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०' इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया था। उस मन्त्र की प्रथमभूमिका कामबीजानुगता—सदसद्बन्धु—(सदसत्सम्बन्ध) लक्षणा इस पञ्चकोश-निष्पत्ति पर ही उपसंहृत हो रही है।

रसबलानुगतषड्विधचितिभावपरिलेखः—

आनन्दविज्ञानघनमनःप्राणगर्भिता वाक्—एव अव्ययः पुरुषः—

(१)—बलगर्भितो रसः——रसचितिः—आनन्दचितिः——आनन्दः (आनन्दकला)
(२)—बलसहचरितो रसः—रसचितिः—विज्ञानचितिः——विज्ञानम् (विज्ञानकला)
} —अन्तश्चितिः

(३)—बलानुगतो रसः——रसचितिः—मुमुक्षाचितिः
(४)—रसानुगतं बलम्——बलचितिः—सिसृक्षाचितिः
} —मनः (कामकला)——चितिप्रवर्त्तकः

(५)—रससहचरितं बलम्—बलचितिः—प्राणचितिः——प्राणः (प्राणकला)
(६)—रसगर्भितं बलम्——बलचितिः—वाक्चितिः——वाक् (वाक्कला)
} —बहिश्चितिः

] पञ्चकलः—सकलः—चिदात्मा—अव्ययः

तथोपवर्णित—उपस्तुत—काममय—निष्कमभावापन्न—मनोघन अतएव अमन—प्राणघन—अतएव अप्राण-वाग्घन—अतएव अवाक्—सर्वरूप—अतएव सर्वातीत—पञ्चकोशात्मक इस सकल—अतएव निष्कल परात्परसम-तुलित अव्ययपुरुष के साथ नित्य सम्बद्धा **'परा—अपरा'** नाम की प्रकृति ही प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसकी इन प्रक्रान्त—तथा आगामिनी मीमांसाओं में यथावसर दृष्टिकोणभेद से

मीमांसा होती रहेगी । परात्पराविनाभूत पञ्चकल अव्ययपुरुष, तदभिन्ना–पञ्चकला पराप्रकृति (अक्षर), तदभिन्ना पञ्चकला अपराप्रकृति, इन १–परात्पर–५–अव्यय-५–अक्षर-५–क्षर-कलाओं की समष्टि को ही **'षोड़शी पुरुषप्रजापति'** कहा गया है, जिसका परात्परविशिष्ट अव्ययात्मभाग विश्व का अधिष्ठानकारण बनता है, तद्गर्भीभूत अक्षरात्मा (पराप्रकृति) विश्व का निमित्तकारण बनता है । एवं तद्गर्भीभूत किंवा सर्वगर्भीभूत क्षरात्मा विश्व का उपादानकारण बनता है । अधिष्ठान–निमित्त–उपादन (आरम्भण) कारणत्रयीसमष्टिरूप यह षोड़शीपुरुष ही मायी महाविश्व का मूल बनता है, जिसे मूल बनाकर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा करते हुए निबन्ध के प्रधान साक्षीभूत पूर्वप्रतिज्ञात मनु के तात्त्विकस्वरूप का अत्र अविलम्ब उपक्रम कर देना है, जिस उपक्रान्ति के लिए थोड़ी प्रतीक्षा तो अनिवार्य्यरूपेण क्षम्य मान ही ली जायगी ।

(९५)–मायी महेश्वर के विविध विवर्त्त—

'परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर' मूर्त्ति, षोडशीप्रजापति को विश्व का मूल प्रमाणित करते हुए हमने इसी को 'मनुः' स्वरूप का उपक्रम भी माना है । परिभाषाविलुप्ति के कारण, साथ ही निगमव्याख्या-लक्षण आचारमीमांसा से एकान्ततः असंस्पृष्टा वर्त्तमान दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के अनुग्रह से नैगमिक व्यवछिन्न आत्मस्वरूप–बोध क्योंकि विलुप्तप्राय है । अतएव सर्वथा सहज भी यह आत्मस्वरूप आज के मानव के लिए दुर्बोध्य प्रमाणित हो सकता है । इसीलिए पुनः पुनः हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से इन आत्मस्वरूपमीमांसाओं को लक्ष्य बनाना पड़ता है । दार्शनिक दृष्टि का ही यह असीम अनुग्रह है ? कि, सर्वथा विभक्त भी आत्मविवर्त्त आज पारस्परिक उन पर्य्यायसम्बन्धों के माध्यम से अभिन्नार्थक मानने-मनवाने की भ्रान्ति से स्व–स्व–व्यवस्थित-विभक्त स्वरूपों से अभिभूत हो गए हैं । उदाहरण के लिए **'परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीवात्मा'** आदि प्रत्येक शब्द यद्यपि विज्ञानदृष्ट्या सर्वथा विभिन्न आत्मभावों के वाचक हैं । किन्तु आज एकेहलया इन सब को अभिन्नार्थक माना जा रहा है, फलस्वरूप इन शब्दों को पर्य्याय घोषित किया जा रहा है । **मायातीत सर्वविलिष्टरसैकघन तत्त्व परात्पर परमेश्वर है । महामायावलावच्छिन्न सहस्र–बल्शामूर्त्ति अश्वत्थब्रह्मलक्षण षोड़षीपुरुष मायी महेश्वर है * । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–प्रथिवी, इन पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप–अतएव 'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यबल्शा'नाम से प्रसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिव्यन्त व्याप्त पञ्चबल्शाधिष्ठाता आत्मन्वी बल्शेश्वर ही त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण सप्तभुवनात्मक विश्व का ईशिता बनता हुआ 'विश्वेश्वर' है । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्यादि–पाँचों पुण्डीर स्वतन्त्ररूप से संगृहीत बनते हुए अपने अपने स्वतन्त्र स्वरूप से 'उपेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी समष्टि को 'पञ्चोपेश्वराः' कहा गया है । पाँचों उपेश्वरों में से केवल पार्थिव उपेश्वर से अनुप्राणित पार्थिव त्रौम्यत्रिलोकी के अग्नि-वायु-आदित्य के त्रिवृद्भाव से कृतरूप विराट् हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति–उपनिषदों में 'सर्वभूतान्तरात्मा'–'साक्षी सुपर्ण'**

---

* मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्–मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयभूतैस्तु व्याप्तं सर्व्वमिदञ्जगत् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१०।

'देवसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवेश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है÷।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा-समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत **'कामस्तदग्रे समवर्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—**"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों नें–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"**।

(९६)–अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में ***'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम)** नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ **'निर्विशेष'** कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष **'परात्पर'** कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के **बल-निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर)**, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर **'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द)** नाम से व्यवहृत

÷ परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत **'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य,** एवं **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक श्राद्धविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए '**रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति**' (तै० उप०१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है । दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसैकघन सविशेष परात्पर '**शाश्वतधर्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में '**शाश्वतब्रह्म** नाम घोषित हुआ है । '**शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च**' (गीता १४।२७) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है । यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है ।

(६७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वामूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है । परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है । तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं । जो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुईं बलभातियाँ ही मानीं जायेंगी । इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (निःसीम–असीम) है । साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'**अमृत-सत्–आभू**' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है । ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्दिशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है । तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है । सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्तता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टिलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्ततानुगता है । सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है । रस संख्या में एक है, बल संख्या में अनेक है । संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्त्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण '**मृत्यु–असत्–अभ्व**' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है । सदा सर्वथा एकरस–अक्षर–सद्रस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का '**वीची–तरङ्गन्याय**' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है । बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है । एवं जो आर्षविज्ञान '**ब्रह्मविज्ञान**'–'**ब्रह्मविद्या**' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता ।

(६८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षर–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है । किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशबल भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं । जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "**माया**[१]–**हृदयम्**[२]–**जाया**[३]-**धारा**[४]-**आपः**[५]-**भूतिः**[६]-**यज्ञः**[७]-**सूत्रम्**[८]–**सत्यम्**[९]–**यक्षम्**[१०]–**अभ्वम्**[११]–**वयः**[१२]–**वयोनाधः**[१३]–**वयुनम्**[१४]–**मोहः**[१५]–**विद्या**[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं । इन सोलह बलकोशों के आधार पर

ही भारतीय विज्ञानकाण्ड को १६ विभागों में विभक्त माना जा सकता है, जो विज्ञानकाण्ड इन बलों पर अवलम्बित है, एवं जिस दृष्टिकोण के माध्यम से ही विज्ञानमूलभूत बल को 'बलं वाव विज्ञानाद्भूयः' इत्यादि रूप से तूलरूपात्मक विज्ञान की अपेक्षा मूलरूप बल को भूयोभावात्मक महिमशाली घोषित किया गया है।

षोडशबलकोशसंग्रहपरिलेखः—

(१)	(१)	मायाकोशानुगतं– मायाविज्ञानम् —छन्दोविज्ञानम्–ब्रह्माश्वत्थविज्ञानम्–समष्टिविज्ञानम्	
(१)	(२)	हृदयकोशानुगतं– हृदयविज्ञानम्— नियतिविज्ञानम्–	व्यष्टिभावापन्नानि–अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–नक्षत्र–ग्रह–लोक–लोकी–आदिविभिन्न–खण्डखण्डविज्ञानानि । 'ज्ञानं' तेऽहं ———'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म' इति रसभावः । 'सविज्ञान'मिदं वक्ष्यामि–'नित्यं विज्ञानमानन्दंब्रह्म' इति बलभावः । } यज्ज्ञात्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते (अशेषतः) "विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानमेव प्रणमन्त्यभिसंविशन्ति । 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानमित्युपास्व" ।
(२)	(३)	जायाकोशानुगतं– जायाविज्ञानम्— दाम्पत्यविज्ञानम्–	
(३)	(४)	धाराकोशानुगतं– धाराविज्ञानम्— क्रियाऽभेदविज्ञानम्–	
(४)	(५)	आपःकोशानुगतं– आपोविज्ञानम्—आप्तिविज्ञानम्—	
(५)	(६)	भूतिकोशानुगतं– भूतिविज्ञानम्— प्रभवविज्ञानम्–	
(६)	(७)	यज्ञकोशानुगतं— यज्ञविज्ञानम्— अन्नान्नादविज्ञानम्	
(७)	(८)	सूत्रकोशानुगतं– सूत्रविज्ञानम्— एतिप्रेतिविज्ञानम्	
(८)	(९)	सत्यकोशानुगतं– सत्यविज्ञानम्— प्रतिष्ठाविज्ञानम्–	
(९)	(१०)	यक्षकोशानुगतं— यक्षविज्ञानम्— कर्म्मविज्ञानम्—	
(१०)	(११)	अभ्वकोशानुगतं– अभ्वविज्ञानम्— नामरूपविज्ञानम्–	
(११)	(१२)	वयःकोशानुगतं – वयोविज्ञानम्— प्राणविज्ञानम् —	
(१२)	(१३)	वयोनाधकोशानुगतं– वयोनाधविज्ञानम्– वाग्विज्ञानम् —	
(१३)	(१४)	वयुनकोशानुगतं– वयुनविज्ञानम्— पदार्थविज्ञानम्—	
(१४)	(१५)	मोहकोशानुगतं— मोहविज्ञानम् — मनोविज्ञानम्—	
(१)	(१६)	विद्याकोशानुगतं– विद्याविज्ञानम्— बुद्धिविज्ञानम्—	कर्म्माश्वत्थविज्ञानसमष्टि–विज्ञानम

(६६)–प्रधानबलकोशत्रयी—

उक्त सोलह बलों में सम्पूर्ण अनन्त बल गर्भीभूत बने रहते हैं। अतएव ये १६ बल **'बलकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें सर्वादि का 'मायाबलकोश' वह महाबल है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण (१५ हों) बलकोश समाविष्ट हैं। इन सोलहों में सर्वादिभूत मायाबलकोश का अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसके द्वारा सिसृक्षा-मूला सृष्टि का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। सर्वान्त का 'विद्याबलकोश' अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है, जिसके द्वारा मुमुक्षामूला मुक्ति की प्रवृत्ति हुआ करती है। मध्यस्थ चतुर्दशबलकोश व्यष्ट्यात्मक बलकोश हैं, जिनका एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा, जिनमें कि भौतिक मर्त्यविश्व के यच्चयावत् खण्डखण्डात्मक विज्ञान समाविष्ट माने गए हैं। इस दृष्टिकोण से इन षोडशविध बलकोशों की तीन मुख्य श्रेणियाँ निष्पन्न हो जातीं हैं।

मायाबलकोशात्मक आदिबल को सीमाभावानुगता कामनाबल से अनुप्राणित हम 'अशनाया बल' कहेंगे, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में इच्छा–अशनाया के स्वरूपनिरूपण–प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। **'अशनाया वै पाप्मा'** रूप से मायानुगता अशनाया ही 'अविद्याबलकोश' है, जो व्यष्ट्यात्मक हृदय–जाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोशों के सर्वान्त के 'मोहबलकोश' के द्वारा आवरणसर्ग (अविद्यासर्ग) की मूलाधिष्ठात्री बनती है। ठीक इसके विपरीत विद्याबलकोशात्मक सर्वान्त के बलकोश को–जो अपने रसानुबन्धी ज्योतिर्भाव के कारण निष्कामभावापन्न बना रहता है–हम बन्धननिवर्त्तक मुक्तिसाक्षी बलकोश कहेंगे, जो उन्हीं हृदय–जाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोश के सर्वादि हृदयबलकोश के द्वारा (अन्तर्यामीरूपनियतिर्बल की प्रेरणाद्वारा) आवरणसर्ग (अविद्या–मोह) का मूलनिवर्त्तक प्रमाणित होता है। मायाबलकोश को तमोमय अविद्यासर्गप्रवृत्ति के कारण हम **'अविद्याबल'** कहेंगे एवं अन्तिम बलकोश **'विद्याबल'** प्रसिद्ध होगा। तथा मध्य की चतुर्दशबल-कोशसमष्टि मायानुगता बनकर वही **'अविद्या'** कहलाएगी, विद्यानुगता बनकर वही **'विद्या'** कहलाएगी। अतएव अविद्याबलात्मक मायाबलकोश को बलनिबन्धन **'मृत्युबल'**, विनाशी **'क्षरबल'** कहा जायगा। विद्याबलकोश को रसनिबन्धन **'अमृतबल'** अविनाशी **'अक्षरबल'** कहा जायगा। एवं मध्यपतितितचतुर्दश बलों को **'अमृतमृत्युबल'-विद्याऽविद्याबल'-'अक्षरक्षरबल'** माना जायगा। इस दृष्टि से १६ बलों का त्रिधा वर्गीकरण निष्पन्न हो जायगा। अमृतबल का सहायक हृदयबल माना जायगा, मृत्युबल का सहायक मोहबल माना जायगा। मोहात्मक मृत्युबल **'तमोबल'** कहा जायगा, हृदयात्मक (मनुर्भावात्मक) अमृतबल **'ज्योतिर्बल'** माना जायगा। तमोबल को **'असद्बल'** कहा जायगा, ज्योतिर्बल को 'सद्बल' माना जायगा। एवं इसी आधार पर– **"असतो मा सद्गमय–मृत्योर्मा अमृतं गमय–तमसो मा ज्योतिर्गमय"** इत्यादि उद्घोष व्यवस्थित होंगे। निम्नलिखित वचन इसी विद्या–अविद्यात्मक अक्षर–क्षरबलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

प्रधानबलकोशत्रयीस्वरूपपरिलेख :—

(१)	(१)—मायाबलम्	–बलानुगतम्	–मृत्युः	–अविद्या	–(असत्–तमः)	–क्षरबलम्
(१५)	(२)—हृदयादिमोहान्तबलम्	–उभयानुगतम्	–अमृतमृत्यू	–विद्याविद्ये	–(सदसत्–उभयम्)	–उभयात्मकम्
(१६)	(३)—विद्याबलम्	–रसानुगतम्	–अमृतम्	–विद्या	–(सत्–ज्योतिः)	–अक्षरबलम्

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं, त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधान-ममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१।०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सोलहवाँ विद्याबल ही हृदयबलात्मक अन्तर्यामी नियतिब्रह्म की प्रेरणा से बलग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन-मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्पन्ना पूर्वोपवर्णिता आनन्द-विज्ञानात्मिका अन्तश्चिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवातो लय, यच्चिकिञ्चिजद्गद्वस्तु सदसदात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के **विष्णु-अक्षरनिबन्धन** योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के **इन्द्र-अक्षरनिबन्धन** योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, **इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन-रजोगुणात्मक-योगमायाबल' से सर्गसंरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन-सत्त्वगुणात्मक-योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है।** अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों नें **'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।**

(१०१)-दार्शनिकों का व्यामोहन—

यदवधिपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तवस्था में परिणत रहता है), तदवधिपर्य्यन्त शेष पन्द्रहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम-गरिमामय-महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों नें) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,-**"यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"**। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्ष-विज्ञानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ-साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा असद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणाभास का इन दार्शनिकों ने -**(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है)** इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए **'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'** न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

(१०२)-सर्व्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म—

मायाबलानुबन्धी सर्ग का एक महत्त्वपूर्ण प्रासङ्गिक विश्लेषण और। निष्कल पुरुष 'सकल' बन गया, षोडशकल बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस सकल ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एक प्रासङ्गिक विश्लेषण यों समन्वित किया जा सकता है कि, मायोदय से पूर्व ब्रह्मतत्त्व **निर्धर्म्मक** बना रहता है। यही मायोदय से बलसम्बन्धनिबन्धन आत्मपरिग्रहों से युक्त होकर **'सधर्म्मा'** बन जाता है। वे आत्मपरिग्रह जहाँ बलकोशदृष्टि से पूर्वानुसार १६ भागों में विभक्त है, वहाँ 'आत्मन्वी' दृष्टि से ६ भागों में विभक्त माने गए हैं *। ये आत्मपरिग्रह क्रमशः **"माया[१]—कला[२]—गुण[३]—विकार[४]—अञ्जन[५]—आवरण[६]"** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन परिग्रहात्मक षड्धर्म्मों से संयुक्त बनता हुआ निर्धर्मक मायातीत ब्रह्म **'सर्वधर्म्मोपपन्न'** बन गया है, जिसका पुराणपुरुष ने—**'सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च'** (व्याससूत्र) रूप से यशोगान किया है।

उक्त ६ओं परिग्रहों का त्रिधा वर्गीकरण किया है आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानों नें। माया-कला, इन दोनों का एक स्वतन्त्र वर्ग है। गुण-विकार, का स्वतन्त्र वर्ग है। एवं अञ्जन-आवरण, का एक स्वतन्त्र वर्ग है। माया-कला-रूप प्रथम द्वन्द्व **'अमृतात्मा'** का स्वरूपसंग्राहक बनता हुआ **'अमृतपरिग्रह'** माना जायगा। गुण-विकाररूप द्वितीय द्वन्द्व **'ब्रह्मात्मा'** का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ **'ब्रह्मपरिग्रह'** माना जायगा। एवं अञ्जन-आवरण रूप द्वन्द्व 'शुक्रात्मा का स्वरूपपनिर्म्मापक बनता हुआ **'शुक्रपरिग्रह'** माना जायगा। यद्यपि माया-कला आदि ६ परिग्रहों से सम्बन्धित इन वर्गात्मक तीन द्वन्द्वों से कृतरूप तीन आत्मविवर्त्त पृथक्-पृथक् तीन आत्मविवर्त्त माने जायेंगे। तथापि परिग्रहनिरपेक्षावस्था में **'त्रयं सदेकमयमात्मा'** **'एष एवात्मा-यः पूर्वस्य'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीनों को एक ही आत्मा कहा जायगा। परिग्रहविरहित विशुद्ध आत्मदृष्ट्या यद्यपि एक ही 'आत्मा' उद्घोषित होगा। तथापि परिग्रहसापेक्षावस्था में—**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'**-**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**-**'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीन आत्मविवर्त्त माने जायेंगे। इन तीनों आत्मपरिग्रहद्वन्द्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसङ्गविधया यह स्पष्टीकरण अनुगमनीय माना जायगा कि—

(१०३)-सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह,तथा मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)

'माया' नामक प्रथम परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। अवान्तर खण्ड-खण्डात्मिका विष्णुमाया-ब्रह्ममाया-शिवमाया-योगमाया-आदि असंख्य अनन्त-सापेक्ष मायाविवर्त्तों की अपेक्षा से इस ÷सदसद्विलक्षणा

---

* देखिए-श्रद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड पृ० सं० २६१ से २६७ पर्य्यन्त—

÷ न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी॥
"वस्तु प्रकृतिरिष्यते" इति वा।

आदिमाया को **'महामाया'** नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस आदिभूत निष्कल महामायापरिग्रह से, मायाधर्म्म से सम्बन्धित मायी परात्पर ही मायापुर से वेष्टित बनता हुआ **'निष्कल अव्ययपुरुष'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। **'मायीमहेश्वरनिष्कलाव्ययपुरुष'** ही पहला आत्मविवर्त्त है, जिसे–**'न वैविध्यं गच्छति–न स्त्री पुमान् नपुन्सकम्'** इत्यादि निर्वचनानुसार 'अव्यय' कहना अन्वर्थ बनता है। कलाभाव ही विविधभाव है। अभी कला-परिग्रह का उदय नहीं है, जो कि कला-भाव विविध भावों का मूलाधार बना करता है। अतएव इस कला-शून्य केवल निष्कल माया-परिग्रहविशिष्ट पुरुष को **'निष्कल अव्यय'** कह देना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है, जिसका निम्नलिखित गोपथश्रुति से यों उपवर्णन हुआ है—

*** सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।**
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

—गोपथब्राह्मण पू० १।२६।

मायातीत सर्वातीत निर्धर्म्मक परात्पर परमेश्वर निरञ्जन है। उसी अत्यनपिनद्ध निरञ्जन परात्पर का यत्किञ्चित् प्रदेश महामायाबलोदय से सीमित–मित–'मायी' बना है, जिसकी निष्कलता अद्यावधि सर्वात्मना अक्षुण्ण है। निश्चित है कि, इस निष्कल केवल मायी महेश्वर अव्ययात्मा की **'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा-ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'** इत्यादि प्रकारानुसार यदि ज्ञानात्मिका उपासना की जाती है, तो वह उपासक इस निष्कल द्वारा उस मायातीत निरञ्जन के साथ समत्वभावापन्न बनता हुआ स्वयमपि मायातीत बन जाता है। निष्कलाव्ययपुरुष की इसी ज्ञानोपासना का यशोवर्णन करते हुए ऋषि ने कहा है—

न भूमिरापो न वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥

—कैवल्योपनिषत् २।४॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते "निष्कलं" ध्यायमानः॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८।

विशुद्धभावात्मक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल–माहामायी–महेश्वराव्ययपुरुष से ही केन्द्रानुगता सिसृक्षा से सम्बद्धा बलचिति, तथा मुमुक्षानुगता रसचिति से आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्–इन पाँच

---

* स्त्री–पु० नपुन्सकादि मैथुनसर्गों में जो भावरूप से मूलाधार बनता हुआ सर्वलिङ्गात्मक अलिङ्ग है, खण्ड खण्ड-भावापन्ना अभिव्यक्तिरूपा व्यक्तिलक्षणा विभक्तियों में जो **'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** के अनुसार अविभक्त है, वाक्परिमाणात्मक वाक्छन्दों–सीमाभावों में जो **'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'** के अनुसार समान है, वही निष्कल तत्त्व अव्यय है, जो व्याकरणशास्त्र में भी इसी नाम से इसी रूप से उपवर्णित हुआ है।

कलाभावों का उदय होता है। अतएव इस निष्कलाव्यय को 'कलासर्गकर' नाम से व्यवहृत किया गया है ×। आदिभूत मायापरिग्रहविशिष्ट आत्मविवर्त्त का यही संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है।

(१०४) षोडशकलाभावप्रवर्त्तक 'कला' परिग्रह, तथा कलापरिग्रहयुक्त सकलपुरुष-(२)

मायापरिग्रहावच्छिन्न पुरभावात्मक निष्कल परात्पर पुरुष * ही मनोमयी कामना से रस-बलचिति के द्वारा कलाभाव में परिणत हो जाता है, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस

× भावग्राह्यमनीड़ाख्यं भावाभावकरं शिवम् (मायी महेश्वरम्)।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ —श्वे० उप० ५।१।४।

* यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः 'परात्परं पुरुष'मुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डकोपनिषत्) ३।२।८।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥
मुण्डकोपनिषत् २।१।२। (अप्राणः प्राणघनः अमनाः—मनोघनः)

यहाँ बात कुछ समझने जैसी है। 'पर' शब्द 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' इत्यादिरूप से केवल 'अव्ययपुरुष' के लिए निरूढ़ है, एवमेव 'परात्पर' शब्द केवल मायातीत निरञ्जन परमेश्वर के लिए ही निरूढ़ है। ऐसी स्थिति में–'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि रूप से 'पर' नामक अव्ययपुरुष को श्रुति ने 'परात्परपुरुष' नाम से कैसे क्यों व्यवहृत किया ?, प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है, जिसका वैज्ञानिकों नें अनेक दृष्टिकोणों से समाधान किया है। अध्यात्मसंस्था (मानवीय जीवात्म–संस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है, एवं अधिदैवत संस्था (ईश्वरीयविश्वसंस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है। यह परपुरुष क्योंकि जैव परपुरुष की अपेक्षा 'पर' (निःसीम–उत्कृष्ट–व्यापक) हैं। अतएव 'परादपि परः' (जीव्याव्ययादपि परः–ईश्वरः परः) निर्वचन से विश्वाव्यय को 'परात्परपुरुष' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच–जिस प्रकार–परात्पर के बलविशिष्ट-रसमूर्त्ति सविशेषपरात्पर, बलनिरपेक्ष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर, भेद से—'निर्विशेष–परात्पर' ये दो विवर्त्त मान लिए जाते हैं, तथैव मायावच्छिन्नपुरुष, मायाकलावच्छिन्नपुरुष, भेद से अव्ययपुरुष के भी 'निष्कलाव्ययपुरुष--सकलाव्ययपुरुष' में दो विवर्त्त बन जाते हैं। दोनों हीं यद्यपि 'पर' हैं। तथापि सकलाव्ययरूप 'पर' पुरुषापेक्षया हम निष्कलाव्ययपुरुष रूप पर को 'पर' कह सकते हैं। इस दृष्टि से भी 'परादपि' (सकलाव्ययपुरुषादपि) परः '(निष्कलाव्ययपुरुषः)' रूप से निष्कलाव्ययपुरुष को 'परात्पर' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अथवा तो–मायातीत बलसापेक्ष परात्पर जैसे निष्कल–अद्वय है। तथैव केवल मायी अव्ययपुरुष भी (निष्कलाव्ययपुरुष भी) निष्कल–अद्वयधर्म्म से परात्परसमतुलित ही है। अतएव अव्ययपुरुष के ही निष्कल–मायोपाधिक–निष्कल, तथा मायाकलोपाधिक सकल, दोनों विवर्त्तभावों की अपेक्षा केवल मायोपाधिक निष्कलाव्ययपुरुष को मायातीत निष्कल परात्पर से अभिन्न, किंवा समतुलित रहने के कारण वस्तुगत्या भी 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर देना अन्वर्थ बन जाता है।

'कलाभाव' का अर्थ है कलात्मिका, किंवा कलापरिग्रहात्मिका खण्ड-खण्ड-भावात्मिका महामायाविनाभूता विष्णवत्तरसमन्विता **'योगमाया'**। आगमीया योगमाया ही निगम में 'कला' नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका मुख्य कर्म्म है अद्वय-अतएव संख्यातीत तत्त्व को अपने 'कलन' भाव ('कल' संख्याने) से संख्या-भावानुगत बना देना। एक को अनेक भातिरूप में परिणत कर देना-जिस भातिप्रवर्त्तिका कला के आधार पर ही **मा--प्रमा--प्रतिमा--अस्रीवि** आदि असंख्य छन्द प्रतिष्ठित है, जिनका **'वाक्परिमाणं छन्दः'** लक्षण माना गया है। निष्कलभावापन्न महामाया से माहामाया के गर्भ में प्रतिष्ठिता यह कलात्मिका खण्ड-खण्डभावापन्ना छन्दोरूपा माया क्योंकि निन्य 'युक्त' रहती है, अतएव **'महामायया युक्ता माया'** निर्वचन से यह कलात्मिका छन्दोमाया **'योगमाया'** नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके अक्षरनिबन्धन **'ब्रह्ममाया-विष्णुमाया-इन्द्रमाया-अग्निमाया-सोममाया'** ये पाँच मुख्य विवर्त्त माने गए हैं। पुराण ने इन्द्राग्निसोमत्रयी की समष्टिरूप त्रिनेत्र शिवस्वरूप के अनुबन्ध से तीनों मायाओं की समष्टि (इन्द्राग्नि-सोममायासमष्टि) को **'शिवमाया'** नाम से व्यवहृत किया है, जिसके आधार पर नैगमिक **'पञ्चदेवतानुगत पञ्चमायावाद'** आगमीय **त्रिदेवतावादानुगत त्रिमायावाद** प्रतिष्ठित हुआ है। पञ्चाक्षरनिबन्धना इन पञ्च कलामायाओं से आगे जाकर पञ्चक्षरनिबन्धना **'प्राणमाया-आपोमाया-वाङ्माया-अन्नादमाया-अन्नमाया-** इन पाँच योगमायाओं (कलाभावों का) आविर्भाव हो जाता है। तदित्थं महामायी निष्कल परात्परनामक अव्ययपुरुषकलात्मिका इन अव्ययनिबन्धना-अक्षरनिबन्धना-क्षरनिबन्धना पन्द्रह कलात्मिका योगमायाओं से **'पञ्चदशकल'** ÷ बन जाता है। पञ्चदशकलात्मिका इन पञ्चदश योगमायाओं से समावृत बनता हुआ **'योगेश्वरात्मा'** (योगमायीश्वरात्मा) वह माहामायीश्वर निष्कलाव्ययात्मा अपने निगूढ़ भाव से इन्द्रियातीत बनता हुआ सर्व-साधारण के लिए अज्ञात बन रहा है ×।

योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है, जिसे अग्रणी बनाकर अव्ययेश्वर धर्मग्लानि-उपशम के लिए अवतार धारण किया करते हैं*। इन सोलह कलाओं से 'सकल' बनता हुआ यह कलापरिग्रहयुक्त योगेश्वराव्ययपुरुष निगम में **'षोड़शी'** नाम से प्रसिद्ध होता हुआ **'षोड़शकलं वा इदं सर्वम्'** (कौ०ब्रा०-८।१।) रूपसे सम्पूर्ण विश्व का आरम्भण बना हुआ है। निम्नलिखित मन्त्रश्रुति इसी कलापरिग्रहात्मक षोड़शी-पुरुष का यशोगान कर रही है—

÷ गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठां (निष्कलाव्ययप्रतिष्ठां), देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
(परेऽव्यये—निष्कलाव्यये)।

× नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गीता० ७।२५।)।

* भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायासमावृतः॥
—रासपञ्चाध्यायी-श्रीमद्भागवत।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोड़शी' ॥

—यजुःसंहिता ८।३६।

अव्ययनिबन्धना पञ्च योगमाया, अक्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, क्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, दूसरे शब्दों में पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, सोलहवाँ परात्पर–समतुलित, अतएव 'परात्पर' नाम से ही प्रसिद्ध निष्कल महामायी अव्ययपुरुष, इन सोलह भावों की समष्टि ही अर्द्धमात्रिक–अकार-उकार–मकारमात्रिक–प्रणवमूर्त्ति षोड़शीप्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल **महेश्वर**, कलोपाधिक सकल **'योगेश्वर'** दोनों की समष्टिरूप एक पुरुषसंस्था है, जैसेकि मायातीत निष्कल शुद्धरसमूर्त्ति निष्कैवल्य **निर्विशेष**, तथा मायातीत अद्वय सर्वबलविशिष्ट रसैकघन सविशेष **परात्पर**, दोनों की समष्टि एक संस्था है। यही पुरुषसंस्था, किंवा त्रिपुरुषपुरुषसंस्था **'अमृतसंस्था'–'अभयसंस्था'** **'अयव्यसंस्था** आदि नामों से उपवर्णित है।

पुरुषानुगतकलाभावपरिलेखः—

१–निष्कलभावः—सर्वमाया—महामाया	—निष्कलोऽव्ययः—अर्द्धमात्राः(४)	
२–आनन्दकला—शान्तिमाया—योगमाया		
३–विज्ञानकला—तृप्तिमाया—योगमाया (२)		
४–मनःकला—तुष्टिमाया—योगमाया (३)	—पञ्चकलोऽव्ययः—अकारः (३)	
५–प्राणकला—रूपमाया—योगमाया (४)		
६–वाक्कला—नाममाया—योगमाया (५)		
७–ब्रह्मकला—प्रतिष्ठामाया—योगमाया (१)		—षोड़शीप्रजापतिः
८–विष्णुकला—अशनायामाया-योगमाया (२)		'मायीसकलप्रजापतिः'
९–इन्द्रकला—विस्रंसनमाया-योगमाया (३)	—पञ्चकलोऽक्षरः—उकारः (२)	महेश्वरो योगेश्वरः—
१०–अग्निकला—भोक्तृमाया—योगमाया (४)		'अमृतात्मा'
११–सोमकला—भोग्यमाया—योगमाया (५)		(१)
१२–प्राणकला—वेदमाया—योगमाया (१)		
१३–आपःकला—सुवेदमाया—योगमाया (२)		
१४–वाक्कला—देवमाया—योगमाया (३)	—पञ्चकलः क्षरः—मकारः (१)	
१५–अन्नादकला—भूतमाया—योगमाया (४)		
१६–अन्नकला—पशुमाया—योगमाया (५)		

(१०५)—सत्यभावप्रवर्तक 'गुण'परिग्रह, तथा गुणपरिग्रहात्मक सत्यपुरुष—(३)—

मायाकलात्मक द्वन्द्वपरिग्रहानन्तर क्रमप्राप्त गुण-विकारद्वन्द्वपरिग्रह की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जिसमें गुणपरिग्रह को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जा रहा है। षोडशीप्रजापति का मध्यस्थ पञ्चकल अक्षरात्मा ही गुणपरिग्रह से समन्वित होकर **'सगुणेश्वर'** कहलाया है। मायी अव्यय, तथा सकलाव्यय दोनों— **'अनादित्त्वान्निर्गुणत्त्वात् परमात्मायमव्ययः'** के अनुसार जहाँ निर्गुण है, वहाँ—गुणपरिग्रहसम्बन्ध से अक्षरात्मा 'सगुण' बन रहा है। यही सगुणेश्वर अपने बलनिबन्धन मर्त्यभाव से पञ्चकल क्षर का निमित्त बनता हुआ क्षरधिया 'सविकार' बन जाता है। **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'--अमृतं चैव मृत्युश्च०'** इत्यादि श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तानुसार अक्षरप्रजापति का अर्द्ध भाग अक्षीयमाण है, अमृतभावापन्न है। यही **'न क्षीयते'** निर्वचन से **'अक्षर'** कहलाया है। एवं अर्द्ध क्षीयमाण भाग मर्त्यभावापन्न है। यही **'क्षीयते'** निर्वचन से **'क्षर'** है। इस प्रकार एक ही अक्षर **'अक्षर--क्षर'** भेद से दो भावों में परिणत हो रहा है, जिस द्वैधभाव का मूल कारण है गुण तथा विकार नामक परिग्रहद्वन्द्व। गुणात्मक वही अक्षर अमृतप्रधान बनता हुआ अक्षर है, यही विश्वसर्ग का निमित्त कारण बनता है। विकारात्मक वही क्षर मर्त्यप्रधान बनता हुआ क्षर है, यही विश्वसर्ग का उपादानकारण बनता है। अमृतावस्था से वही अक्षर अक्षररूप से—कारण बनता हुआ मर्त्य कार्य्य की प्रागवस्था से सम्बन्धित **'प्र'** भाव है। मर्त्यावस्था से वही अक्षर क्षररूप से—कार्य्य बनता हुआ मर्त्यविश्व की प्रक्रान्तावस्था से सम्बन्धित **'कृति'** भाव है। **'प्र' और कृति'** की समष्टि ही **'प्रकृति'** है, यही प्र-कृतिरूप अक्षर-क्षरसमष्टि है, कारणकार्य्यसमष्टि है। कारणात्मक **'प्र'** भाव गुणात्मक है, कार्य्यात्मक (कार्य्योपादानात्मक) **'कृति'** भाव विकारात्मक है। इस प्रकार एक ही अक्षर उसी प्रकार अपनी अमृत-निबन्धना प्रागवस्था, मर्त्यनिबन्धना उत्तरावस्था से द्विधा विभक्त होकर गुण तथा विकारसर्ग का अधिष्ठाता बना हुआ है, जैसाकि—**'विकारांश्च गुणांश्चैतान् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्'** इत्यादि से स्पष्ट है।

स्थिति का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, अव्ययपुरुष पुरुष है। एवं यह—**'प्रकृतिं-पुरुषं चैव विद्धि--अनादी--उभावपि'** के अनुसार 'प्रकृति' से नित्य समन्वित है। अव्ययपुरुष की यह प्रकृति अव्यय-स्वरूपनिरूपक शास्त्रानुसार (गीतानुसार) **'पराप्रकृति'--'अपराप्रकृति'** रूप से दो प्रकार की मानी गई हैं। दोनों की समष्टि को निगमपरिभाषा में अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षणा 'आत्मप्रकृति' कहा गया है। तत्रस्थ पुरुषाव्यय ही **'प्रकृतिस्थपुरुष'** उद्घोषित हुआ है। अविचाली अव्ययरसनिबन्धना (आनन्दविज्ञानमनोमयरसाव्ययनिब-न्धना), अतएव रसप्रधाना वही प्रकृति **'पर'** अव्यय से समतुलिता रहती हुई जहाँ—'पराप्रकृति' (अव्ययप्रकृति—आत्मप्रकृति) कहलाई है, वहाँ विचाली अव्ययनिबन्धना (मनःप्राणवाङ्मयबलाव्ययनिबन्धना), अतएव बल-प्रधाना वही प्रकृति अपरभावात्मक विश्व की सहयोगिनी बनती हुई—'अपराप्रकृति' (विश्वप्रकृति-शरीरप्रकृति) कह-लाई है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी रसाव्यय की अमृता रसप्रकृति **'पराप्रकृति'** है। मनःप्राणवाग्घन सृष्टिसाक्षी बलाव्यय की मर्त्या बलप्रकृति **'अपराप्रकृति** है। पराप्रकृतिविशिष्ट पराव्यय ही सगुण प्रजापति है, अपराप्रकृतिविशिष्ट अपराव्यय ही सविकार प्रजापति है।

आनन्दविज्ञानमनोघनपराव्यय ही पराप्रकृतिरूप अक्षर के माध्यम से गुणभावपरिग्रह के द्वारा (सत्त्व-रजस्तमोभाव द्वारा) **'सत्यपुरुष'** रूप में परिणत हो जाता है। गुणत्रयविशिष्ट महान् ही अक्षरलक्षणा पराप्रकृति

है, जिसके लिए-बहुब्रह्मैकमक्षरं-महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' कहा गया है। यहीं तो चिदात्माव्ययपुरुष गर्भीभूत बनता हुआ **'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !'** को चरितार्थ करता है। इस प्रकार गुणपरिग्रह के सम्बन्ध से पराव्ययपुरुष सर्वगुणसम्पन्न (त्रिगुणभावापन्न) बनता हुआ-**'सगुणप्रजापति'**--**'सगुणेश्वर'** अभिधा में परिणत हो जाता है।

(१०६)-यज्ञभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष-(४)-

'बहु ब्रह्मैकमक्षरम्' वचन का 'ब्रह्म' शब्द **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** के अनुसार 'क्षर' भाव का स्वरूपसंग्राहक बना हुआ है। अनेक ब्रह्मों (क्षरों) से ही महदक्षर का गुणभाव मैथुनीसृष्टिलक्षणा विकार-सृष्टि का निमित्त बना करता है। अपञ्चीकृत गुणभूत जहाँ 'गुण' परिग्रह कहलाया है, वहाँ पञ्चीकृत वही गुणपरिग्रह **'विकारपरिग्रह'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मनःप्राणवाग्घन अपराव्ययपुरुष ही अपरा-प्रकृतिरूप क्षर के माध्यम से विकारभाव परिग्रहद्वारा (पञ्चीकृतगुणत्रय द्वारा) **'यज्ञपुरुष'** रूप में परिणत हो जाता है। विकारविशिष्ट यह यज्ञपुरुष ही मैथुनीसृष्टि का उपादान बनता है।

त्रयीवेद **'सत्य'** है, चतुर्थ वेद से समन्वित यही त्रयीवेद **'यज्ञ'** है। त्रयीवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति (सगुणेश्वर) ही अथर्ववेदमूर्त्ति यज्ञप्रजापति (सविकारेश्वर) रूप में वितत हो रहा है, जैसा कि **'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः'** (शत० १।१।४।३)-**'ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'** (शत० ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। महामायी महेश्वर, योगमायी योगेश्वर का समन्वितरूप अव्ययप्रधान, अतएव **'अमृतम्'** नामक पुरुष था। एवं-सत्य-यज्ञप्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अतएव **'ब्रह्म'** नामक मूलप्रकृति है। 'ब्रह्म' शब्द बृंहणभाव' का सूचक माना गया है। **'यतो बृंहण भवति तद्ब्रह्म'** **'बिभर्त्ति सर्वं तद्ब्रह्म'** इत्यादि निर्वचनार्थों के माध्यम से **'भर्म्मन्'** शब्द ही **'ब्रह्मन्'** रूप में परिणत हो रहा है। **'बृह'** धातु से **'मन'** प्रत्ययद्वारा **'ब्रह्मन्'** शब्द निष्पन्न हुआ है। जो तत्त्व 'उपादानकारण' बनता हुआ भी स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उस अविकृतपरिणामात्मक नित्यकारण को ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही इसका बृंहणभाव है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वस्वरूप से अविकृत-अक्षुण्ण बनी रहती हुई 'जाल' का उपादानकारण बनी रहती है, तथैव गुणविकारयुक्त सत्ययज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से (अक्षररूप से) अविकृत बना रहता हुआ क्षररूप से विश्व का उपादान बना रहता है। **'तथाऽक्षराद्-विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति'** इत्यादिवचन ब्रह्म के इसी अविकृतपरिणामवाद का, नित्यमहिमा-भाव का यशोगान कर रहे हैं *। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (व्याससूत्र) का ब्रह्म शब्द

---

* एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन ॥
—बृहदारण्यक ४।४।२३।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।७

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१

जन्मस्थितिभङ्गहेतुभूत प्रकृतिरूप सत्य-यज्ञात्मक-गुणविकारमय इसी अक्षरब्रह्म का स्वरूपसग्राहक बन रहा है। निष्कर्ष यही है कि सकल योगेश्वराव्यय ही विकार परिग्रह से यज्ञरूप में परिणत होता हुआ विश्व का उपादान बना हुआ है, एवं यही विकारपरिग्रहात्मक चतुर्थ आत्मपरिग्रह का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०७)–सर्वभूतान्तरात्मभावप्रवर्तक–'अञ्जन' परिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक 'विराट्पुरुष' (५)

आवरण ही अञ्जन है, आवरण ही आवरण है। तात्पर्य्य, स्वच्छ आवरण को **'अञ्जनावरण'** कहा गया है, एवं मलिनावरण को **'आवरणावरण'** माना गया है। श्वेतकाच दीपक का अञ्जनात्मक आवरण माना जायगा, कृष्णकाच, किंवा काष्ठपट्ट–किंवा घटादि आवरण दीपक के आवरणात्मक आवरण कहे जाएँगे। श्वेतकाच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होती। किन्तु कृष्णकाच–काष्ठपट्ट–घटादि मलिनावरण (अत्रिप्राणयुक्त मलीमस घन आवरण) भावों से दीपप्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। अञ्जन–आवरणरूप इन दोनों आवरणों में यही पार्थक्य है। इन दोनों में अञ्जनात्मक स्वच्छ आवरण-ही अक्षरब्रह्म को क्षरद्वारा **'सर्वभूतान्तरात्मा'** रूप में परिणत कर दिया करता है। दूसरे शब्दों में गुण-परिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर वितत विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक आवरण परिग्रह से **'सर्वभूतान्तरात्मा'** नामक **'साक्षीदेवसत्य'** रूप में परिणत होता है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक शुद्ध आवरणपरिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक **'विराट्प्रजापति'** रूप में परिणत होता है, जिसके **'सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्'** ये तीन **'ऐन्द्र–वायव्य–आग्नेय'** विवर्त्त माने गए हैं। यही वह सुपर्णेश्वर है, जिसका **'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। यही सौम्यपार्थिवत्रैलोक्य का सर्वस्व देवसत्यात्मरूप (अग्नि–वायु–इन्द्रदेवकृतरूप) पार्थिवेश्वर है, जो पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्श की अन्तिम शाखारूप पार्थिवस्तौम्यत्रिलोकीरूप शाखा पर सुपर्णरूप से प्रतिष्ठित है। मायी–सकल–सगुण–सविकारविशिष्ट साञ्जनेश्वरविराट्पुरुष का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०८)–भूतात्मभावप्रवर्त्तक–'आवरण, परिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक 'वैश्वानरपुरुष' (६)

विराट्प्रजापति के ही द्वितीय आवरणपरिग्रह के भेद से **'ईश्वर-जीव'** ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। सात्त्विक अञ्जनपरिग्रह से **'ईश्वरविराट्'** का उदय होता है, एवं **'पाप्मा'** नामक सुप्रसिद्ध तामस-मलिन अञ्जनपरिग्रह से **'जीववैश्वानर'** का उदय होता है। ईश्वरीय सात्त्विक अञ्जन **'विभूति'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसके **"लोक–वेद–देव–भूत–पशु"** ये पांच मुख्य विभाग माने गए हैं। जीवानुगत मलीमस–तामस अञ्जन **'पाप्मा'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसके—**"पर्य्याय–ऊर्म्मि–आशय–अवस्था–क्लेश–कर्म्म–विपाक—"** ये सात मुख्य विभाग माने गए हैं। विभूतिपरिग्रहात्मक ईश्वरविराट् जहाँ नित्यमुक्त है, वहाँ पाप्मापरिग्रहात्मक जीव-वैश्वानर विद्या-कर्म्मानुसार बन्धपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ बद्ध है, तो मुक्तपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ मुक्त है। ये ही इसके 'पर्य्याय' परिग्रह हैं, जो शास्त्र में **'बद्धपर्य्याय–मुक्तपर्य्याय'** नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

ईश्वर में जहाँ 'क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह-जरा-व्याधि—'इन ऊर्मियों (उच्चावच लहरों) का अभाव है, अतएव वह जहाँ एकरस है, शान्तरसमूर्त्ति है। वहाँ जीव इन ६ओं ऊर्मियों से युक्त रहता हुआ विभिन्नरस है, अशान्तमूर्त्ति है। ईश्वर में जहाँ **'भावना-वासनात्मक'** दोनों ज्ञान-कर्म्मात्मक संस्काररूप आशयों का अभाव है, वहाँ जीव दोनों आशयों से समन्वित है। ईश्वर जहाँ नित्यप्रबुद्ध-नित्यैकरस रहता हुआ **'जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मोह-मूर्च्छा-मृत्यु'** इन ६ओं अवस्थाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट है, वहाँ जीव इन ६ओं से सदा समन्वित रहता है। ईश्वर नित्यकर्म्मठ बना रहता हुआ भी, कर्म्ममय विश्व के अणु-अणु में व्याप्त रहता हुआ भी बुद्धियोग-प्रभाव से कर्म्मलेप से असंस्पृष्ट रहता हुआ जहाँ 'कर्म्म' से पृथक् है, वहाँ जीवात्मा (१) **'यज्ञ-तपो-दानलक्षण विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्म'**, (२) **'इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म'**, (३) **'सुरापान-अगम्यागमन-वृथाहिंसा-स्तेय-भ्रूणहत्या-छलात्मक धनोपार्ज्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध 'विकर्म्म' रूप असत्कर्म्म'**; (४) **जलताड़न-कराघात-पादभ्रमण-हस्ताङ्गुल्यादिपरिभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य' आदि शास्त्राप्रतिषिद्धाविहित 'अकर्म्म' रूप निरर्थक कर्म्म'**, (५) **'सर्वमूर्द्धन्य-बुद्धियोगलक्षण-अतएव मुक्तिसाधन 'निष्कामकर्म्म'** (६) **एवं निष्ठात्मक प्राकृतिक यथापरिस्थिति-यथाकाल-सहजरूप से घटित-विघटित सहजकर्म्म'** इन ६ कर्म्मों से प्रारब्ध कर्म्मानुसार समन्वित रहता है। ईश्वर जहाँ **'जाति-आयु-भोग'** इन तीन कर्म्मविपाकों से असंस्पृष्ट रहता है, वहाँ जीवात्मा प्रारब्धकर्म्मानुगत परिपाकस्वरूप योनि-आयु-भोग्यपरिग्रह से नित्य युक्त रहता है। जीवात्मा को प्रारब्धकर्म्मपरिपाक के अनुपात-तारतम्य से ही वर्ण-योनि-आयु-भोग्यपरिग्रह प्राप्त होते हैं, जिन्हें आत्मबुद्ध्यनुगत पुरुषार्थद्वारा ही परिवर्त्तित किया जा सकता है। इसी आधार पर यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

आयुः-कर्म्म च-वित्तं च-विद्या-निधनमेव च।
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

तदित्थं-जीवात्मस्वरूपसम्पादक सप्तविध तथोपवर्णित पाप्माओं के सम्बन्ध से ईश्वरीय विराट् ही अंशात्मना जीववैश्वानरस्वरूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि-**'अंशो नानात्वात्'** (व्याससूत्र) **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता) इत्यादि आप्तवचनों से प्रमाणित है। यहीं एक इस दृष्टिकोण को भी लक्ष्य बना लेना चहिए कि, पूर्व में जिस आवरणपरिग्रह के स्वच्छआवरण-मलिनावरण भेद से केवल दो भेद बतलाते हुए इन दोनों को क्रमशः ईश्वर-जीवस्वरूपानुगत बतलाया गया था, अब इस प्रक्रान्त विशेष दृष्टिकोण से आवरण के गुणत्रयभेद से हम तीन विवर्त्त मानेंगे, जिनका क्रमशः **'सत्त्वमूर्त्ति अव्यय, रजोमूर्त्ति अक्षर, तमोमूर्त्ति क्षर'** इन तीन षोडशीपुरुषेश्वर के तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया है। इस दृष्टि से **'सत्त्वावरण-रज आवरण-तम आवरण'** भेद से एक ही आवरण के दो के स्थान में तीन आवरण हो जाते हैं।

(१०६)-विभूति, पाप्मा, और आवरण—

ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे **'विभूति'** कहा जायगा। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का तो अवरोधक न बने, किन्तु प्रकाश को मलिन कर दे, **'पाप्मा'**-माना जायगा। एवं ऐसा

अञ्जन, जो प्रकाश को सर्वथा ही अवरूद्ध कर दे–**'आवरण'** कहलाएगा । इस प्रकार एक ही अञ्जन के **'विभूति–पाप्मा–आवरण'** ये तीन विवर्त्त बन जायँगे । तीनों आवरणात्मक अञ्जनों को क्रमशः **'अञ्जन-पाप्मा-आवरण'** इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, तीनों को क्रमशः **'सत्त्वावरण–रज आवरण-तम आवरण'** माना जायगा, एवं तीनों को क्रमशः समन्वित माना जायगा **'सत्त्वाव्यय-रजोऽक्षर--तमःक्षर'** नामक तीन आत्मपर्वों से समन्वित, अनुगृहीत, तथा अनुग्रहीत ।

उदाहरणमाध्यम से आवरणत्रयी का समन्वय कीजिए । 'हरीकेन लालटेन' नाम से लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध दीपक को उदाहरण बनाइए । दीपप्रभा काचगोलक (गोला) से आवृत है, यह गोला (श्वेत काच) इस दीपप्रकाश का आवरण है । किन्तु इस आवरण से दीपप्रकाश अवरुद्ध नहीं होने पाता । इसी को हम 'विभूति' रूप अञ्जनावरण कहेंगे, सत्त्वावरण मानेंगे । दीपतैलग्राहिणी वर्त्ती की विषमता से, किंवा तैल की स्वल्पमात्रा से, अथवा तो झञ्झावातादिप्रवेश से दीपवर्त्तिका धूम का सर्जन करने लगती है । इससे लालटेन का गोला मलिन हो जाता है । स्वच्छ प्रकाश इस काचमल से मलित हो जाता है । यही इसका 'पाप्मा' रूप आवरण माना जायगा, जिससे प्रकाश आत्यन्तिक रूप से अवरुद्ध तो नहीं हुआ, किन्तु मलिन हो गया । कालान्तर में यह काचराग अधिकाधिक घनता में परिणत होता हुआ सर्वथा प्रकाश का अवरोधक भी बन सकता है । यही इसका 'आवरण' रूप आवरण (आत्यन्तिक मलिनता) माना जायगा, जिससे रहता हुआ भी प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होता हुआ बहिर्म्मण्डल में ज्योतिःप्रसार में असमर्थ बन जाता है । इस प्रकार श्वेतकाच दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अञ्जनावरण, कृष्णकाच दीपक के लिए पाप्मारूप अञ्जनावरण, एवं कज्जलावेष्टित काच दीपकके लिए आवरणरूप आवरण प्रमाणित हो जाता है । ठीक यही स्थिति यहाँ समन्वित समझिए । सत्त्वाञ्जनरूप विभूति आवरण से वही चिदात्मप्रकाश **'ईश्वर'** है, रजोरूप पाप्मावरण से वही **'जीव'** है, एवं तमोरूप आवरणात्मक आवरण से वही **'शरीर'** (किंवा जड़पदार्थात्मक पाञ्चभौतिक विश्व) है ।

विभूति–पाप्मा–आवरण–परिलेखः—

१—विभूतिः (अञ्जनम्)—सत्त्वभावः—स्वच्छावरणम्—अव्ययानुगतः—'ईश्वरः' } —अञ्जनम्

२—पाप्मा (अञ्जनम्)—रजोभावः—मलिनावरणम्—अक्षरानुगतः—जीवः } —आवरणम्

३—आवरणम् (आवरणम्)—तमोभावः—घनावरणम्—शरानुगतं— —जगत् शरीरं वा } —आवरणम



वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, यज्ञप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विभूति–आवरण से समन्वित–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्त्ति–सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरप्रजापति के आधार पर ही पाप्मावरण समन्वित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्त्ति–'भूतात्मा' नामक जीवप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, जिसे हम **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** नाम से **'मायी–सकल–सगुण–सविकार–साञ्जनविशिष्ट सावरणात्मा'** कह सकते हैं, यही जीवात्मा की सर्वरूपतालक्षणा सर्वात्मकता है, जिसके आधार पर–**'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तालिकाद्वारा इस षट्–परिग्रहात्मक षट्–आत्मविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, एवं तदनन्तर प्रकृत का अनुसरण कीजिए !

षट्परिग्रहोपेतप्रजापतिविवर्त्तपरिलेखः—

१–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्य–षोडशीप्रजापतिशरीरावच्छिन्नः———{ आत्मन्वी- }–**"मायी महेश्वरः"**

२–विश्व–विराट–यज्ञ–सत्यप्रजापतिशरीरावाच्छिन्नो महेश्वरगर्भितः'–{ आत्मन्वी– }–**'सकलः षोडशीप्रजापतिः'**

३–विश्व–विराट–यज्ञप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भितः–{ आत्मन्वी– }–**'सगुणः सत्यप्रजापतिः'**

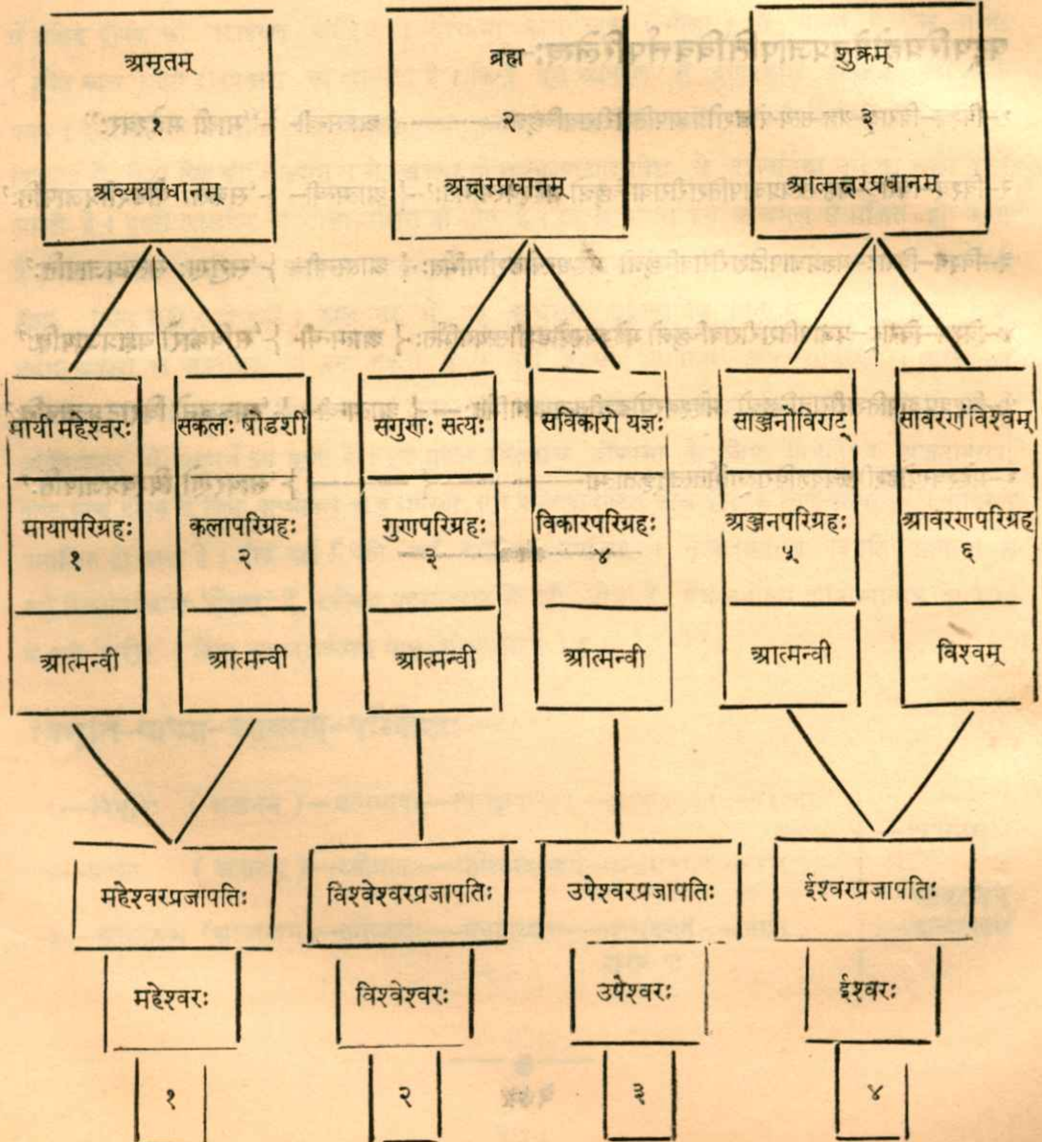
४–विश्व–विराट्–प्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्यगर्भितः–{ आत्मन्वी- }–**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'**

५–विश्वप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भितः—{ आत्मन्वी– }–**'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः'**

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्तत्कृतात्मा——————{ ——— }–**'सावरणो विश्वप्रजापतिः'**

———***———

महेश्वरविश्वेश्वरोपेश्वरेश्वरप्रजापतिपरिलेखः—



सकलसगुणसविकारसांजनसावरणप्रजापतिस्वरूपपरिलेख :—

सर्वबलविशिष्टरसैकघनः—मायाततीः—परात्परः

मायापरिग्रहाधिष्ठाता	परात्परः	परात्परपुरुषः	अमृतम् — निष्कलो महेश्वरः — सकलः षोडशी	अर्द्धमात्रा	महेश्वरः सकलाधिष्ठाता
कलापरिग्रहाधिष्ठाता	पुरुषः	अव्ययपुरुषः	अव्ययः — आनन्दः, विज्ञानम्, मनः, प्राणः, वाक्	अकारः	सकलेश्वरः—सगुणाधिष्ठाता
गुण परिग्रहाधिष्ठात्री	पराप्रकृतिः	अक्षरपुरुषः	अक्षरः — ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, अग्निः, सोमः	उकारः	सगुणेश्वरः—सविकाराधिष्ठाता
विकारपरिग्रहाधिष्ठा	अपराप्रकृतिः	आत्मक्षरपुरुषः	आत्मक्षरः	म	श्वरः—साञ्जनाधिष्ठाता

षड्विधोपासकपरिलेखः

१–परात्परोपासकाः	मायोपासकाः—महेश्वरानुयायिनः	परमास्तिका गीताचार्य्याः
२–अव्ययात्मोपासकाः	कलोपासकाः—षोडशीपुरुषानुयायिनः	वेदान्तिनः
३–अक्षरानुगृहीतात्मक्षरोपासकाः	गुणोपासकाः—सत्यप्रजापत्यनुयायिनः	प्राधानिकाः
४–आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासकाः	विकारोपासकाः–यज्ञप्रजापत्यनुयायिनः	वैशेषिकाः
५–विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासकाः	अञ्जनोपासकाः-विराट्प्रजापत्यनुयायिनः	साम्प्रदायिकाः
६–वैकारिकक्षरानुगृहीतविश्वोपासकाः	आवरणोपासकाः-विश्वप्रजापत्यनुयायिनः	लोकायतिकाः

****

अमृत–ब्रह्म–शुक्रत्रयी–परिलेखः—

१—परात्परगर्भितः–मायापरिग्रहविशिष्टः—मायी निष्कलो **महेश्वरः** २—परात्पर–महेश्वरगर्भितः–कलापरिग्रहविशिष्टः–सकलः **षोडशी**	—अमृतम्
३—परात्पर–महेश्वर–षोडशीगर्भितः–गुणपरिग्रहविशिष्टः—सगुणः **सत्यः** ४—परात्पर–महेश्वर-षोडशी–सत्यगर्भितः—विकारपरिग्रहविशिष्टः–सविकारो **यज्ञः**	—ब्रह्म
५—परात्पर–महेश्वर–षोडशी–सत्य–यज्ञगर्भितः–अञ्जनपरिग्रहविशिष्टः–साञ्जनो **विराट्** ६—परात्पर-महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञ–विराट्गर्भितं–आवरणपरिग्रहविशिष्टं–सावरणं-**विश्वम्**	—शुक्रम्

**

(११०)–परोरजमूर्त्ति वेदमय ब्रह्मा—

माया–कलादि षट्परिग्रहानुगता प्रासङ्गिकी चर्चा उपरत हुई। अब पुनः प्रकृत प्रक्रान्त विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ८२ वें परिच्छेद से यह प्रतिज्ञा हुई थी कि' जिस काममय सकलेश्वर की पञ्चचिति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए (२५० पृष्ठ) सृष्टिमूलतत्त्व की पूर्व में मीमांसा हुई थी, उसी का सिंहावलोकनदृष्ट्या विभिन्न दृष्टिकोण से पुनः एक बार समन्वय कर दिया जाय। प्रतिज्ञानुसार उन विभिन्न दृष्टियों से षट्परिग्रहस्वरूपनिरूपणपूर्वक सकलेश्वर का यशोगान हुआ। यही काममय मायी महेश्वर माया-निबन्धन केन्द्रभाव से मनोमय बनता हुआ 'मनु' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजभाव से स्वतः एव आविर्भूत होने के कारण तत्त्वज्ञों नें 'स्वयम्भू' अभिधा में समलंकृत किया, जो अभिधा आगे चलकर उपेश्वरमूला सृष्टि में परमेष्ठिप्रभवपरोराजा वेदमय ब्रह्मा के साथ भी समन्वित हो गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

[१११]-सर्वभूतमय स्वयम्भू मनु—

इस अव्यक्त 'स्वयम्भू' ब्रह्म के सम्बन्ध में यह भाव व्यक्त किया जा सकता है कि, अपने उत्थिताकांक्षा-मूलक निष्कामभावात्मक सहजकामभाव की सहज प्रेरणा से, स्वाभाविकी शक्ति से * सर्वबलविशिष्टरसैकघन मायातीत ब्रह्म, अतएव 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध परात्पर ब्रह्म के किसी अमुक अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-नियत प्रदेश में अव्यक्तावस्थापन्न (सुप्तावस्थापन्न) मायाबल ÷ व्यक्तावस्था (जाग्रदवस्था) में परिणत हो गया। व्यक्त मायाबल से मित (सीमित-परिछिन्न) परात्पर ब्रह्म का वह मायामय प्रदेश ही 'मायापुर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका हृद्य 'इन्द्राक्षर' से सम्बन्ध माना गया है + । इसी मायापुर के सम्बन्ध से तत्परात्परप्रदेशावच्छिन्न रसबलमूर्त्ति 'परात्पर' 'परात्परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजभावात्मक स्वयंभाव से प्रादुर्भूत होने के कारण हम अवश्य ही 'स्वयमुद्बभौ' रूपेण 'स्वयम्भू' अभिधा से समलंकृत कर सकते है। तमोभूत-अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-सर्वतः-प्रसुप्तमिव अव्यक्त सर्ग को प्राथमिक व्यक्तरूप प्रदान करने वाला लक्षणविरहित-तर्कासंस्पृष्ट अङ्गुलीनिर्देशसंकेतातिक्रान्त-विश्वाभावलक्षण 'अनुपाख्य' (क) तम को विश्वरूप प्रकाश (विश्वभाति-प्रतीति) रूप में परिणत करने वाला स्वयम्भूपुरुष ही विश्वसर्ग का प्रथम अभिव्यञ्जक बना करता है, जैसाकि निम्नलिखित आर्षस्मृतिवचनों से प्रमाणित है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥२॥

***-परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।** (उपनिषत्)

÷ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता)

+ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋक्संहिता)

(क)-भारतीय आध्यात्मिक विज्ञानदृष्टया तमोभाव 'अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त, भेद से तीन भागों में विभक्त है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यन्तर्गत 'कृष्णतत्त्वरहस्य' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित है। काला रंग निरुक्तकृष्ण, किंवा निरुक्ततम है। रात्रि का तम, एवं नेत्रपटलावरोध पर प्रतीयमान तम (अँधेरा) अनिरुक्ततम के उदाहरण माने जा सकते हैं। एवं विश्वाभावलक्षण विश्वातीत तत्त्व हमारी प्रज्ञा-बुद्धि से एकान्ततः अतिक्रान्त रहता हुआ 'अनुपाख्यतम' कहलाया है।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥

—मनुः १।५-६-७- *

(१)-इस वर्त्तमान सर्गदशा में विश्वसत्ताकाल में भातिरूप से अङ्गुलीनिर्देशद्वारा प्रतीयमान यह चर-अचरप्रपञ्च (अपनी अव्यक्तावस्था में) अनुपाख्यतम (विश्वाभावरूप तम) से ही आक्रान्त था, प्रत्यक्ष ज्ञान से सर्वथा अतीत था। सर्वविध परिचायक लिङ्गभावों से बहिर्भूत था, तर्कबुद्धि से असंस्पृष्ट था, वाङ्मनस-पथातीत बनता हुआ अविज्ञेय था, सुप्तवत् था, ऐसी थी वह सृष्टिपूर्वदशा, सृष्टि की पूर्वावस्था। (२)-अनन्तर (मायाबलोदय से) स्वयं अव्यक्तावस्थापन्न स्वयम्भू भगवान् इस व्यक्तावस्थापन्न विश्व को अभिव्यक्त करते हुए प्रकट हुए, जो स्वयम्भू पञ्चमहाभूतों के आदिभूतात्मा (आकाशभूतात्मा) हैं, वर्त्तुलाकार हैं, अव्यक्त तमोभाव के निवारक हैं ॥ (३)-इन्द्रियातीत-सुसूक्ष्म-अव्यक्त जो सनातन तत्त्व है, (सर्वभूताधिष्ठाता होने से) जो सर्वभूतमय है, (अपनी अव्यक्तावस्था के कारण) जो अचिन्त्य है, वही (मायोदय से) स्वयमेव आविर्भूत होते हुए 'स्वयम्भू' अभिधा से प्रसिद्ध होगए ॥" उक्त श्लोकत्रयी का यही अक्षरार्थ है। जिसका निम्न-लिखित शब्दों में रहस्यार्थानुगमन किया जा सकता है।

(११२)— अतीतः पन्थानम्—

परात्पर ब्रह्म असीम है, अतएव उस में हृदयबल (केन्द्रभाव) का अभाव है। किंवा परात्पर का अणु-अणु ही केन्द्रभाव है, अतएव सर्गोपयिक नियत केन्द्रबिन्दु का उस में अभाव है। असीमभाव, ससीमभाव, दोनों के साथ ही यद्यपि केन्द्रभाव का सम्बन्ध है, तथापि दोनों की इस केन्द्रता में ऋत-सत्य-भेद से महान् विभेद है। असीमभाव पुरात्मक (सीमात्मक) पिण्डलक्षण सत्यभाव से असंस्पृष्ट रहता हुआ 'ऋत' तत्त्व है। अपने इस असीम ऋतभाव के कारण ऋतलक्षण असीमतत्त्व का प्रतिबिन्दु-बिन्दु केन्द्र है। उधर ससीमभाव पुरात्मक पिण्डलक्षण सत्यभाव से समन्वित रहता हुआ 'सत्यतत्त्व' है। अतएव इसमें

---

* निम्नलिखित श्रौत सिद्धान्त ही इस स्मार्त्त सिद्धान्त का मूलाधार है, जिसका 'सर्वहुतयज्ञ' रूप से श्रुति में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। देखिए (शत० १३।७।१।१।)

(१)—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत्। स वा एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति।"

(२—तपसा देवा देवतामग्र अजयन्, तपसर्षयः स्वएवाविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीः-येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति। प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयम्भु ब्रह्म परमं तपो यत्। स एव पुत्रः-स पिता स माता तपो ह यक्षं प्रथमं सम्बभूव ॥" इति (तै० ब्रा० ३।१२।३।१)

(३)—आपो ह यद् बृहतीर्गर्भमायन् दक्षं दधाना जनयन्तीः स्वयम्भुम्।
तत इमेऽध्यसृज्यन्त सर्गाः—अद्भ्यो वा इदं समभूत्।
तस्मादिदं सर्वं ब्रह्म स्वयम्भु—इति। (तै० आ० १।२३।८)।

नियत केन्द्रभाव अभिव्यक्त रहता है। तात्पर्य्य यही है कि, व्यापक असीमभाव की प्रति बिन्दु बिन्दु स्वतन्त्र केन्द्र है। सर्वकेन्द्रत्त्व ही व्यापक मायातीत परात्परब्रह्म का अकेन्द्रत्त्व, किंवा अहृदयत्त्व है, यही इसका अमनोमयत्त्व तथा अकामयत्त्व, अतएव अतीतः पन्थानत्त्व है।

(११३)–पुरुष एवेदं सर्वम्—

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः सं० ३४।६) इत्यादि मन्त्र-वर्णनानुसार कामनामय मन नियतहृदय में ही प्रतिष्ठित माना गया है। परात्पर असीम है, अतएव उस में नियत हृदय का अभाव है। हृदयाभाव से उसमें मनोऽभिव्यक्ति का अभाव है। एवं तदभाव में उसमें मानसिक कामभाव का अभाव है। इस कामभावाभाव से उसमें सृष्टिप्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है, और यहीं वह विवर्त्तवाद सर्वात्मना विश्रान्त है, जिसे वेदान्तनिष्ठा ने 'मायामयसर्ग' नाम से घोषित किया है। यही कारण है कि, अहृदय–अमन–अकाम–परात्परब्रह्म को विवर्त्तभावापन्न सृष्टिकर्तृत्त्व से सर्वात्मना असंपृष्ट मान लिया गया है। सृष्टिकर्त्ता बनता है परात्परब्रह्म का ही वह सीमित प्रदेश, जो मायाबलोदय से सीमित बनता हुआ 'मायापुर' सम्बन्ध से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है *। यह महामायी हृदयबलावच्छिन्न (नियतकेन्द्रावच्छिन्न), अतएव मनोमय, अतएव च कामनामय पुरुष ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि—**'पुरुष एवेदं सर्वं–यद् भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुःसं० ३१।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है।

(११४)–प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान—

'माया–हृदय–महिमा अभ्व–जाया–धारा–आपः' आदि पूर्वोपात्त सोलह प्रकार के सुप्रसिद्ध बलकोशों में से सर्वादिभूत–सर्वमुख्य–सर्वबलकोशाधारभूत मयाबल ही है। इससे दूसरा स्थान 'हृदयबल' का है। परात्पर के अमुक नियमित प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उदित मायाबल से परात्पर का वह अमुक नियमित प्रदेश उसी प्रकार सीमित बन गया, जैसे कि पाषाणदुर्गसीमा से तदवच्छिन्न भूप्रदेश सीमित बन जाया करता है। सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल के उदित होते ही इस बलरसमूर्त्ति मायी 'परात्परपुरुष' में दूसरे हृदयबल, तत्-सहैव महिमाबल दोनों बलों का प्रादुर्भाव हो पड़ा। स्वयं केन्द्रबिन्दु तो 'हृदय' कहलाया, एवं हृदयबिन्दु से आरम्भ कर मायापुररेखात्मिका प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त प्रदेश 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। **'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'** (छां० उप० ७।२४।२।१।) के अनुसार इस मायामहिमा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयावच्छिन्न पुरुष ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बना, जैसा कि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

(११५)–रसबलमूर्त्ति स्वयम्भूपुरुष—

महिमामण्डल, हृदयभाव, इन दो भावों से महामायी परात्परपुरुष में बीजरूप से 'आत्मन्वी' भाव उद्बुद्ध हो गया। आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वित अवस्था ही विज्ञानभाषा में 'आत्मन्वी' नाम से व्यवहृत हुई है। सर्वहृदयात्मक केवल हृदय (अनियमित हृदय) भाव के कारण निःसीम अमायी परात्पर ब्रह्म जहाँ केवल 'आत्मा' था, वहाँ नियतहृदयभावरूप आत्मा, परिधिभावात्मक महिमाभावरूप शरीर, इन दो भावों से सीमित परात्पर पुरुष 'आत्मन्वी' बन जाता है, जिसका लोकव्यवहार में 'शरीरी'–'देही' आदि

* पुरि शेते–इति 'पुरिशयं' सन्तं 'पुरुष' इत्याचक्षते। (गोपथ० पू० १।३६।)

नामों से व्यवहार प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मानवसंस्था में पाञ्चभौतिक शरीररूप महिमा, हृदयरूप आत्मा, ये दो विभाग हैं, एवमेव उस ससीम मायी महेश्वर में भी दोनों विभाग महिमारूप शरीर, आत्मरूप हृदय, इस रूप से प्रतिष्ठित है। यह संस्मरणीय है कि, मानव का शरीररूप महिमाभाग जैसे विनश्वर है, सर्वथा विजातीय है, परात्परपुरुष का मायामय महिमाभाग वैसा विनश्वर नहीं है। जैसी महिमा में मानव-लोकमानव-प्रतिष्ठित है, वैसी महिमा में वह प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव छान्दोग्यश्रुति को आगे चलकर -'**अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः**' यह भी कह देना पड़ा है। इस नित्यमहिमा* लक्षण परात्परपुरुषरूप महामायी महेश्वरको, अमायी परात्परपरमेश्वर के प्रथमावताररूप महेश्वर को, रसबलमूर्त्ति मायी स्वयम्भूपुरुष को लक्ष्य बनाकर ही हमें मानवस्वरूपाधारभूत 'मनु' तत्त्व का समन्वय करना है।

(११६)-मनस्तन्त्रके चार विवर्त्त—

हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसबल, किंवा 'हृद्यपुरुष' ही विज्ञानभाषा में '**श्योवस्यस् ब्रह्म**' ÷ कहलाया है, जो यत्रतत्र '**श्वोवसीयस्**' नाम से भी उपवर्णित हुआ है। संकल्प-विकल्प-(ग्रहण-परित्याग) भावात्मक नियत विषयानुगमन के कारण '**नियतविषयग्राहित्त्वमिन्द्रियत्त्वम्**' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता मन '**इन्द्रियमन**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके लिए-'**पञ्चे न्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि**' (अथर्वसंहिता...) इत्यादि मन्त्रश्रुति प्रसिद्ध है। प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदना (अनुकूलता), प्रतिकूलवेदना (प्रतिकूलता) भेद से विभिन्न दो व्यवहार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का रूपदर्शन-घ्राणग्रहण-रसास्वादन-आदि आदि स्व-स्व-व्यापार सर्वथा नियत है। किन्तु वेदनात्मक (अनुभवात्मक) अनुकूल-प्रतिकूलोभयविध व्यापार सम्पूर्ण विभिन्न इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार-प्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियाधारभूत वही तत्त्व दूसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन '**अनिन्द्रियमन**' नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्तिदशा में सर्वेन्द्रियमन इन्द्रियप्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धिद्वारा जब पुरीततिनाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इन्द्रिय-व्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भी 'अहं' अभिमानात्मक आत्मा (सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा) का व्यापार सुषुप्तिदशा में निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वास-प्रश्वाससञ्चार, रक्तादिधातुसञ्चार, आदि आभ्यन्तरबाह्य-व्यापार बने हुए हैं। सुषुप्तिदशा में भी ये शरीरव्यापार जिस सत्त्वगुणक ज्ञानीय कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं, वही तीसरा '**सत्त्वमन**' है, जिसे '**महन्मन**' भी कहा गया है, जिसके सम्बन्ध से अलौकिक मानव '**महानात्मा**'-'**महात्मा**' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं-परात्परपुरुषात्मक '**श्वोवसीयस्मन-महन्मन-अनिन्द्रियमन-इन्द्रियमन**' भेद से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। यही भारतीय मनोविज्ञान-

---

* **एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।**

—देखिए पृ० सं० २७१।

÷ **असतोऽधि मनोऽसृज्यत । मनः प्रजापतिमसृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत । तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं, यदिदं किञ्च । तदेतत्-'श्वोस्यस्यं' नाम ब्रह्म ।**

(तै० ब्रा०-श्वोवसीयस्) जै० ब्रा० उप० १०३)।

दिशा की संक्षिप्त रूपरेखा है। प्रतीच्य मनोविज्ञान (साइकालॉजी–Psychology) जहाँ केवल भौतिक–सर्वथा स्थूल–बाह्य–पार्थिव 'इन्द्रियमन' मन पर विश्रान्त है, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान श्वोवसीयस् नामक उस पुरुषमन पर विश्रान्त है, जिसे 'आत्ममन' नाम से घोषित किया गया है।

(११७)–ऐन्द्रियकज्ञाननिकषा—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' (ईशोपनिषत् १) के अनुसार आत्ममन जड़चेतन–सर्वत्र समरूप से अवस्थित रहता हुआ भी अभिव्यक्त है केवल मानवस्वरूप में ही। अतएव एक मात्र मानव ही सम्पूर्ण सर्गों में पुरुष से समतुलित रहता हुआ पूर्ण कहलाया है, जैसा कि—**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। इसी सर्वव्यापक आत्ममन के आधार पर–**'आत्मैवेदं सर्वम्'–'सर्वं 'खल्विदं' ब्रह्म' 'ब्रह्मै वेदं सर्वम्'–'प्रजापतिस्त्वेदं सर्वं यदिदं किञ्च'–'सर्वं ह्येव प्रजापतिः'** इत्यादि सर्ग–प्रतिसर्गरहस्यनिरूपणात्मक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इस आत्ममन से अनुप्राणित मानवीय सिद्धान्त ही **'आर्षसिद्धान्त'** माना गया है। इस सिद्धान्त से सिद्धान्तित वाङ्मयशास्त्र ही **'अपौरुषेय वेदशास्त्र'** कहलाया है, जो अपने निर्भ्रान्ति सत्यज्ञानप्रभाव से स्वतःप्रमाणशास्त्र है। महन्मनोऽनुगत **सत्त्वज्ञान** की, बुद्ध्यनुगत **धिषणाज्ञान** की, अतीन्द्रियमनोऽनुगत **प्रज्ञानज्ञान** की, एवं इन्द्रियानुगत **ऐन्द्रियकज्ञान** की एकमात्र निकषा यही स्वतःप्रमाणशास्त्र है, जिसके लिए–**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'** (गीता १६।२४) सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(११८)–श्वः श्वः वसीयान् आत्ममन—

पूर्वोपवर्णित आत्ममन 'पुरुषमन' है, जो उत्तरोत्तर भूमाभाव (वृद्धिभाव–उत्कर्ष–विकास) का ही अनुगामी बना रहता है। **एको'ऽहं बहुस्याम्'** इत्यादि रूप से यह पुरुषमन सदा श्वः श्वः (उत्तरोत्तर–दिन दिन) वसीयान् है, विकास–वृद्धि–उत्कर्षपथानुगामी है, अतएव इसे **'श्योवसीयस्'** कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। यही श्वोवसीयसमन उस हृदयभाव से समन्वित काममय पुरुष है, जिसे हमने मायावच्छिन्न परात्परपुरुष कहा हैं। यही काममय पुरुषमन असङ्गरसानुप्राणिता मुमुक्षा (मुक्तिकामना), तथा ससङ्गबलानुप्राणिता सिसृक्षा (सृष्टिकामना) से उभयात्मक बनता हुआ–**'उभयात्मकं मनः'** को सार्थक कर रहा है। सम्भूति ही सृष्टि है, सृष्टिबन्धनविमोकलक्षण विनाश ही मुक्ति है। प्रत्येक सृष्टिधारा में, सृष्टिधारा के अणु अणु में रसानुगत बन्धनविमोक, बलानुगत ग्रन्थिबन्धनलक्षण विनाश–सम्भूति दोनों व्यापार समानक्षेत्रनुगामी बनते हुए **'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह'** को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। सृष्टिधारा में समष्ट्या–व्यष्ट्या–उभयथा निर्म्माण और ध्वंस, दोनों समकालिक, किंवा एककालिक हैं। कारण यही है कि, सृष्टिनिर्म्माता हृद्य मनोमय परात्परपुरुषप्रजापति की मनोमयी कामना रसापेक्षया ध्वंसानुगामिनी, बलापेक्षया निर्म्माणनुगामिनी, रूप से उभयात्मिका बनी हुई है। उभयात्मिका यह 'कामना' ही सृष्टि का प्राथमिक 'रेत' (उपादानात्मक मूलबीज) है, जो हृद्य पुरुषमन से विनिर्गत हुआ है। सृष्टिकर्म्म में सर्वप्रथम मनोरेतोलक्षण इस कामबीज का ही उदय होता है, जिस कामबीज से आगे चल कर सद्रस के आधार पर असद्बलों के ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से सर्गोपयिक सम्बन्ध समन्वित हो जाता है। एवं जिस सदसत् (रसबल) के सम्बन्ध से (रसाधारेण होने वाले बलों के विविध सम्बन्धों से) सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण

हुआ है। मनुतत्त्व की पूर्व प्रतिज्ञाता सम्बद्ध सामान्य परिभाषा से समन्वित–'**कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्**' इत्यादि मन्त्र का यही भावदिग्दर्शन है।

(११९)–सत्यस्य सत्यात्मक सत्यात्मलोक—

सर्वजगन्मूलाधिष्ठाता–काममय–रसबलमूर्त्ति–हृदयस्थ–पुरुषमन ही प्रतिज्ञात सुप्रसिद्ध '**मनु**' तत्त्व है। रसबलात्मक हृद्यमन ही विश्वात्मा है, यही पुरुष है। '**महाभूतादि वृत्तौजा:**' इस मनुवचन के अनुसार यह मनोमय पुरुष आगे चलकर द्वारानुगत भौतिक सर्गनिबन्धन पञ्चमहाभूतों का आदिभूत '**आकाशात्मा**' है। हृदयभाव के कारण, साथ ही महिमारूप शरीरभाव के कारण '**सहृदयं सशरीरं सत्यम्**' * इस परिभाषा के अनुसार यह पुरुष सत्यमूर्त्ति है, जैसे विश्वसत्यापेक्षया '**सत्यस्य सत्यम्**' कहा है ÷। अतएव आकाशात्मा स्वयम्भूपुरुष से अनुप्राणित लोक '**सत्यलोक**' माना गया है। पुरुषात्मसत्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य बनाते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

'मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्य:। तस्मिन्नन्तर्हृदये स:। एष: सर्वस्येशान:। सर्वस्याधिपति:। सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्च"।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।७।

(१२०)–सर्वशास्ता मनु—

पुरुषात्मक आत्ममन (अव्ययमन) को श्रुति ने–'**सर्वमिदं प्रशास्ति**' रूप से सम्पूर्ण विश्व का प्रशासिता (अनुशासक) माना है। यही पुरुषमन क्योंकि–'मनु' है। अतएव श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृति का–'**प्रशासितारं सर्वेषाम्**' यह उद्घोष मनु को सर्वशास्ता प्रमाणित करता हुआ श्रौतभाव से सर्वात्मना समतुलित है। '**अणोरणीयान्-महतो महीयान्**' रूप से आत्मा अणोरणीयान् है, तो तद्रूप मनु भी तद्रूप ही है। अणोरणीयान्–सर्वशास्ता–आत्ममनोलक्षण–मनु के इसी श्रौत रहस्य को स्पष्ट करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

---

* पारिभाषिक '**ऋत–सत्य–ऋतसत्य**' इन तीन प्राकृतिक तत्त्वों के निम्नलिखित तीन लक्षण हुए हैं :—

(१)–"**अहृदयं–अशरीरं–ऋतम्**" (यथा प्राण:–वायु:)।
(२)–"**सहृदयं–सशरीरं–सत्यम्**" (सर्वे पिण्डभावा: सकेन्द्रा:)।
(३)–"**अहृदयं–सशरीरं–ऋतसत्यम्**" (मेघा:–धूमभावा:–कर्पूरादय:)।

÷ **सत्यस्य सत्यं (वा अयमात्मा)**

सत्यव्रतं–सत्यपरं–त्रिसत्यं–सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रे सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना: ॥

—श्रीमद्भागवत

प्रशासितारं सर्वेषां–अणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥
—मनुः १२।१।२२।

(१२१)–'मनुः' शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति—

ज्ञानमयकोश ही 'मन' है । यद्यपि संकल्पविकल्पात्मक इन्द्रियमन, इन्द्रियप्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियमन, एवं सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्त्ति महन्मन, ये तीनों मनस्तन्त्र भी चिदंशसम्बन्ध से प्रज्ञात्मक बनते हुए ज्ञानमय ही मानें जायँगे । अतएव इन्हें 'मन' (ज्ञानशक्तिमय तत्त्व) कहना अन्वर्थ बनेगा । तथापि मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोश तो एकमात्र श्वोवसीयस् नामक वह आत्ममन ही माना जायगा, जिस कोश की ज्ञानमात्रा को लेकर इतर मनस्तन्त्र ज्ञानमय बने रहते हैं—**'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाण्युपजीवन्ति'** प्रसिद्ध ही है । मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोशलक्षण श्वोवसीयस् मन को हम **'ज्ञानोक्थ'** (बिम्ब–ज्ञानकन्दल–ज्ञानदीप) कहेंगे । इस उक्थात्मक आत्ममन से विनिःसृत होकर चतुर्दिक्–किंवा सर्वदिक् व्याप्त रहने वाले मननात्मक सुस्थिर ज्ञानमय अर्क (रश्मि) मण्डल को हम 'मनु' कहेंगे । यही मन, और मनु में सुसूक्ष्म स्वरूपभेद माना जायगा । बिम्बात्मक वही तत्त्व (ज्ञानकन्दल) 'मन' है, रश्म्यात्मक वही तत्त्व (ज्ञानमण्डल) 'मनु' है । हृदयावच्छिन्न वही मन 'मन' है, परिध्यवच्छिन्न वही मन 'मनु' है । आत्मरूप वही मन 'मन' है, आत्ममहिमारूप वही मन 'मनु है । उदाहरण के लिए सूर्य्यबिम्ब यदि मनःस्थानीय है, तो सौरज्योतिर्म्मण्डल 'मनुः' स्थानीय है । चन्द्रपिण्ड मन है, तो चन्द्रिकामण्डल मनु है । दीपार्चि (दीप की लौ) यदि मन है, तो दीपप्रभामण्डल मनु है । विज्ञानभाषानुसार 'पदम्' यदि मन है, तो 'पुनःपदम्' मनु है । ऋक् यदि मन है, तो साम मनु है । याज्ञिक शस्त्रकर्म्म (ऋगनुगत शंसनकर्म्म) यदि मन है, तो याज्ञिक स्तोत्रकर्म्म मनु है । होता यदि मन है, तो उद्गाता मनु है । और यही मन तथा मनु में स्वरूपविभेद है । ज्ञानमण्डलसम्बन्ध से, किंवा प्रभामण्डलसम्बन्ध से ही मनु को **'रुक्माभ'** कहा गया है । उक्थ मन ही क्योंकि अर्करूप से मनु है । अतएव धातु–प्रकृति प्रत्ययवादी वैय्याकरणों नें ज्ञानार्थक 'मन' धातु ('मन' ज्ञाने दिवादि) से उणादि प्रत्ययद्वारा ही मनुः शब्द की शाब्दिक-स्वरूपनिष्पत्ति मानी है ।

(१२२)–आयु के अधिष्ठाता मनु—

हृदयस्थ उक्थ मन की कामनामयी रश्मियों का मननशील वह बहिर्म्मण्डल ही (अध्यात्मसर्ग की अपेक्षा से *) मनु है, जिस बहिर्म्मण्डल के आधार पर ही सौर–चान्द्र–पार्थिवकेन्द्रत्रयी से अनुप्राणित सम्वत्सरचक्रत्रयी से सम्बन्धित सृष्टिकाल की व्यवस्था व्यवस्थित हुई है । मनुर्म्मण्डल का भोगकाल ही सृष्टिसर्ग का आयुःप्रमाण है । इस सृष्टिकालानुबन्धी मनु की अहोरात्र–विज्ञानानुसार अवान्तर त्रिंशत् (३०) अवस्थाएँ

* अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–तीनों स्थानों में विभिन्न दृष्टिकोणों से इस मनु का समन्वय हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन **'भारतीय आर्य्यसर्वस्व का स्वरूपपरिचय'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही देखना चाहिए ।

हो जातीं हैं। इन मध्यान्तरों के सम्बन्ध से ही आर्य्यसर्वस्व (पुराणशास्त्र) की पारिभाषिकी सर्गविज्ञानभाषा में यह मनु **'मन्वन्तर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। लोकव्यवहार में जिसे मुहूर्त्त कहा जाता है, वही पुराणभाषा में 'मन्वन्तर' नाम से व्यवहृत हुआ है। **'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्'** के अनुसार घटिकाद्वयी (२ घड़ी) का एक मुहूर्त्त होता है। चतुर्विंशति-होरात्मक एक अहोरात्र में षष्टिमित (६०) घटिका होती हैं। फलतः मुहूर्त्त उक्त अनुपात से ३० हो जाते हैं। चतुर्द्दश मुहूर्त्तों का भोग रात्रि में, चतुर्द्दश का भोग रात्रि में। १ का भोग प्रातः-सन्ध्या में, १ का भोग सायंसन्ध्या में, सम्भूय ३० मुहूर्त्तों का भोग एक अहोरात्र में हो जाता है। ठीक यही गणनव्यवस्था महासर्गकालनिबन्धन-उस अहोरात्र से समन्वित है, जिसे 'ब्राह्माहोरात्र' माना गया है। मुहूर्त्त-स्थानीय १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्मरात्रि में, १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्म अहः में, १ का उपभोग ब्राह्मप्रातःसन्ध्या में, १ का उपभोग ब्राह्मसायंसन्ध्या में, सम्भूय ३० मन्वन्तरों का उपभोग एक ब्राह्माहोरात्र में हो जाता है। तात्पर्य्य इस गणनसमतुलन का यही है कि, मनु ही मन्वन्तररूप से सृष्टिधाराओं के काल-नियमन के व्यवस्थापक बनते है। मन्वन्तररूप मनु ही सृष्टि के आयुर्भोगकाल हैं। तथैव प्राणियों की आयु के भी अधिष्ठाता मनु हीं माने गये हैं।

[१२३] ज्योतिर्गौरायुष्टोमत्रयीस्वरूपपरिचय—

यहाँ बात थोड़ी समझने जैसी है। स्वायम्भुव आकाशात्मा मनु ही पारमेष्ठ्यसमुद्रगर्भित हिरण्मय मण्डलगर्भीभूत सूर्य्यनारायण के केन्द्र की प्रतिष्ठा बनते हुए **'हिरण्यगर्भमनु'** नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इसी सौरमण्डलकेन्द्रवर्त्ती मनु को लक्ष्य बनाकर इसे 'रुक्माभ' (सुवर्णकान्तिसदृश) कहा गया है। **'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च'** इत्यादि श्रौतवचनानुसार हिरण्मय-रुक्माभ सौरप्रजापति (हिरण्यगर्भप्रजापति*) ही चर-अचर समस्त भुवनों का आत्मा सर्वाधार माना गया है। यह सर्वाधार सौरप्रजापति जिस छन्द पर अध्यारूढ़ है, वह 'बृहतीछन्द' ÷ नाम से प्रसिद्ध है, जो नवाक्षर माना गया है। नवाक्षर बृहती के चार पादों के सम्भूय ३६ अक्षर हो जाते हैं। **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** के अनुसार सौरसहस्ररश्मियों का बृहतीछन्द के ३६ अक्षरों के साथ (प्रत्येक अक्षर के साथ एक एक सहस्र गोरूपरश्मियों का) सम्बन्ध हो जाता है। फलतः बृहतीछन्द के ३६ सहस्र (३६००० छत्तीस हजार) सूत्र हो जाते हैं। प्रत्येक सूत्र अपनी मनोमयी ज्ञानशक्ति, प्राणमयी क्रियाशक्ति, वाङ्मयी अर्थशक्ति से समन्वित होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय आत्मा की प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'ज्योतिः-गौः-आयुः' सूर्य्य के तीन **'मनोता'** माने गए हैं। सौर केन्द्रीय मनोभाव इन तीन द्वारों में ओतप्रोत होकर ही त्रैलोक्यप्रतिष्ठा बनते हैं। अतएव

---

* हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—यजुः संहिता।

÷सूर्य्यो बृहतीमध्यूढ़स्तपति। नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता।
—छान्दोग्योपनिषत्।

(१२९) मनन, और मन—

अपि च ज्ञानकोशात्मक मन की मननशीला हृद्य रश्मियाँ (हृदयोक्थ से विनिर्गत ज्ञानरश्मियाँ) हीं क्योंकि 'मनु' है, अतएव अन्यत्र 'मनु' शब्द का **'मनन'** अर्थ भी स्वीकृत कर लिया गया है। तत्सम्बन्ध से ही मननशील मनीषी विद्वान् मानव को भी 'मनु' अभिधा से सम्बोधित करना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। **'मनवस्तीर्णबर्हिषम्'** (यजुः सं० १५।६६) इत्यादि मन्त्रभाग के **'मनवः'** का अर्थ है **'मननशील विद्वान्'** जैसा कि तन्मन्त्रानुगत महीधर भाष्य के **"मनवः-मननप्रधाना विद्वांसः-यमग्निं तीर्णबर्हिषमाहुर्वदन्ति"** इत्यादि वचन से भी स्पष्ट है। **"ये विद्वांसस्ते मनवः"** (शथपथ ब्रा० ८।६।३।१८।) इत्यादि रूप श्रौतवचन स्पष्ट ही 'मनु' का मननार्थ भी प्रमाणित कर रहा है। उक्थात्मक हृदयस्थ मन, अर्कात्मक महिममण्डलस्थ मनु, दोनों की इस अभिन्नता को लक्ष्य बना कर ही एक स्थान पर श्रुति ने कहा है कि ÷ **"जो मनीषी विद्वान इस प्रकार मनुष्यों के मनुष्यत्त्व से परिचय प्राप्त कर लेता है, वह मन की प्रतिष्ठा में हीं प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे मननशील मनस्वी मनीषी मानव का मनुतत्त्व कभी परित्याग नहीं करता। सदा इस पर मनुरूप से मन का विभूत्यात्मक अनुग्रह होता रहता है"**। मननशक्ति के सम्बन्ध से ही आर्षछन्द मननात् 'मन्त्र' कहलाए हैं। इसीं आधार पर आगमशास्त्र ने मननात्मक मन्त्र को 'मनु' नाम से व्यवहृत किया है ×।

(१३०) मनु और सर्वश्रेष्ठ मानव—

'परात्परब्रह्म' नामक शाश्वतब्रह्म से अभिन्न, मायाबलसीमित, मनोमय, अतएव निष्कामभावात्मक काममय, हृद्य परात्परपुरुष ही अपने निर्भ्रान्त मननधर्म्म से **'स्वयम्भूमनु'** है। पाञ्चभौतिक महाविश्व का प्रादुर्भाव मनुमूर्त्ति इसी स्वयम्भूमनु से हुआ है। अतएव इस व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर सम्पूर्ण विश्व को, विश्वगर्भित चर-अचर-प्राणिमात्र को इस स्वयम्भूमनु की 'अपत्य' रूपा सन्तान होने से **'मनोरपत्यं मानवः'** निर्वचन के आधार पर **'मानव'** कहा जा सकता है, एवं इसी कथन को 'मानव' शब्द का तात्त्विक सामान्य इतिहास माना जा सकता है। इस सामान्य इतिहास की उपेक्षा कर अमुक विशेष प्रजा के लिए ही 'मानव' शब्द क्यों कैसे समन्वित हो गया ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान करने के लिए सामवेदीय गोपथब्राह्मण की अवतारणा हुई है, जिसके रहस्यार्थ के आधार पर ही सामोपनिषत् (छान्दोग्योपनिषत्) की सुप्रसिद्ध-**'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** इत्यादिलक्षणा पञ्चाग्निविद्या प्रतिष्ठित हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, चर-अचर-पदार्थमात्र आदिमनु स्वयम्भू (आत्ममन) की कामना से अनुप्राणित रहते हुए 'मनोरमत्यम्' भाव से समन्वित होते हुए 'मानव' अभिधा से व्यवहृत होने चाहिए थे। किन्तु आत्ममनोलक्षण मनु की आत्मरूपेण पूर्णाभिव्यक्ति क्योंकि अन्नाहुति के पञ्चमस्थान-

---

÷ **"य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्त्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति"।**
—तै० ब्रा० २।३।८।३।

—मननशक्तिर्मनुरिति तत्र भाष्ये सर्वश्रीसायणाचार्य्यः—

× **"जप्त्वैतन्नाम ये वा तव 'मनु' विभवं भावयत्येतदम्ब !"** (कर्पूरस्तोत्र)।

स्थानीय 'पुरुष' नामक प्राणी में ही होती है। अतएव सम्पूर्ण चर-अचर प्रजावर्ग में केवल यह 'पुरुष' ही 'मानव' अभिधा का लक्ष्य बनता है।

मनुरूप आत्मा की अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति रूप से स्वयम्भूमनु का विश्वसर्ग **'पुरुषसर्ग--प्रकृतिसर्ग'** इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। इन्हीं को क्रमशः **'आत्मसर्ग--अनात्मसर्ग'** भी कहा जा सकता है। पुरुषप्राणी आत्मसर्ग है, यहीं आत्मा स्वमनुरूप से अभिव्यक्त है। अतएव यही मननशीला मानवाभिधा से समन्वित है। पुरुषातिरिक्त सम्पूर्ण चर-अचरसर्ग (जिसमें देवता-असुर-गन्धर्व-पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि आदि यच्चयावत् सर्ग संग्रहीत हैं) प्राकृतसर्ग **है**, किंवा आत्मानभिव्यक्तिरूप अनात्मसर्ग है। अतएव इन्हें मनु के अपत्य होते हुए भी 'मानव' नहीं कहा जाता। मनुसम्बन्धित प्राकृत मन्वन्तरानुप्राणित कालचक्र से सञ्चालित मानवेतर चर-अचर प्रजा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दिग्-देश-कालानुप्राणित सम्पूर्ण चर-अचर प्रजा प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित रहती हुई परतन्त्र है। उधर 'मानव' अभिधा से समन्वित पुरुष अपने सहज आत्ममनुःस्वरूप से अभिव्यक्त रहता हुआ दिग्देशकालसीमा से से अतिक्रान्त बनता हुआ परिपूर्ण है, शाश्वत है, अमृतपुत्र है, **'ऋतस्य प्रथमजा'** है। यही मानव की वह सर्वश्रेष्ठता है, जिसका हमने पुराणपुरुष के-**'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** इत्यादि शब्दों में यत्रतत्र सर्वत्र उद्घोष किया है।

तथाकथित स्वयम्भू मनु से होने वाले पञ्चाग्निविद्यामूलक 'अपसृष्टि' प्रसङ्ग को अनुपद के लिए छोड़ते हुए हम मनु के विशेषभावों से, विशेष इतिहासों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिज्ञात **'अग्नि--प्रजापति इन्द्र--प्राण--शाश्वतब्रह्म'** इत्यादि विशेष नामों के तात्त्विकस्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(१३१)–अग्निमूर्त्तिमनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)—

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिस मायातीत परात्परब्रह्म का मायामय मनोमय परात्पर-पुरुषब्रह्म प्रथमावतार है, वह मायातीत परात्पर सर्वबलविशिष्टरसैकघन बनता हुआ रसबलोभयमूर्त्ति है, रसबलात्मक है। फलतः तत्प्रथमावतारस्थानीय मनोमय महामायी परात्परपुरुष की भी रसबलवत्ता सिद्ध हो जाती है। रस **'स्थिति'** तत्त्व है, बल **'गति'** तत्त्व है, जिन इन रसबलनिबन्धन स्थिति--गतिभावों का आगे के परिच्छेदों तथा प्रकरणों में विभिन्नरूप से, अनेकधा विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाने वाला है। स्थितिभावापन्न असङ्ग रस 'अनेजत्' (अकम्पनरूप), गतिभावापन्न ससङ्ग बल 'एजत्' (कम्पनरूप) है। अनेजल्लक्षण रसात्मक स्थितिभाव ही **'महाभूतादि वृत्तौजाः'** के अनुसार **'आकाश'** है, यही संकेतपरिभाषानुसार **'जू'***है। एजल्लक्षण बलात्मक गतिभाव ही **'वायु'** (प्राणवायु--सुसूक्ष्म अधामच्छद वायुतत्त्व) है, यही संकेत परिभाषानुसार **'यत्'** कहलाया है। मायासीमित पुर से सम्बन्ध रखने वाले हृदयभाव (केन्द्रभाव) के कारण रसबलात्मक पुरुष के रस तथा बल, दोनों असङ्ग-ससङ्गतत्त्व इस प्रकार (सृष्ट्युन्मुख दशा में) 'जू' रूप आकाश,

* **'जूराकाशे--सरस्वत्यां--पिशाच्यां--यवने--स्त्रियाम्'** इत्यादि कोशवचनानुसार 'जू' शब्द सरस्वती, पिशाची, यवन, स्त्री, इत्यादि भावों का संग्राहक माना गया है।

'मनांस्योतानि यत्र' निर्वचन से इन्हें 'मनोता' कहना अन्वर्थ बनता है। इन तीन सौर मनोताओं के आधार पर ही सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोम–गोष्टोम–आयुष्टोम' नामक सौरयज्ञत्रयी प्रतिष्ठित है।

(१२४) प्राकृतिककोश के ३६००० सूत्र—

प्रत्येक सृष्टि में 'आत्मा–प्राण–पशु' ये तीन भाग समाविष्ट रहते हैं। इनमें पशुभाग 'भूत' है, इसका 'गौ' मनोता के साथ सम्बन्ध है। प्राणभाग 'देवता' है, इसका 'ज्योति' मनोता के साथ सम्बन्ध है। आत्मभाग 'प्रजापति' है, इसका 'आयु' मनोताके साथ सम्बन्ध है। सौर मनःप्राणवाङ्मय आयुर्म्मनोतामय सौर आत्मा ही त्रैलोक्य प्रजा की आयु का आधार बनता है। बृहतीसम्बन्ध से ये मनःप्राणवाङ्मय आयुःसूत्र ३६००० संख्याओं में विभक्त हैं। प्रति अहोरात्र में मनःप्राणावाङ्मय एक एक आयुःसूत्र का हृदयकेन्द्र से सौर केन्द्र पर्य्यन्तपर्य्यन्त ब्रह्मरन्ध्रनामक 'नान्दनद्वार' नामक पथ से वितत महापथ के द्वारा सुषुम्णापथ से उपभोग होता रहता है। प्राकृतिककोश में ऐसे बृहतीसहस्र (३६००० सूत्र हैं। यही मानव का आयुःप्रमाण है, जिन षट्त्रिंशतबृहतीसहस्रात्मक आयुःसूत्रों के ३६००० अहोरात्र हो जाते हैं। यही 'शतायुर्वै पुरुषः' का मौलिक रहस्य है, जिसका शतपथभाष्य में विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। (देखिए शतपथविज्ञानभाष्य अग्निरहस्यात्मक १० काण्ड, ४ प्रपाठक, १ ब्राह्मण)।

(१२५) आयुर्लक्षण मनु—

वाक् का मूलरूप प्राण है, प्राण का मूलरूप मन है, मन ही मनु है। यही मनुरूप मनु पूर्व–कथनानुसार सौरहिरण्यगर्भप्रजापतिरूप में परिणत होता हुआ क्योंकि बृहती–सहस्र द्वारा आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–चक्रों की आयु का निर्म्मापक बना हुआ है। इसी आधार पर भगवान् कौषीतकि ने 'आयुर्वै मनुः' (कौ॰ ब्राह्मणोपनिषत् २६।१७) इत्यादि रूप से आयुतत्त्व को भी 'मनु' अभिधा से समलंकृत मान लिया है।

(१२६) मन और मनु की अभिन्नता—

उक्थ, तथा अर्क (पिण्ड तथा महिमा, अर्चि तथा प्रकाश), इस सामान्य भेद के अतिरिक्त मन और मनु, दोनों तत्त्वतः अभिन्न तत्त्व हैं। इस अभिन्नता के सम्बन्ध में निम्न लिखित मन्त्रों की ओर ही मनुप्रेमी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

(१)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनसा धियः'।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्॥
—यजुःसंहिता १६।३६।

(२)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनवो धिया'।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥
—अथर्वसंहिता ६।१।६।१।

(१२७)—मनसा धियः, और मनु

"(१)–सम्पूर्ण प्राणदेवता हमें पवित्र करें, **"मन से संयुक्त बुद्धियाँ हमें पवित्र करें,"** सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, (सम्पूर्ण भूतों के परिज्ञाता–अतएव) 'जातवेद' नाम से प्रसिद्ध अग्निदेव हमें पवित्र करें," । "(२)–प्राणदेवता हमें पवित्र करें, **"बुद्धि से संयुक्त मनुगण हमें पवित्र करें"**, सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, पवमान देवता हमें पवित्र करें, " इत्यक्षरार्थक पूर्वोक्त यजुः तथा अथर्वमन्त्रों में ओर सत्र भाव तो प्रायः समतुलित हैं, केवल दो भावों में थोड़ा अन्तर है । यजुःश्रुति **'मनसा धियः'** रूप से मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध मान रही है, एवं अथर्वश्रुति 'मनवो धिया' रूप से बुद्धि के साथ 'मनु' का सम्बन्ध बतला रही है । समानभावप्रतिपादिका इस मन्त्रद्वयी में पठित **'मनसा'** और **'मनवः'** दोनों तत्त्वतः अपनी अभिन्नार्थकता ही प्रमाणित कर रहे हैं । केन्द्रस्थ ज्ञानभाव ही मन है । यह केन्द्रानुगत बना रहता हुआ एक है, उक्थरूप है । अनेक अर्कों का आधारभूत उक्थ एक ही तो हुआ करता है । केन्द्रस्थ मन के ऊपर भावना–वासनासंस्कारपुञ्ज प्रतिष्ठित रहता है । बुद्धि की विभिन्न रश्मियों से, दूसरे शब्दों में उक्थरूप बुद्धि की अर्करूप रश्मियों से (जिन रश्मिभावों का पारिभाषिक नाम **'धीः'** है, जिससे अनुप्राणित बुद्धिधर्म्म–**'धिषणा'** कलहाया है) समन्वित होकर ही प्रज्ञानमनोक्थ विभिन्न भावना–वासना-संस्कारों के भोग में समर्थ बनता है । बुद्धिरश्मिरूप **'धियः'** ही उक्थमन को संस्कारभोग में सफल बनाती है । इसी अभिप्राय से **'मनसा धियः'** कहा गया है ।

(१२८)—मनवो धिया, और मनु

महिमामण्डलस्थ अर्करूप (रश्मिरूप) मानसज्ञानभाव (ज्ञानवृत्तियाँ–प्रज्ञानवृत्तियाँ) ही पूर्व में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुई हैं । वही उक्थ मन अर्कभाव में परिणत होकर 'मनवः' बन जाता है, जिसका आधार केन्द्रस्थ उक्थ मनःसमन्वित केन्द्रस्था उक्थरूपा बुद्धि बनी रहती है । इस मण्डलस्थिति में बुद्धि उक्थरूप से एकत्वभावापन्ना है, मन मनुरूप अर्कभाव से बहुत्वभावापन्न है । इस स्थिति का **'मनवो धिया'** रूप से विश्लेषण हुआ है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यजुःश्रुति उक्थरूप मनु, अर्करूप बुद्धि, दोनों के क्रमिक एकत्त्व–अनेकत्त्व को लक्ष्य बनाती हुई जिस तत्त्वसमष्टि के लिए **'मनसा धियः'** कर रही है । अर्करूप मन (मनु), उक्थरूप बुद्धि, दोनों के क्रमिक अनेकत्त्व–एकत्त्व को लक्ष्य बनाती हुई अथर्वश्रुति उसी तत्त्वसमष्टि का **'मनवो धिया'** इस रूप से विश्लेषण कर रही है । अथवा केवल मनस्तन्त्र के सम्बन्ध से ही दोनों श्रुतियों के विभिन्नार्थक दोनों वचनों का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि—

उक्थावस्थापन्न हृदयस्थ मन अपने बुद्ध्यनुगत सहज व्यवसायधर्म्म से एकरूप माना गया है, इसे ही दर्शनपरिभाषा में **'निश्चयात्मकं मनः'** कहा गया है । ऐसे व्यवसायधर्म्मानुगत–निश्चयात्मक–स्थिर–उक्थलक्षण–हृद्य–एकाकी 'मन' के अभिप्राय से यजुःश्रुति ने **'मनसा'** कहा है । एकवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस मनोरूप हृद्य ज्ञानककलात्मक उक्थ से विनिर्गत अर्करूपा ज्ञानरश्मियाँ क्योंकि बाह्यविषयभेद से बहुशाख होतीं हैं, अनेक होती है । अतएव महिमामण्डलस्थ अर्करूप 'मनु' लक्षण मन के लिए अथर्वसंहिता में **'मनवः'** रूप बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

तथा 'यत्' रूप वायु भाव में परिणत हो जाते हैं। अतएव इस मनोमय हृद्य पुरुष को सृष्ट्युन्मुख दशा में हम अवश्य ही **'यत्-जू-आत्मक'** कह सकते हैं, जिसका तात्पर्य्य है **'आकाशवाय्वात्मक'**, एवं जिसका फलितार्थ है—**'स्थितिगतिभावात्मक, अतएव उभयात्मक मन'**। स्थितिभावरूप आकाश 'जूः' है, गतिभावरूप वायु 'यत्' है। 'यत्-जूः' इन दोनों गति-स्थितिभावों की समष्टि ही **'यज्जूः'** है। यही यज्जूः' तत्त्व परोक्षभाषा में **'यजुः'** कहलाया है। यही तत्त्वात्मक नित्य अपौरुषेय **'यजुर्वेद'** है, जो ऋक्सामरूप वयोनाधलक्षण छन्दोवेद से नित्य छन्दित रहता है÷। मनःप्राणवाङ्मय हृद्य परात्परपुरुषात्मा इस प्रकार ऋक्साममनुःरूप से वेदमूर्त्ति बन कर ही सृष्टिसर्ग का उपक्रम बना करता है। इन तीनों तत्त्वात्मक अपौरुषेय नित्य वेदों में से स्थितिगतिभावात्मक आकाशवायुरूप यज्जूर्लक्षण यजुर्वेद हृद्य पुरुषात्मा के काममय मनस्तन्त्र से समतुलित है। विष्कम्भात्मक वयोनाधरूप ऋग्वेद आवरणात्मक वाक्तन्त्र से समतुलित है, परिणाहात्मक वयोनाधरूप सामवेद विक्षेपात्मक प्राणतन्त्र से समतुलित है। विष्कम्भ (व्यास-डायमिटर Diameter) लक्षण मूर्त्ति को छन्दोरूप ऋग्वेद माना गया है, परिणाहात्मक मण्डल को छन्दोरूप सामवेद माना गया है, एवं विष्कम्भ-परिणाहरूप दोनों ऋक्सामछन्दों से छन्दित आकाशात्मक स्थितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित वाय्वात्मक गतितत्त्व को युजुर्वेद माना गया है*। तदित्थं मनः-प्राण-वाग्-रूप ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिघन कामविक्षेप-आवरणभावत्रयीप्रवर्त्तक परात्परपुरुषात्मा क्रमशः यजुः-साम-ऋक्-वेदों से समतुलित हो रहा है। इसी आधार पर यजु को मन, ऋक् को वाक्, साम को प्राण कहा गया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय प्रमाणों से प्रमाणित है—

(१)-अथ यन्मनः—यजुष्टत् (तै० उप० १।२५।६।)।

(२)-मनो यजुर्वेदः (शत० ब्रा० १४।४।३।१२।)।

(३)-वागेवर्चश्च (प्राणश्च) सामानि च। मन एव यजूंषि (शत० ४।६।७।५।)।

यजुःसामऋङ्मूर्त्तिर्म्मनःप्राणवाङ्मयप्रजापतिपरिलेखः—

१-ज्ञानशक्तिघनं——मनः——काममयम्——स्थितिगतिभावात्मकेन यजुषा समतुलितम्।

२-क्रियाशक्तिघनः—प्राणः——विक्षेपमयः——परिणाहात्मकेन सामेन समतुलितः।

३-अर्थशक्तिघना—वाक्——आवरणमयी—विष्कम्भात्मिकया ऋचा समतुलिता।

****

÷ "तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत० १०।१।१।६।)

* ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
——तै० ब्रा० ३।१२।९।

(१३२) सर्वमिदं वयुनम्—

तात्पर्य्य यही है कि, आत्ममन से समतुलित हृद्य–स्थितिगतिभावतत्त्व 'यजुः' है, यजुर्म्मूर्त्ति मनोमय इस स्वयम्भू पुरुषात्मा के आत्मप्राण से समतुलित विष्कम्भभाव 'ऋक्' है, एवं आत्मवाक् से समतुलित मण्डलभाव, किंवा मण्डलात्मिका परिधि 'साम' है । स्वयं यजु 'वय' (वस्तुतत्त्व–सत्तासिद्ध तत्त्व) है, छन्दोमय ऋक्साम 'वयोनाध' (वस्तुतत्त्व को सीमित रखने वाला मायाबलसे समतुलित भातिसिद्ध तत्त्व) है। वय, तथा वयोनाध की समष्टिरूपा वेदत्रयी के लिए ही पारिभाषिक **'वयुन'** शब्द विहित हुआ है, जिसके लिए **'सर्वमिदं वयुनम्'** सिद्धान्त स्थापित है । इस प्रकार वय–वयोनाध भेद से परिणाह (मण्डल)-विष्कम्भ (मण्डलव्यास)–हृदय (केन्द्र) रूप से स्वायम्भुवी मनुसंस्था के मनःप्राणवाग्भावों के साथ यजुः–साम–ऋक् नामक तीनों तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेदों का समसमन्वय हो रहा है। तीनों में ऋक्साम से छन्दित स्थितिगतिरूप आकाशवाय्वात्मक यज्जूर्मूर्त्ति यजुः ही मनोलक्षण मनु से समतुलित रहता हुआ प्रस्तुत मनुप्रकरण का मुख्य लक्ष्य माना जायगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

*** अयं वाव यजुः–योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिदमनुप्रजायते । तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो 'जूः', यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याकाशमनुजवते (जवते तस्मात्–जूरेवाकाशः) । तदेतत्–यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च,–यच्च जूश्च । तस्मात् 'यजुः' । तदेतद्यजुः–ऋक्–सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः ।**

——शतपथ ब्रा० १०।३।५। १, २, ।

यजुर्म्मूर्त्ति पुरुषमन का 'जू' रूप स्थितिगतिभावात्मक आकाश ही स्वायम्भुवी वह **'सत्यावाक्'** है, जिसे आर्षवैज्ञानिकों नें **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'** इत्यादि रूप से 'अनादिनिधना' नाम से व्यवहृत किया है । यही तत्त्वात्मिका वह नित्या वेदवाक् है, जिसके स्वरूपविश्लेषण–स्वरूपव्याख्यान के लिए ही शब्दत्मक अपौरुषेय वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ÷ । **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो-मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** (शत० १०।१।३।२) इत्यादि वचनानुसार इस स्वायम्भवी प्राजापत्या वेदवाक्

---

*–इस ब्राह्मण श्रुति का रहस्यार्थ पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। देखिए पृ० सं० २५४ ।

÷ वेदशास्त्र में 'वेद' तत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा अपना एक विशेष महत्त्व रखती है । वैज्ञानिक तत्त्ववाद की परम्परा के विलुप्तप्राय हो जाने से वेद का तात्त्विक स्वरूप आज सर्वात्मना विस्मृत हो गया है । **"वेदशास्त्र वेदतत्त्व के निरूपक ग्रन्थ हैं"** यह सिद्धान्त नितान्त रहस्यपूर्ण है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'** नामक खण्डत्रयात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपनिबद्ध हुआ है । इन तीनों खण्डों में से ५०० पाँचसौ पृष्ठात्मक वेदबाह्यस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड प्रकाशित हो गया है । शेष दोनों खण्ड प्रकाशन–सापेक्ष है । वेद के रहस्यपूर्ण तात्त्विक स्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को तत्खण्डत्रयी का ही अवलोकन करना चाहिए ।

के **'अमृतावाक्-मर्त्यावाक्'** (**रसप्रधाना वाक्--बलप्रधाना वाक्**) भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो दोनों विवर्त्त क्रमशः **'सरस्वतीवाक्--आम्भृणीवाक्--'** नामों से प्रसिद्ध है । ये ही दोनों वाग्विवर्त्त क्रमशः **शब्दसृष्टि--अर्थसृष्टि** के उपक्रम बनते हैं । अमृता सरस्वतीवाक् ÷ शब्दब्रह्म की अधिष्ठात्री बनती है, मर्त्या आम्भृणी–वाक् अर्थब्रह्म की मूलप्रतिष्ठा बनती है । दोनों वाग्धारा समतुलित हैं, सहैव आविर्भूत हैं। इसी आधार पर शब्दार्थ का औत्पत्तिक नित्य सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि– **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्र से स्पष्ट है । इसी अभिन्नता के आधार पर सर्वमयी × इस वाग्देवी के शब्दार्थविवर्त्तों की अभिन्नता घोषित हुई है * ।

(१३३)–वाग्देवी के दो विवर्त्त—

रसप्रधाना, अतएव **'सरसवती'** रूपेण 'सरस्वती' नाम से प्रसिद्धा असृतावाक् ही **'अमृताकाश'** है, यही अनादिनिधना अमृता नित्या स्वायम्भुवी वाक् है, जो सृष्टि का अधिष्ठान (आधार) बना करती है । बलप्रधाना आम्भृणी वाक् ही मर्त्यावाक् है, जिसे **'मर्त्याकाश'** माना जायगा । यही मर्त्याकाश भूतभौतिक सृष्टि का आरम्भण (उपादान) बनता है, जिसका–**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायु,'** (तै० उप० २१) इत्यादि श्रुति में उल्लेख हुआ है । श्रुति का **'आत्मनः'** पद जहाँ अमृताकाशलक्षण सरस्वतीवाक् का संग्राहक है, वहाँ **'आकाशः सम्भूतः'** वाला **'आकाश'** शब्द मर्त्याकाश-लक्षण आम्भृणीवाक् का संग्राहक बना हुआ है । दूसरे शब्दों में जिसे श्रुति ने 'आत्मा' कहा है, वह अमृताकाशलक्षणा अमृतावाक् है, जिसका वास्तविक स्वरूपव्याख्यान है–**'मनःप्राणगर्भिता वाक्'** । एवं आत्मा से जिस आकाश की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह मर्त्याकाशलक्षणा मर्त्यावाक् है ।

(१३४)–वाग्देवी, और वेदाग्नि—

'भूताग्नि–च्त्याग्नि–वैश्वानराग्नि–यज्ञाग्नि–वेदाग्नि–चितेनिधेयाग्नि' इत्यादिरूप से अग्नितत्त्व के अनेक संस्थाविभाग मानें गए हैं । इन सम्पूर्ण सर्वविध अग्निविवर्त्तों का मूलाधार **'वेदाग्नि'** ही माना गया है । अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (यजुर्वाक्) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (अथर्ववाक्) वह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर मनोमय यजुम्मूर्त्ति स्वयम्भू मनु भूतसर्गप्रवृत्ति

÷ **सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।**
शोणाधरमहः किञ्चित्–वीणाधरमुपास्महे ॥

× **वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।**
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।
—अथो वागेवेदं सर्वम् ।

* **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म पर च यत् ।**
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

में समर्थ बना करते हैं। मनुर्म्मयी यजुर्वाक् ही सत्यलक्षण मूलाग्नि का मौलिक इतिहास है। किंवा सृष्टिप्रक्रिया में संघर्षप्रक्रिया के द्वारा आत्मसमर्पण करने वाला भाव ही 'अग्नि' शब्द का तात्त्विक इतिहास है। अथवा तो सृष्टिसर्ग में सर्वप्रथम अग्रग्रामी बनने वाला अग्रभाव ही वह **'अग्रि'** तत्त्व है, जिस अग्निभाव को परोक्षप्रियदेवता (विद्वान्) अपनी परोक्षभाषा में **'अग्नि'** नाम से व्यवहृत करते हैं ÷। यही अग्रमूर्त्ति वेदाग्नि **'वागग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसके स्वरूपबोध के लिए आध्यात्मिक वागिन्द्रियों को उदाहरण माना जा सकता है। **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** (ऐत० उप०२।४) के अनुसार अग्नि ही वागिन्द्रियरूप में परिणत होता है। शारीरिक वैश्वानराग्नि ही (जिसे कि–**'कायाग्नि'** भी कहा जाता है) मनःप्रेरणा से वायु के द्वारा आघातभावापन्ना बन कर क–च–ट–त–पादिलक्षणा वागिन्द्रियानुप्राणिता वैखरीवाकरूप में परिणत होती है, जैसा कि शिक्षा-सिद्धान्तों × में विस्तार से प्रतिपादित है। अध्यात्म में जैसे अग्नि वाक् का मूल है, अधिदैवत में 'वाक्' अग्नितत्त्व की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। वीचीतरङ्गन्यायेन वाक्समुद्र ही **'संयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः'** (वै० सूत्र) इत्यादि काणादसिद्धान्तानुसार **'वायुः खात-शब्दस्तत्'** (प्रातिशाख्यसूत्र) के माध्यम से मर्त्या वैखरीवाकरूपा शब्दसृष्टि का आरम्भण बना करता है। सर्वशब्दार्थमूला वह समुद्रिया नित्या वाक् ही मनोमयी मनुर्म्मयी यजुर्वाक है, जिसका प्रथम सर्ग 'सुब्रह्म' नामक आपोमय अथर्वब्रह्म माना गया है, जिसका कि–**'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'** (शत० ६।१।१।६।) इत्यादि श्रुति से उपवर्णन हुआ है।

(१३५)–अग्निजिह्व मनु—(१)

निष्कर्षतः मनोमयी अमृतभावापन्ना नित्यावाक् ही यजुर्म्मयी स्वायम्भुवी वाक् है। यही वागग्नि है, जिसे महिममण्डलभुक्त अर्करूप मनु के सम्बन्ध से **'मनुवाक्'** कहा जा सकता है। यजुर्वागग्नि की अपेक्षा से ही यजुर्म्मूर्त्ति मनोमय मनु को **'अग्नि'** इस विशेष अभिधा से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार मुखविवर-स्थिता जिह्वा अन्न के आदान के लिए सर्वप्रथम क्रियाशीला (अग्रगामिनी) बनती है, तथैव स्वयम्भूमनु का यह वागग्निभाग ही सृष्टिकर्म्म के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है। इस सर्वाग्रप्रवृत्ति के कारण ही संघर्षप्रक्रियानुगत इस अग्रशील मनुरग्नि को 'अग्रि' कहा जाता है। इस अग्रितत्त्ववेत्ता मानव को ही 'अग्रजन्मा' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है प्रत्यक्षभाषा में **'अग्निजन्मा'** (अग्निमुख)। जिह्वासमतुलित इस अग्रप्रवृत्ति

÷ **स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्।**
—शतपथ ब्रा० ६।१।१।११।

× **आत्मा–बुद्ध्या–समेत्यर्थान्–मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥२॥
—पाणिनीयशिक्षा ६,७,

के आधार पर ही मनु के लिए 'अग्निजिह्वा मनवः' (ऋक्सं० १।८९।७।) यह कहा गया है*। राजर्षि मनु के 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' इस अग्निप्रधान वचन का यही तात्त्विक संक्षिप्त इतिहास है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि, —यजुर्भावरूप मौलिक उस वेदाग्नि (वागग्नि) के सम्बन्ध से ही मनोमय आत्ममनु को 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है, जो वागग्नि अप्सर्ग के द्वारा सम्पूर्ण भूतसर्ग का मूलाधार बना करता है।

(१३६)-प्रजापतिमूर्त्ति मनु (मनुमन्ये प्रजापतिम्) (२)—

यजुर्म्मूर्त्ति, किंवा त्रयीमूर्त्ति आत्ममनोमय इसी हृद्य मनु की कामना से वागग्नि के द्वारा सर्वप्रथम जिस अप्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है÷, वही 'सृष्टिशुक्र' कहलाया है। इसी शुक्राहुति से प्रजासन्तानवितान हुआ करता है, जैसाकि—'यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (शत० ४।४।२।६।)–"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता ३।१०) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनों से प्रमाणित है। भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय × षड्ब्रह्म-रूप शुक्र की स्थितिगतिरूप द्विब्रह्मलक्षण वागग्नि में आहुति होना ही 'अग्नौ सोमाहुति'लक्षण यज्ञ है। यही सर्वप्रथम दशकल विराट्सुतोत्पत्ति का कारण बनता है। + इस प्रकार यज्ञ द्वारा विराट्माध्यम से (हिरण्य-

---

* पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभं यावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥
—ऋक्सं० १।८९।७।

÷ अप एव ससर्जादौ' (मनुस्मृति १।८।

×[१]–आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः।
—गोपथब्रा०

[२]–अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्–तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

[३]–स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—देखिए–ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड

+[१]–सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

[२]–द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनुः १।३२।)।

[३]–अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश। (मनु; १।३४)।

गर्भात्मक सूर्य्यमाध्यम से) प्रजासर्ग के उपक्रम बनते हुए स्वयम्भू मनु हीं प्रजासन्तानवितान के मूलकारण प्रमाणित होते हुए अपनी **'प्रजापति'** अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं । इसी आधार पर-**'प्रजापतिर्वै मनुः । स हीदं सर्वममनुत'** (शत० ६।६।१।१६) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं । अग्निरहस्यप्रतिपादक चयन-ब्राह्मण में इस मानवीय प्राजापत्यसृष्टिविज्ञान का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसे तज्जिज्ञासु पाठकों को तद्विज्ञानभाष्य में ही देखना चाहिए । **'मनुमन्ये प्रजापतिम्'** का तात्पर्य्य है **'याज्ञिकाः-यज्ञरहस्यविदो विद्वांसो वा मनुं प्रजापतिशब्देन निरूपयन्ति'** । यही इस मनु की 'प्रजापति' अभिधा का संक्षिप्त इतिवृत्त है ।

(१३७)-इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)-(३)—

कितने एक वैज्ञानिक मनु को **'इन्द्र'** नाम से व्यवहृत कर रहे हैं । संक्षेप से इस 'इन्द्र' अभिधा के भी तात्त्विक इतिहास को लक्ष्य बना लीजिए । अपने सहज हृद्यभाव के कारण मनोमय मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जिस अन्वर्थता के स्वरूपपरिचय के लिए 'इन्द्र' शब्द का इतिहास जान लेना आवश्यक होगा । आर्षसाहित्य (वेदसाहित्य) में इन्द्रतत्त्व अग्नि-वाय्वादि अन्यान्य तत्त्वों की अपेक्षा अपना स्थान विशेषरूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रख रहा है + । इन्द्रदेव की सर्वज्येष्ठता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रधान हेतु है इन्द्र का सहज **'बलभाव'** । **'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव सत्**, इत्यादि निर्ग्रन्थु (निघण्टु-निरुक्त) सिद्धान्तानुसार (यास्कनिरुक्त दैवतकाण्ड ७।१०।२) —

(१३८) ओजसां पतिरिन्द्र :—

बलात्मक यच्चायावत् व्यापारों-कर्म्मों-के (क्रियामात्र के) सञ्चालक-प्रवर्त्तक-तत्त्व 'इन्द्र' ही माने गए हैं । सम्पूर्ण विश्व रसात्मक बलमूर्त्ति-मनोमय परात्परपुरुष की कामना से ही आविर्भूत है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है । पुरुष का रसभाग स्थितिलक्षण है, अनेजत् है, अविकम्पित है । बलभाग गतिलक्षण है, एजत् है, विकम्पित है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है । असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित (निरपेक्ष स्थितितत्त्वाधारेण प्रतिष्ठित) ससङ्ग बलतत्त्वों की चिति (सञ्चिति-चयन-ग्रन्थिबन्धनसम्बन्धात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्ध) से ही विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है, यह भी उक्तप्राय है । अतएव यह कहा और माना जा सकता है कि, सम्पूर्ण विश्व में प्राधान्य गतिभावापन्न 'बलतत्त्व' का ही है । इस बलात्मिका गति का, किंवा गत्यात्मक बल का ही नाम 'इन्द्र' है, जिसका मायापुर में हृदयरूप से विकास माना गया है । वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गत्यात्मक इन्द्र ही इस मायापुर के स्वरूपनिर्म्माणात्मक व्यक्तीभाव (अभिव्यक्ति) का कारण बनता है । इसी आधार पर **''इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते'** (ऋक्सं० ६।४७।१८।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है । प्रत्येक वस्तु का बाह्याकार ही उस वस्तु की सीमा माना गया है । यह सीमाभाव हीं रेखात्मक पुर है, जिसके केन्द्रमें पुरुष प्रतिष्ठित रहता है-**'प्रजापतिश्चरति गर्भे'** (यजुःसं०३१।१६।) ।

+ **इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम्** (तै० ब्रा० २।३।१।३।)

'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः' पारयिष्णुतमः' (ऐत०ब्रा० ७।१६)

यह आकाररूपा सीमा ही मायापुर है, यही वस्तु का स्वरूपात्मक 'रूप' है, जिसका अधिष्ठाता हृद्य इन्द्र ही माना गया है, जैसा कि **'इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्'—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। रूपाधिष्ठाता गतिलक्षण इसी बलात्मक इन्द्र को लक्ष्य बना कर इन्द्रतत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकोंनें इन्द्र को **'बलपति'** (तै० ब्रा० २।५।७।४।)–**'वीर्य्यवान्'** (ताण्ड्यब्राह्मण ६।७।५।८)— **'ओजसांपतिः'** (तै० ब्रा० ३।११।४।२।) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है।

(१३९) इन्द्र के रुद्र, एवं शिव विवर्त्त—

पूर्वोपवर्णित बलात्मक (रसबलात्मक) पुरुष का गतिभावात्मक बलतत्त्व ही 'इन्द्र' है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है। गतिलक्षण इस हृद्य इन्द्रतत्त्व का ही आगे चलकर –'हृ–द–य–' रूप से त्रेधा विकास हुआ है। केन्द्र से परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गति **'पराग्गति'** है, इसे ही लोकव्यवहार में **'गति'** कहा गया है। परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गतिलक्षणा इस गति से हृदयस्थ 'वय' (वस्तुमात्रा) का विनिर्गमन होता रहता है। अतएव इस गतिलक्षणा गति को **'विसर्ग'** नाम से भी व्यवहृत किया गया है, जिसकी एक लोकाभिधा–**'प्रदान'** भी मानी गई है। वस्तुभाव का स्वरूप इस प्रदानात्मक विसर्ग से विस्रस्त होता रहता है, खण्डित होता रहता है, अतएव विसर्गात्मिका इस विस्रंसनरूपा गति को संकेतभाषा में **'द'** कार अक्षर व्यवहृत किया जाता है। खण्डनार्थक **'दो'** धातु (**'दो'अवखण्डने'**) के दकार का ही 'हृदय' शब्द के मध्यस्थ 'दकार' से सम्बन्ध है। यही पहिला इन्द्रतत्त्व है, जो अपने विशुद्ध खण्डनभाव से वस्तुस्वरूप-विस्रंसनद्वारा वस्तुस्वरूप का उच्छेदक बनता हुआ संहाराधिष्ठाता **'रुद्र'** नाम से उपवर्णित हुआ है, एवं जो रुद्रतत्त्व अग्नीषोमात्मक यज्ञ के सम्बन्ध से वस्तुस्वरूपसंरक्षक बनता हुआ **'शिव'** नाम से प्रसिद्ध है*।

(१४०) विश्वम्भर विष्णु—

अब विसर्गरूपा उक्त गतिको सर्वथा परवर्त्तित कर दीजिए। परिधि से केन्द्रकी ओर उन्मुख रहने वाली गति **'अर्वाग्गति'** कहलाई है, जिसे लोकव्यवहार में **'आगति'** कहा गया है। हृदयकी ओर उन्मुख रहने वाली आगतिलक्षणा इस अर्वाग्गतिरूपा गति से ही परिधि से बहिःस्थित पदार्थमात्राओं (विषयमात्रा–भूतमात्राओं) का क्योंकि आगमन होता रहता है, अतएव आगतिरूपा इस गति को **'आदान'** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस आदानलक्षण आहरणधर्म्म से (आगतिरूपा गति से) ही वस्तु की स्वरूपरक्षा सम्भव बनी रहती है। गतिरूपा गति से विस्रस्त मात्राओंको क्षतिपूर्त्ति इस आगतिरूपा गति से ही होती रहती है। स्ववस्तुस्वरूपसंरक्षण के लिए अन्य वस्तुमात्राओं का आहरण–अपहरण

---

* वैदिक मूलदेवतावाद जहाँ **'ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि सोम'** इन पाँच भागों में विभक्त है, वहाँ पौराणिक देवतावाद 'ब्रह्मा–विष्णु–शिव इन तीन भागों में विभक्त है। वेद ने इन्द्र–अग्नि–सोम–तीनों का पृथक्रूप से स्वरूपविश्लेषण किया है। पुराणमें तीनों की समष्टिरूप 'शिव' को लक्ष्य बनाते हुए त्रिदेवतावाद ही संग्राह्य मान लिया है। दोनों दृष्टियों में केवल निरूपणीया शैली में भेद है। तत्त्वतः दोनों ही पक्ष निर्विरोध सुसमन्वित हैं।

करना ही इस गतिका मुख्य काम है। अतएव संकेतभाषा में इसे हरणार्थक 'हृञ्' धातुके सम्बन्धसे 'हृ' अक्षर से सम्बोधित किया गया है। यही आगत्यात्मक गतितत्त्व 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका आदानद्वारा वस्तुपालन, किंवा विश्वपालन ही मुख्य धर्म्म माना गया है। दूसरे शब्दोंमें अपनी स्वाभाविक आहरणशक्ति से बाह्यवस्तुमात्रा के आदानद्वारा वस्तुका स्वरूपसंरक्षण क्योंकि इसी विष्णुतत्त्वका स्वरूपधर्म है। अतएव यह विष्णुतत्त्व पुराणों में 'पालक' रूपेण उपस्तुतोपवर्णित है।

(१४१) विजित इन्द्र और विजेता विष्णु—

केन्द्रप्रतियोगिनी परिधि–अनुयोगिनी गतिलक्षणा (परागूगतिलक्षणा–विसर्गरूपा–प्रदानभावात्मिका) 'ऐन्द्रगति' का, एवं परिधिप्रतियोगिनी केन्द्रानुयोगिनी आगतिलक्षणा (अर्वागूगतिलक्षणा–आदानभावात्मिका) 'वैष्णवगति' का, दोनोंका 'प्रहितां संयोगः–प्रयुतां संयोगः' रूपसे प्रतिरूपभावात्मक संघर्ष अनवरत प्रक्रान्त रहता है। मानव की बालावस्था में विष्णुगति (आगति) प्रधान रहती है, इन्द्रगति गौण रहती है। अतएव आदान होता है अधिक मात्रामें, विसर्ग होता है न्यून मात्रामें। अतएव यह प्रथमावस्था क्रमशः पुष्टिभाव-प्रवर्त्तिका बनती जाती है। वृद्धावस्थामें स्थिति का सर्वथा विपर्य्यय हो जाता है। गतिरूपा इन्द्रगति इस अवस्था में प्रधान हो जाती है, विष्णुगति गौण बन जाती है। अतएव विसर्ग होता है अधिक मात्रा में, एवं आदान होता है न्यूनमात्रा में। अतएव यह उत्तरावस्था क्रमशः ह्रासभावप्रवर्त्तिका बनती जाती है। इस प्रकार पूर्व–उत्तर अवस्थारूप बाल–वृद्धावस्थाओंमें क्रमशः इन्द्र–विष्णु–दोनों एक दूसरे से पराभूत होते रहते हैं, एवं विजेता बनते रहते हैं। बालावस्थामें विष्णु विजेता हैं, इन्द्र पराजित हैं। वृद्धावस्था में इन्द्र विजेता हैं, विष्णु पराजित हैं, जिसका अवस्थावर्षानुपात से १ से ३३,६७ से ९९, ये विभाग माने जा सकते हैं। ३४ से ६६ पर्य्यन्त (यदि युक्ताहारविहारपरायण मानव स्वस्थ–शतायु है, तो) व्याप्त मध्यावस्था में इन्द्राविष्णू दोनों समतुलित रहते हैं। आदान, विसर्ग, दोनों समानभावापन्न बने रहते हैं। इसी आदानविसर्गसमतुलनरूप मध्यावस्था को लक्ष्य बनाकर ऋषि ने कहा है—

> **उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।**
> **इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥**
>
> —ऋक्सं० ६।६९।८।

"विश्व की अन्यान्य यच्चतीवत् शक्तियाँ आदानविसर्गरूपा विष्णु–इन्द्र–रूपा इन दोनों महाशक्तियों से यद्यपि प्रतिद्वन्द्विता में प्रवृत्त रहती हैं। तथापि वे सम्पूर्णशक्तियाँ इन दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में अन्ततोगत्वा पराजित हो जातीं हैं। ये दोनों किसी भी अन्य शक्ति से पराजित नहीं होते।। यही नहीं, अपितु (पूर्वोक्त मध्यमावस्था में ३४ से ६६ के मध्य में) इन दोनों में से भी कोई एक दूसरे से पराजित नहीं होते। इस प्रकार परस्पर समानस्पर्द्धा रखने वाले इन्द्र और विष्णु अपनी इस स्पर्द्धा से जब 'अप्' तत्त्व (पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय शुक्र) को लक्ष्य बनाते हैं, दूसरे शब्दों में अप्तत्त्व पर जब इस संघर्ष का आक्रमण होता है, तो वेद–लोक–वाक्–नाम की तीन साहस्रियों का प्रादुर्भाव होता है, (जिस साहस्रीत्रयी का विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य है)।"

(१४२)–सत्यस्य प्रतिष्ठा—

विरुद्धदिग्द्वयगति, किंवा विरुद्धसर्वदिग्गति (परागगतिरूपा गति, एवं अर्वागगतिरूपा आगति), दोनों के एकत्र समन्वय से जिस एक विलक्षण उभयात्मक गतिसमष्ट्यात्मक गतिभाव का उदय होता है, वही गतिसमष्टि विज्ञानभाषा में **'स्थिति'** नाम से व्यवहृत हुई है। पूर्व में हमनें अमृतावागरूप अमृताकाश के आधार पर मर्त्यावागरूप मर्त्याकाश (भूताकाश) का आविर्भाव बतलाया है। रसनिबन्धना शुद्धा निरपेक्षा 'स्थिति' ही 'अमृताकाश' है। एवं बलनिबन्धना सापेक्षा गतिसमष्टिरूपा वस्तुतः गतिर्लक्षणा स्थिति ही 'मर्त्याकाश' है। इन दोनों निरपेक्ष–सापेक्ष स्थितिभावों का विवेक करते हुए ही स्थिति–गतिभावों का समन्वय करना चाहिए। बलानुगता सापेक्षस्थिति वह स्थिति है, जिसका स्वरूप अनेक, न्यूनतम दो विरुद्धगतियों के एकत्र समन्वय से सम्पन्न हुआ करता है। रसभाव से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति (अमृताकाशलक्षणा स्थिति) इस सापेक्ष स्थिति से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है। रसात्मिका स्थिति जहाँ वास्तविक स्थिति है, निरपेक्षा स्थिति है, वहाँ बलात्मिका स्थिति गतिस्तम्भनमात्र है, सापेक्षस्थितिमात्र है, गतिसमुच्चयलक्षणा स्थितिमात्र है। गति-समष्टिलक्षणा इस सापेक्षस्थिति के आधार पर ही आदान–विसर्गलक्षण इन्द्र–विष्णुगतियों का संघर्ष नियमित-मर्य्यादित बना रहता है। यह सापेक्षस्थिति ही दोनों गतियों की **'प्रतिष्ठा'** बनती है। दोनों विरुद्धगतियों के नियमन करने के कारण ही इस सापेक्षस्थितिलक्षणा गति को संकेतभाषा में **'यम्'** नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही तीसरा **'प्रतिष्ठाब्रह्म'**–है, जिसे–**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत० ६।१।१।५।) इत्यादिरूप से **'ब्रह्म'** कहा गया है।

(१४३)–हृदि अयं हृ–द–यम्—

इस प्रकार गतिलक्षण इन्द्र, आगतिलक्षण विष्णु, नियमनलक्षण ब्रह्मा, तीनों अवस्थाभेदों से अनुप्राणित गति–आगति–स्थिति–इन तीन भावों का उदय एक ही गतितत्त्व के **'परागगति–अर्वागति–गति-समष्टि'** इस रूप से हो रहा है। तीनों तत्त्व क्रमशः इन्द्र–विष्णु–ब्रह्मा हैं। तीनों की समष्टि ही त्र्यक्षरमूर्त्ति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा एकमूर्त्ति है, जिसका—**'एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म–विष्णु–महेश्वराः'** इत्यादिरूप से यशोवर्णन हुआ है। अपने आहरणात्मक 'हृ' धर्म्म से आगतिरूप विष्णु **'हृ'** है। अपने खण्डनात्मक 'द' धर्म्म से गतिरूप इन्द्र 'द' है। एवं अपने निय..नात्मक 'यम्' धर्म्म से समष्ट्यात्मक स्थितिरूप ब्रह्मा **'यम्'** है। तीनों की समुच्चितावस्था ही **'हृदयम्'** है, यही वह अन्तर्य्यामी त्र्यक्षरमूर्त्ति प्रजापति है, जिसे **'हृदि अयं हृदयम्'** रूप से हृदय में प्रतिष्ठित माना गया है। **'हृदय में हृदय प्रतिष्ठित है'**, इसका तात्पर्य्य यही है कि केन्द्र में 'हृ-द-यम्' रूपा शक्तित्रयी प्रतिष्ठित है।

(१४४)–मनु का इन्द्रत्व—

हृदयस्थ हृद्य मन गतिलक्षण इन्द्र की 'हृ–द–यम्' रूप तीनों शक्तियों से अभिन्न है। अतएव हृदयस्थ मन को अवश्य ही ऐन्द्र कहा जा सकता है। जिस प्रकार मन हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित है, एवमेव शक्तित्रयलक्षण गतित्रयात्मक इन्द्र भी हृ–द–यम्–रूप से इसी हृदय में प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नता के कारण मन को इन्द्र, तथा इन्द्र को मन कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जैसाकि—**'हृदयमेवेन्द्रः'** (शत० १२।६।१।१५।)–**'यन्मनः–स इन्द्रः'** (गो० ब्रा० उ० ४।११।)–**'मन एवेन्द्रः'** (शत०

१२।६।१।१३।)–इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। मन की मननशक्ति ही तो मनु है। जबकि मनस्तत्त्व 'हृ–द–यम्' मूर्त्ति इन्द्रतत्त्व से अभिन्न है, तो मनोरूप मनु को भी इन्द्रतत्त्व से अभिन्न ही माना जायगा। इसी दृष्टिकोण के माध्यम से हम मनुस्तत्त्व को 'इन्द्र' अभिधा से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

(१४५)–'शुन' इन्द्र की व्यापकता—

दूसरी दृष्टि से–'**इन्द्रमेके**' का समन्वय कीजिए। पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, मनोमहिमालक्षण मनुस्तत्त्व यजुम्मूर्त्तिभाव से वागग्निमाध्यम से 'अग्निजिह्व' बनता हुआ 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत हो रहा है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, यजुः का जूभाग आकाशात्मिका 'वाक्' है, यत्भाग वाय्वात्मक 'प्राण' है। वाङ्मय यह आकाशतत्त्व रस–बलानुबन्ध से अमृत–मर्त्य–भेदेन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों वागाकाशों में अमृताकाश (रसानुगता 'सरस्वती' नाम की अमृतावाक्) ही 'इन्द्र' है, एवं मर्त्याकाश (बलानुगता' आम्भृणी' नाम की मर्त्यावाक्') ही '**इन्द्रपत्नी**' है। अमृताकाशलक्षण अमृतवाङ्मूर्त्ति इन्द्र ही पारिभाषिक '**शुन**' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। इस 'शुन' रूप वागिन्द्र की परिपूर्णता से ही आकाश '**शुने–इन्द्राय–हितम्**' निर्वचनानुसार '**शून्य**' कहलाया है, जिस शून्य शब्द का तत्त्वार्थ है शुननामक इन्द्र-तत्त्व से परिपूर्ण प्रदेश। 'शून्य' शब्द का रिक्तार्थ (खाली स्थान) करना तत्त्वविरुद्ध ही माना जायगा। विज्ञानजगत् में रिक्तता का अभाव है। '**नेन्द्राद्‌ऋते पवते धाम किञ्चन**' (ऋक्सं० ९।६९।६) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है कि, ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ 'इन्द्र' तत्त्व व्याप्त न हो। यह इन्द्र तत्त्व यही '**शुन**' नामक इन्द्रतत्त्व है, जो अपनी गति तथा श्वोवसीयस् नामक हृद्य अव्ययमन की उत्तरोत्तरानुप्राणिता वृद्धि से समन्वित रहने के कारण ही 'शुन' नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) आकाशात्मा अमृतवाङ्मय यही वह 'शुन' इन्द्र है, जिस का–'**शुनं' हुवेम मघवानमिन्द्रम्**' (ऋक्सं० ३।३०।२२) इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है।

(१४६)—इन्द्र और सुन्दर—

'शुन' इन्द्र वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसकी स्वरूपसत्ता से विश्व, तथा विश्वप्रजा की जीवनसत्ता सुरक्षित है। विश्वजीवनसंरक्षक शुन इन्द्र जहाँ जीवनसत्ता सुरक्षित रखता है, वहाँ शुन इन्द्र से अभिन्न मर्त्याकाशमयी '**इन्द्रशचि**' नाम की इन्द्रपत्नी जीवन में ओज–साहस–बलपूर्णा स्फूर्त्ति प्रदान किया करती है, जिसके अनुग्रह से प्राणी कर्म्मकौशल का संघर्षपूर्वक अनुगमन करने में समर्थ बना करता है। इस जीवनतत्त्व-संरक्षण से ही इन्द्र को 'आत्मा' मान लिया जाता है (देखिए शत० २।३।१।७।)। वर्त्तमान जड़विज्ञान (भूतविज्ञान) ने ईथर Ether. तथा एनर्जी Enerjy नामक दो तत्त्वों का जीवनसत्ता से सम्बन्ध माना है। सम्भव है ये दोनों तत्त्व भारतीय वैदिकविज्ञान के इन्द्र, तथा इन्द्रशचि के ही विकृत रूप हों। यह भी बहुत सम्भव है कि, निरुक्तक्रमानुसार भाषानुगत कालव्यवधानक्रम से जैसे 'सुन्दर' शब्द 'सुद्दर'–'सुत्थर'– बनता हुआ 'सुथरा' (साफ–सुथरा) रूप में परिणत हो गया है, तथैव इन्द्रशब्द भी 'इन्दर'–'इद्दर'–'इत्थर' रूपों के द्वारा कालान्तर में 'ईथर' रूपमें परिणत हो गया हो। एवमेव यह भी सम्भव है कि, इसी प्राकृतिक निर्वचनशैली के द्वारा ही 'इन्द्रशचि' शब्द ही 'एनर्जी' रूपमें परिणत हो गया हो। यद्वा तद्वास्तु। प्रासङ्गिक वक्तव्य यही है कि, यजु का वाग्भाग ही 'शुन' नामक इन्द्र है। इसी आधार पर निम्नलिखित श्रौतवचन-प्रतिष्ठित है—

(१)-'अथ य इन्द्रः—सा वाक' (जै० उप० १।३३।२।)।

(२)-'स यस्स आकाशः—इन्द्र एव सः'(जै० उप० १।२।२।)।

(३)-'तस्मादाहुः—इन्द्रो वागिति' (शत० ११।१।६।१८।)।

(१४७)-केन्द्रस्थ, मनु और इन्द्र—

वागाकाश ही इन्द्र है। यही यजु है। तदभिन्नतत्त्व ही मनु है, तदभिन्नतत्त्व ही मन है। इस प्रकार मन-मनु-हृदय-वाक्-आदि तत्त्वों के समसमन्वय से भी मनु को 'इन्द्र' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। मनःप्राणवाङ्मय परात्परपुरुषात्मा के साथ जैसा समसमन्वय इन्द्रतत्त्व के साथ हो रहा है, वैसा अन्य अक्षर के साथ नहीं है। इस का एकमात्र कारण है इन्द्र का मध्यतः ऐन्धन। केन्द्रानुगत विकासभाव ही, इन्द्र का इन्द्रत्त्व है। यही कारण कि, **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इस आत्मलक्षण से समतुलित इन्द्र के लिए भी **'इन्द्रो मे आत्मा'** यह कह दिया जाता है। अतएव च—**'हृदयमेवेन्द्रः' (शत० १२।६।१।१५।)-'यन्मनः-स इन्द्रः' (गो० उ० ४।११)-'प्राण एवेन्द्रः' (शत० १२।८।१।१४।)-'वागिन्द्रः' (शत० ८।७।२।६।)**-इत्यादिरूप से आत्मवत् इन्द्र को भी मनःप्राणवङ्मय मान लिया गया है। केन्द्रस्थ मन ही मनु है। इस केन्द्रस्थ मनोरूप मनु का विकास जिस विश्व के केन्द्र में होता है, वह रुक्माभ सौर इन्द्र प्रजापति ही हैं। इस विश्वकेन्द्रानगत मनुस्थिति के सम्बन्ध से सौर इन्द्र मनु से सर्वात्मना समतुलित हैं। इन्हीं सब रहस्यों को लक्ष्य बनाकर विद्वानों नें मनोमय हृद्य मनु को **'इन्द्रमेके'** रूप से 'इन्द्र' नाम से घोषित किया है।

(१४८)-प्राणमूर्त्तिमनु (परे प्राणम्)—(४)—

अपने प्राणात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणरूप से मनु को अवश्य ही 'प्राण' अभिधासे भी सम्बोधित किया जा सकता है, जिस के सम्बन्ध में भी चिरन्तन इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। जब कुछ न था, तो क्या था ?, इस सृष्टिमूलविषयक प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों नें कहा-'जब यह सब कुछ विश्व-भूत-भौतिक प्रपञ्च न था, तो उस समय केवल 'असत्' तत्त्व ही था।' **'कथमसतः सज्जायेत'** असत् से सद्रूप विश्व का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव है ?, इस विप्रतिपत्तिने उस असत् को 'सद्' रूप की मान्यता प्रदान की, एवं इसी आधार पर उस 'असत्' की व्याख्या हुई-**'सदेवेदमग्रे सोम्य ! असत्-आसीत्'**। वह असत् वास्तव में 'सत्' ही था। जैसा नामरूपात्मक सद्भाव विश्वस्वरूप में आज हमें उपलब्ध है, वह वैसा 'सत्' न था, इसलिए तो वह 'असत्' था। साथही था वह सत्तालक्षण, अतएव वह 'असत्' सत् ही था। जिसे लोक में हम असत् (अभावात्मक) कहते हैं, एवं सत् (नामरूपात्मक) कहते हैं, वह विश्वमूलतत्त्व इन लौकिक सदसद्भावों से सर्वथा विलक्षण था। अतएव वह लोकदृष्ट्या न सत् था, न असत् था। इसी आधार पर-**'नासदासीत्-नो सदासीत् तदानीम्'** (ऋक्संहिता) सिद्धान्त स्थापित हुआ। अनुपाख्यदृष्ट्या वह 'असत्' था, तत्त्वदृष्ट्या वह सत् था, लोकानुबन्धी सदसत्-दृष्ट्या वह न सत् था, न असत् था, इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से तत्त्ववेत्ताओं नें उस विश्वमूलभूत 'असत्' तत्त्व की स्वरूपमीमांसा की, जिसका तात्त्विक समन्वय हुआ भगवान् याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित शब्दों में कि—

(१४९)–ऋषिप्राण की मूलोपनिषत् –

वह विश्वमूल 'असत्' तत्त्व 'ऋषि' नामक तत्त्व–विशेष ही था। वह 'ऋषि' क्या था ? (ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था ?) प्रश्न का उत्तर प्राप्त हुआ–'प्राण' ही ऋषि था। 'प्राण' का नाम 'ऋषि' क्यों हुआ ?, प्रश्न का समाधान प्राप्त हुआ–'उन प्राणों नें अपने तपोयुक्त श्रम से इस विश्वनिर्म्माण की कामना से अपने आप को गतिशील बनाया। इस 'अरिषत्' लक्षण गतिभाव के सम्बन्ध से ही वह असत्प्राण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ *। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द से अतीत, अतएव अधामच्छद–असङ्ग–मौलिक तत्त्व ही वह 'ऋषि' प्राण है, जिसे नैसर्गिक गतिभाव के कारण 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया है। **'चरैवेति-चरैवेति'** ही इस ऋषिप्राण की मूलोपनिषत् है। यह ऋषिप्राण अपने बलनिबन्धन विभूतिभावों से **'एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि,** आदि आदि भेदों से अनेक जात्युपजातियों में विभक्त है। जिस इन सब अनन्तप्राणों का स्वरूपपरिचय संक्षेप से प्राणोपनिषद्विज्ञानभाष्य (प्रश्नोपनिषत्विज्ञानभाष्य) से गतार्थ है। **'को हि प्राणानामानन्त्यं वेद'** इत्यादि रूप से प्राणर्षि के स्वरूपव्याख्याता मानवमहर्षि ने बड़े ही गौरव से प्राणमहिमा के अनन्त विस्तार का यशोगान किया है +। मनोमय हृद्य यजुर्वेद का 'जू' नामक आकाश में प्रतिष्ठित 'यत्' नामक प्राणवायु ही वह मूल ऋषिप्राण है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण सर्गप्रवृत्ति हुई है। 'जूः' **वाक् है,** 'यत्' **प्राण** है।, इस यत् जू रूप यजुः से (वाक्प्राण से) समन्वित हृद्य मन ही आत्मा है, यही सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का स्वरूपपरिचय है।

(१५०)–सृष्टि–गति–क्रिया, और प्राणतत्त्व—

यजुः के जू रूप वाग्भाग से मनोमय मनुप्रजापति वाङ्मय है, यजु के 'यत्' रूप प्राणभाग से मनु प्राणमय है, एवं अपने प्रातिस्विक हृदयस्थ उक्थरूप मनु के सम्बन्ध से मनु मनोमय है। मनोमयरूप से मनु-प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं, प्राणमयरूप से मनु सृष्टिनिर्म्माणसहयोगी तप (आभ्यन्तरव्यापार–क्रतु–कृति–यत्न–चेष्टा) का अनुगमन करते हैं, एवं वाङ्मयरूप से मनु सृष्टि के उपादानसहयोगी श्रम (उपादान भाव–बाह्यव्यापार–कर्म्म) का अनुष्ठान करते हैं। वाक्–प्राण–मन, इन तीनों सर्गनिमित्तों में मध्यस्थ प्राण ही सृष्टि का अग्रवर्त्तक माना गया है। क्योंकि सृष्टि व्यापारसापेक्षा है, व्यापार क्रिया है, क्रिया गति है, गति ही प्राण है। वाक्तत्त्व अर्थरूपत्वेन निष्क्रिय है, मन ज्ञानरूपत्वेन निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यस्थ एकमात्र

---

* असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?। ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः–के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्मात् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्। तस्मात्–ऋषयः।

—शत० ६।१।१।१। ,

+ विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवः, ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥
—ऋक्सं १०।६२।५।

क्रियालक्षण गतिस्वरूप प्राणतत्त्व । अतएव सृष्टिकर्तृत्व का प्रधान उत्तरदायित्व मध्यस्थ गतिशील प्राण से ही सम्बद्ध माना गया है ।

(१५१)—सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण—

सृष्टि का मूलभूत मौलिकतत्त्व 'ऋषि' नामक वह मौलिक प्राण है, जिसके बलानुगत सम्बन्धतारतम्य से आगे जाकर पितर–असुर–गन्धर्व–देव–आदि अनेक यौगिक विभेद हो जाते हैं ÷ । उन सब असंख्य-अनन्त यौगिक पितर-असुरादि प्राणों के मूलभूत मौलिक ऋषिप्राण की स्वयं की भी अनेक जाति-उपजातियाँ व्यवस्थित हुई हैं । उन अनेकधा विभक्त ऋषिप्राण–जात्युपजातियों में से मनोमय मनु की सृष्टिधारा के साथ प्रधान सम्बन्ध रखने वाली प्राणजाति **'सप्तर्षि'** नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका अध्यात्मसंस्था में चतुर्द्धा विभक्त **'गुहाप्राण'** रूप से अनुमान किया जा सकता है । कर्णच्छिद्रभुक्त दो **कर्णप्राण**, चक्षुर्गोलकभुक्त दो **चक्षुःप्राण**, नासाविवरभुक्त दो **नासाप्राण**, मुखविवरभुक्त एक **मुखप्राण**, इस प्रकार शिरोयन्त्रात्मिका सहस्रकमलदल-समन्विता मस्तकरूपा शिरोगुहा में 'सप्तर्षि' नामक ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, यही आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण-मण्डल है । मस्तक एक वैसा चमस (कटोरा) है, जिसका बुध्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिल (कटोरे का मध्यस्थ विपुलोदर भाग–जिसमें कि वस्तु भरी रहती है) अर्वाक् है । शिरः–कपाल इस कटोरे का पैंदा है, यह उर्ध्वभाग में अवस्थित है । कपालरूप पैंदे का बिलरूप पोलभाग कपाल के अधः अवस्थित है । मस्तक क्या है, मानो औंधा कटोरा है । इसी अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्नरूप चमस में 'सहस्रदल' कमलरूप मस्तिष्क-लक्षण (भेजालक्षण) पुरोडाशद्रव्य परिपूर्ण है । यह पुरोडाश ही तो सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का 'श्रीः' रूप वह यशोरस है, जिस ज्ञानमय रसकोश से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का सञ्चालन होता रहता है । सप्तपुरुष–पुरुषात्मक इस यशोरूप 'श्रीः' रस से ही मस्तक भाग 'श्रीः' कहलाया है, यही 'शिरः' शब्द का मौलिक निर्वचन है । इस श्री रूप यशोरस के आश्रित होने से ही भूतात्मक काय 'शरीर' कहलाया है । निम्नलिखित वचन इसी 'श्री' रस का यशोवर्णन कर रहा है—

अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदोहन् । तदस्य शिरोऽभवत् । यत्–श्रियं समुदोहत्–तस्मात्–शिरः । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त । तस्माद्वा–एतत्–शिरः । अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्माद् प्राणाः श्रियः । अथ यत् सर्वस्मिन्–अश्रयन्त, तस्माद् शरीरम् ।

—शत० ब्रा० ६।१।१।४।

(१५२)—आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण—

उक्त नैगमिक सिद्धान्त के आधार पर ही आगमशास्त्र में पशुमस्तक 'श्रीः' नाम से व्यवहृत हुआ है । चराचरप्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहारों का सञ्चालन इसी ज्ञानात्मक रसरूप 'श्रीः' भाग से हो रहा है । श्रीरस

÷ **ऋषिभ्य पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।**
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥
—मनुः ३।२०१

ही (ज्ञानीय प्रेरणा ही) कामना के द्वारा प्रत्येक कर्म्म का आरम्भबिन्दु बना करता है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर अपनी प्रत्येक जीवनधारा, प्रत्येक कर्म्म में श्वाश्वत–सनातन–प्राकृतिक भावों का ही अनुगमन करने वाली आस्थाश्रद्धापरायणा आस्तिक भारतीय आर्षप्रजा का प्रत्येक कार्य्य 'श्रीः' संस्मरणपूर्वक ही उपक्रान्त बनता है। अतएव इसकी पत्रादिलेखनरूपा लिपियाँ भी 'श्रीः' से ही उपक्रान्त बनतीं हैं। यशोरूप 'श्रीः' रस की उपासना करने वाली आर्षप्रजा जिस प्रकार शून्यमस्तक को अमर्य्यादित श्रीभावानुबन्ध से अशुभ मानती है, तथैव लेखनकर्म्म को भी 'श्रीः' के बिना अमाङ्गलिक ही मानती है, जो वर्त्तमान राष्ट्रीयप्रजा का एकमात्र मङ्गलविधान बना हुआ है *।

'श्रीः' नामक यशोरस से परिपूर्ण (ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण) अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न ऐसे शिरोयन्त्र के तट पर तथाकथित सात ऋषिप्राण प्रतिष्ठित हैं। सातों में ६ ऋषिप्राण सयुक् (जोड़ले), सातवाँ एकाकी है। दो कर्णप्राण, दो चक्षुःप्राण, दो नासाप्राण, इस प्रकार ६ प्राण सयुक् हैं। सातवाँ मुखप्राण एकाकी है। इसी आध्यात्मिक महर्षिप्राण का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ऋषितत्त्ववेत्ता ऋषि कहते हैं :—

(१)–साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥
—ऋक् सं० १।१।६४।१५।

(२)–अर्वागबिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
—शत० १४।५।२।५।

(१५३) शिरोवेष्टन की आर्षता, एवं 'श्रीः' स्वरूपसंरक्षण—

आध्यात्मिक शिरोमण्डल में आध्यात्मिक यशोरूप जैसी अमूल्य निधि प्रतिष्ठित है। यह साक्षात् दिव्यविभूति है, जिसे सदा परोक्ष-सुगुप्त ही रखनी चाहिए। यही इसका महामाङ्गलिक स्वस्त्ययनभाव है। इसी परोक्षसुगुप्ति का नैदानिक प्रतीक शिरोवेष्टन (उष्णीष–पगड़ी–साफा–टोपी–आदि) माना गया है। शिरोभाग से नीचे भव्य–आकर्षक–वेशभूषा से सुसज्जित रहता हुआ भी मानव अपने यशोभाग को (शिरोभाग को) प्रत्यक्ष रखता हुआ (उघाड़े मस्तक रखता हुआ) न केवल भारतीय आर्षदृष्टि से ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभ्य–अर्द्धसभ्य–असभ्य–मानवमात्र की दृष्टि से निसर्गतः अमाङ्गलिक ही माना गया है। सुदूर-पूर्व अफ्रीका की सर्वथा नग्न जातियाँ भी पक्षिपङ्खादिविभूषित शिरोभूषण से समन्वित सुनीं जातीं हैं।

* वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रगतिवादियों के प्रगतिशील राष्ट्रिय समाज में, एवं तदनुवर्त्मा सुधारक समाज में शिरोरूप से, तथा लिपिरूप से उभय था 'श्री' भाव का अभाव ही दृष्ट–उपश्रुत है। 'श्रीः' इनकी दृष्टि में केवल कल्पित रूढ़िवाद है। 'श्रीः' की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला राष्ट्रीयवर्ग, एवं सुधारकवर्ग यदि श्रीः से सर्वात्मना वञ्चित हुआ राष्ट्र और समाज को भी श्रीहीन बना देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है।

कहीं टोप, कहीं वस्त्रावगुण्ठन, कहीं उष्णीष, सर्वत्र शिरोभूषण उपलब्ध हुए हैं। **'लोहितोष्णीषः-ऋत्विजः प्रचरन्ति'** (लाल पगड़ी वाले यज्ञ-सञ्चालक ऋत्विक्लोग यज्ञकर्म्म में संलग्न हैं) इत्यादि निगमवचन इसी माङ्गलिक शिरोवेष्टन का समर्थन कर रहा है। मस्तक उघाड़ कर सम्मुख आया हुआ मानव **'शकुनवसन्तराज'** (एतन्नामक ग्रन्थ) के अनुसार महा अमाङ्गलिक माना गया है। हिन्दू मानव उघाड़े मस्तक पर माङ्गलिक तिलक लगाना भी अशुभ मानता है। बात है प्रतीति में लोकशिष्टानुगतामात्र, किन्तु तत्त्व है इसका सर्वथा रहस्यपूर्ण। पूर्वकथनानुसार प्रायः सभी तो देशों में शिरोवेष्टन की पद्धति दृष्ट-श्रुतोपश्रुत है। वर्त्तमान में भी केवल 'बङ्ग' प्रान्त (बङ्गाल) को छोड़ कर सभी देशों की सभी जातियों में शिरोवेष्टनपद्धति प्रकान्त है। ग्रामसभ्यता में तो बड़ी ही कड़ाई से इस नियम का पालन किया जाता है। एक ग्रामीण दरिद्रतावश भले ही अन्य शरीरावयों से नग्नवत् बना रहे, किंतु उसके मस्तक पर जीर्ण-शीर्ण उष्णीष अवश्य रहेगी। कृषिकर्म्म के लिए सन्नद्ध कृषक को यदि सम्मुख उन्मुक्तशिर नर, अथवा तो नारी मिल जाते हैं, तो तत्काल वह अपने हल के साथ पाराङ्मुख बन जाता है। उन्मुक्त शिर को वह परिपक्व खेत में प्रविष्ट तक नहीं होने देता। हमें आश्चर्य्य होता है कि, अन्यान्य सतातन-नैगमिक-संस्कृतियों में सर्वाग्रणी बना रहने वाला बङ्गप्रान्त सहसा अपनी इस निगममूला संस्कृति की उपेक्षा करते हुए **'बुभुक्षित बङ्गाली'** * इस लोक आभाणक का निमित्त किस अदृष्ट से बन गया ? शिरोभावावस्थिता विश्वयशोरूपा 'श्रीः' ही तो वह आध्यात्मिक मौलिक सम्पत्ति है, जिस सविताप्रेरणात्मिका ज्ञानसम्पत् को मूल बनाकर ही मानव आधिभौतिकी बाह्यसम्पत्-संग्रहद्वारा विभूतिशाली बनने में समर्थ होता है। अपनी मूलाधारभूता इस आध्यात्मिकी श्री को नग्न रखने वाला बाह्यसम्पत्-संग्रह-सरक्षण में यदि असमर्थ बना रहता हुआ दीन-हीन-दरिद्री-बुभुक्षित हो जाता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिरोवेष्टन,एवं शिरोऽवगुण्ठन शून्य आज का नर, तथा नारी, दोनों ही इस दिशा में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(१५४) श्वेत, और रंगरंजित शिरोवेष्टन का तारतम्य—

एक प्रासङ्गिक तथ्य का विश्लेषण और। 'लोहितोष्णीषः' वाक्य रङ्गरञ्जित (रङ्गीन) शिरोवेष्टन की माङ्गलिकता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अपने प्रत्येक कर्म्म में प्राकृतिक माङ्गलिक विधान को महत्व प्रदान करने वाले राजपत्तन (राजपूताना) प्रान्त की **'रङ्गीन पगड़ी'** का मांगलिक महत्त्व जगत्प्रसिद्ध है, और यह चिह्न, तथा रङ्गरञ्जित नारी का दुकूलवस्त्र (रङ्गीन पीतवस्त्र-साड़ी-पीला-ओढ़ना चूनड़ी) यहाँ के महान् सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक हैं। यहाँ श्वेत शिरोवस्त्र कीर्त्ति का नैदानिक प्रतीक बनता हुआ शिरश्छत्रमात्र में व्यवहार्य माना गया है। यौवराज्य-पदासीन युवा पुत्रपौत्रादि के लिए शिरश्छत्र इसके वृद्ध पिता, जेष्ठभ्राता, आदि ही माने गये हैं। अतएव पितापितामहादि की सत्ता से वञ्चित वृद्धपुरुष ही श्वेत शिरोवेष्टन के अधिकारी हैं। तद्युवा पुत्र-पौत्रादि का शिरोवेष्टन तो रङ्गरञ्जित

* भूखा बङ्गाली।

ही होता है। यदि युवापुत्रादि श्वेत शिरोवेष्टन धारण करते हैं, तो वे भारतीय स्वस्त्ययन-÷कर्म्म से नितान्त विरुद्ध गमन करते हुए श्री-सम्पत् के विघातक ही बनते हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रतीक हमारा आज का श्वेतशिरोवेष्टन (धोली टोपी) युक्त, अथवा तो शून्यशिरस्क राष्ट्रीयवर्ग प्रमाणित हो रहा है। श्रीशून्य मस्तक, श्रीशून्या लिपि, श्रीशून्य कार्य्यकलाप, श्रीशून्य श्वेत शिरोवेष्टन, आदि रूप से आज तो महा अमाङ्गलिक श्रीविहीन भाव ही हमारी सभ्यता के प्रतीक बन रहे हैं, जिन इन अमाङ्गलिक प्रतीकों के दुष्परिणामों के उद्वेगकर इतिवृत्तों से आज के श्री-सम्पत्विहीन राष्ट्र के सभी तथाविध नर-नारी प्रत्यक्ष निदर्शन प्रमाणित हो रहे हैं।

(१५५) गुहाशया निहिताः सप्त सप्त--

आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण का प्रसङ्ग प्रक्रान्त था। जिस प्रकार यशोरसात्मक श्रीसम्पद्युक्त शिरोयन्त्र (शिरोगुहा) में तथाकथितरूप से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित है, तथैव इसी अध्यात्मसंस्था (शरीरसंस्था) में **उरोगुहारूप उरोयन्त्र, उदरगुहारूप उदरयन्त्र, बस्तिगुहारूप बस्तियन्त्र,** इन नीचे के तीनों यन्त्रों में भी उसी क्रम से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित माना गया है **हस्तद्वय, स्तनद्वय, फुफ्फुसद्वय, हृदय,** यह दूसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसके प्रतिष्ठा उरोयन्त्र (छाती) है। **यकृत्-प्लीहाद्वन्द्व (जिगर और तिल्ली, क्लोमद्वय, वृक्कद्वय, नाभि,** यह तीसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा उदरयन्त्र (पेट) है। **श्रोणिद्वय, मूत्ररेतसीद्वयी, आण्डद्वय-मूलद्वार,** यह चौथा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा बस्तियन्त्र है। इस प्रकार **'शिरः-उरः-उदर-बस्ति'** भेद से अध्यात्मसंस्था में समानक्रमपूर्वक सप्तर्षिप्राण सप्तक चार गुहायन्त्रों में प्रतिष्ठित होता हुआ निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तर्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।८

÷—प्राकृतिक प्राणदेवतानुबन्धिनी माङ्गलिक स्थितियों के आधार पर आर्षवैज्ञानिकोंनें शयन-भोजन वस्त्र-गमन-हसन-भाषण-लेखन-पठन-पाठन आदि आदि यच्चयावत् दैनिक व्यवहारों में कुछ एक वैसे प्राकृतिक माङ्गलिक विधि-विधान विहित किए हैं, जिनके नियमतः अनुगमन से-आचरण से मानव की जीवनधारा सहजरूप से स्वस्ति-शान्ति-निरुपद्रवरूप से प्रवाहित होती रहती है। एवंविध सहज माङ्गलिक कर्म्मों का विभाग ही आर्षपद्धति में **'स्वस्त्ययनकर्म्म' (शान्तिस्वस्त्ययन)** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिनका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के **'कर्मयोगपरीक्षा'** नामक 'ग' विभागात्मक तृतीय खण्ड के **'स्वस्त्ययनकर्म्मपरिगणना'** नामक आवान्तर प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है।

गुहाशयप्राणसप्तकचतुष्टयीपरिलेखः—

★ ब्रह्मरन्ध्रं—मनः | सर्वम् [१]

१–कर्णौ (२)–सोमः–पारमेष्ठ्यः (३३)
२–चक्षुषी (२)–आदित्यः–दिव्यः (२१)
३–नासिके (२)–वायुः–आन्तरिक्ष्यः(१५)
४–वाक् (१)–अग्निः–पार्थिवः (६)

१ ★–शिरोयन्त्रम् (शिरोगुहा) विज्ञानात्मा (आपः ३३)
(दिशः –त्रयस्त्रिंशः)

कण्ठः–मनः–प्राणः [२]

१–हस्तौ (२)–सोमः–पारमेष्ठ्यः (३३)
२–स्तनौ (२)–आदित्यः–दिव्यः (२१)
३–फुफ्फुसे (२)–वायुः–आन्तरिक्ष्यः १५)
४–हृदयम् (१)–अग्निः–पार्थिवः (६)

२ ★–उरोयन्त्रम् (उरोगुहा) प्राणात्मा (द्यौः २१)
(द्यौः एकविंशः)

हृदयम्–मनः–व्यानः [३]

१–यकृत्-प्लीहे (२) सोमः-पारमेष्ठ्यः (३३)
२–क्लोमानौ (२)–आदित्यः–दिव्यः (२१)
३–वृक्के (२)–वायुः-आन्तरिक्ष्यः(१५)
४–नाभिः (१)–अग्निः-पार्थिवः (६)

३ ★–उदरयन्त्रम् (उदरगुहा) व्यानात्मा(अन्तरिक्षम्(१५)
(अन्तरिक्षम्–पञ्चदशः)

नाभिः–अपानः [४]

१–श्रोणी (२)–सोमः-पारमेष्ठ्यः (३३)
२–मूत्र-रेतसी (२)–आदित्यः-दिव्यः (२१)
३–आण्डे (२)–वायुः-आन्तरिक्ष्यः (१५)
४–मूलद्वारम् (१)–अग्निः-पार्थिवः (६)

४ ★–बस्तियन्त्रम् (बस्तिगुहा) अपानात्मा (पृथिवी ६)
(पृथिवी ६ त्रिवृता)

मूलरन्ध्रम्— | सर्वम्[५] ★

(१५६) विरूपास इदृषयः—

प्रकृतमनुसरामः । हृद्यमनु अपने से अभिन्न मनोमय आत्मरूप से मनोमय बनता हुआ स्थिति-गतिभावात्मक यजुः के जुरूप वाग्भाग से वाङ्मय, एवं यत्रूप प्राणभाग से प्राणमय बनता हुआ मनःप्राणवाङ्मय बनकर कामः–तपः–श्रमरूप से सृष्टिसाक्षी आत्मा बन रहा है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस मनः-प्राणवाङ्मय मनुस्तत्त्व का गतिशील तपोमय प्राणभाग ही वह 'असत्' तत्त्व है, जिसे 'अरिषन्' निर्वचन से पूर्व में 'ऋषि' कहा गया है। यह असल्लक्षण सद्रूप ऋषिप्राण **वसिष्ठ–अगस्त्य–मत्स्य–कश्यप–अत्रि मरीचि-भृगु-पुलस्त्य-पुलह** आदि आदि भेद से अनेक जात्युपजातिविवर्त्तभावों में विभक्त है। **'प्राणा वा ऋषयः'** रूप से वसिष्ठादि नाम ऋषिप्राणों से सम्बन्धित हैं। जिस प्राण का जिस मानवश्रेष्ठ ने सर्वप्रथम स्वरूपबोध प्राप्त किया, वह मानवश्रेष्ठ भी यशोनाम–पद्धति से तत्प्राणऋषि के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हो गया। ऋषिप्राण यजुम्मूर्त्ति है। यजुः ही तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद है। क्योंकि वेदात्मक ऋषिप्राण **'विरूपास इदृषयः'** सिद्धान्तानुसार अनन्त–असंख्य हैं। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने इन्द्रभरद्वाजाख्यान के प्रसङ्ग में **'अनन्ता वै वेदाः'** सिद्धान्त स्थापित किया है। अनन्त ब्रह्म के निःश्वासात्मक प्राणलक्षण वेद वास्तव में अनन्त ही हैं।, जिनका इन्द्रद्वारा चार सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाले भरद्वाज ऋषि-प्राण के द्रष्टा, अतएव 'भरद्वाज' नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि मुष्टिमात्र ही बोध प्राप्त कर पाये थे (देखिये– तै॰ ब्रा॰ ३।१०।११।४।)।

(१५७) ऋषि, और ऋषिद्रष्टा मानवमहर्षि—

भारतीय आर्षवैज्ञानिकों नें अपने निर्भ्रान्त तपःपूत आर्षज्ञान (सहजज्ञान) के द्वारा प्रकृति के इन गुह्यतम ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिस आर्ष महामानव ने सर्वप्रथम जिस ऋषिप्राण का प्राकृतिक परीक्षण के माध्यम से साक्षात्कार किया, तत्कालीन आर्षप्रजा ने इस अद्भुत अन्वेषण के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करने के लिए उन आर्ष महामानवों को उन ऋषिप्राण–उपाधियों से ही सम्मानित किया, जो उनके 'यशोनाम' कहलाए। तद्वंशधरों में भी जिन जिन मानवश्रेष्ठों नें इस पारम्परिक पैतृक ऋषिप्राणाविष्कार का अनुशीलन–प्रचार प्रक्रान्त रक्खा, वे भी इसी यशोनाम से प्रसिद्ध हुए, जिनके आधार पर–**'साक्षात्कृतधर्म्माणः—ऋषयो बभूवुः'** इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। निष्कर्षतः— प्राकृत मौलिक तत्त्व ही 'प्राण' है, यही 'असत्' नामक 'ऋषि' है, यही वेदतत्त्व है, एवं इसी से सम्पूर्ण तन्मात्रभावों की, तन्मात्रद्वारा तद्भूतभावों की उत्पत्ति हुई है, यही मनुर्म्मय वेदप्राण का मनुर्भावत्त्व है, जिसके सर्वारम्भक वेदत्त्व का राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

१– चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्त्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥

२– शब्दः-स्पर्शश्च रूपं च–रसो–गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥

३- बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥
—मनुः १२।६७,६८,६६, ।

(१५८) सप्तर्षिप्राण, और सुपर्णचिति—

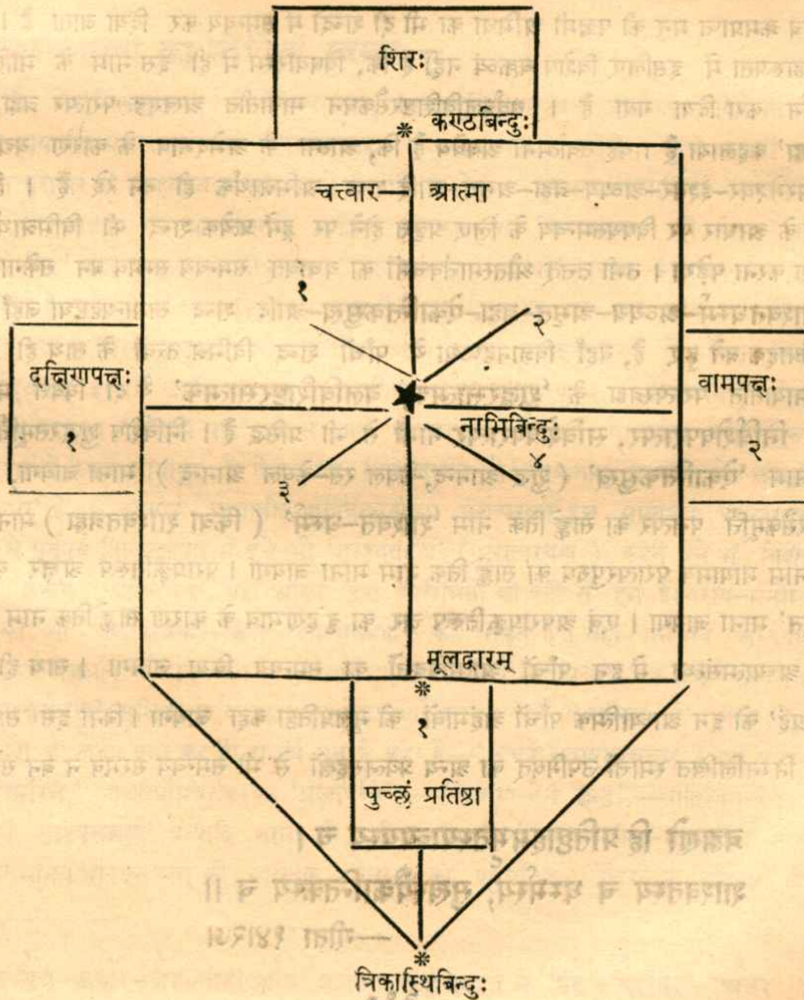
सप्तर्षिप्राणात्मक जिस ऋषिप्राण का मनुरूप से अबतक यशोगान हुआ है, दो शब्दों में उसके सप्तपुरुषपुरुषात्मक आधिभौतिक स्वरूप का भी यशोगान कर लीजिए । विश्वनिर्म्माणप्रक्रियानुगामी ऋषिप्राण (सप्तर्षिप्राण) 'चत्वारः–द्वौ–एकः' (४-२-१) इस क्रम से सुसंघटित होकर ही सप्तचितिरूप आधिभौतिक कायरूप शरीर (भौतिकपिण्ड) का स्वरूपारम्भक बनता है । दूसरे शब्दों में 'चार–दो–एक' इस रूप से अपनी तीन स्वतन्त्र चितियों में समन्वित होकर ही सप्तर्षिप्राण सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया में प्रवृत्त होता है । चार ऋषिप्राणों की समन्वितावस्थारूपा चिति मुख्य मानी गई है । इस मुख्यता के अनुबन्ध से ही इस चतुः–प्राणात्मिका मुख्य चिति को **'आत्मा'** कहा गया है । प्राणद्वयात्मिका दूसरी चिति को **'पक्ष'** माना गया है, एवं एकप्राणात्मिका चिति को **'पुच्छ'** कहा गया है । यही वह सुप्रसिद्धा **'सुपर्णचिति'** है, जिसका शतपथ-विज्ञानभाष्य के चयनयज्ञप्रकरण में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । इस सप्तचिति के सम्बन्ध से ही यह प्राण-पुरुष **'सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति'** अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है ।

(१५६) सप्तपुरुषपुरुषात्मा की वेदपुरुषता—

सुचतुर शिल्पी संकल्पित शिल्प के निर्म्माण से पहिले उसका रेखारूप (साँचा) बनाता है, तदनुरूप ही शिल्पाकार (ढलाई) का उस रेखारूप (साँचे) में सन्निवेश कराता है । मनुप्रजापति के द्वारा अपने प्राणभाग (सप्तर्षिप्राण) से सर्वप्रथम सुपर्णचितिरूप सप्तप्राणों का साँचा बनाया जाता है । तदनुरूप ही सम्पूर्ण सृष्टियों को (भूतमात्रासन्निवेश द्वारा) भौतिक स्वरूप प्रदान किया जाता है । चितिविज्ञान भारतीय विज्ञानकाण्ड का एक रहस्यपूर्ण तात्त्विक विषय है; जो एकान्तनिष्ठ चिरकालिक स्वाध्यायव्रत के द्वारा ही विज्ञेय बना करता है । सम्पूर्ण भूतभौतिक पदार्थों में **मध्यभाग, पार्श्वभाग, मूलभाग, शिरोभाग,** रूप से आप भागचतुष्टयी का समन्वय कर सकते हैं । मानवशरीर को ही उदाहरण बनाइए । शिरोभाग स्पष्ट है ही । कण्ठ से मूलद्वार पर्य्यन्त व्याप्त कबन्ध (धड़) भाग मध्यभाग है, यही वह मुख्य भाग है, जिसके आधार पर मस्तक-हाथ–पैर–आदि गौणभाग प्रतिष्ठित हैं । दक्षिण हस्त–दक्षिण पाद, एक पक्ष है । वाम हस्त–वाम पाद एक पक्ष है । यही पार्श्वभाग है । मेरुदण्ड के अधो भाग में अवस्थित **'त्रिकास्थि'** नाम से प्रसिद्ध मूल–प्रतिष्ठा भाग ही मूलभाग है । मध्यभाग चार प्राणों की समष्टिरूप **'चत्वार आत्मा'** है । पार्श्वभाग **'द्वौ पक्षौ'** है । मूलभाग **'पुच्छं' प्रतिष्ठा'** है । इस पुच्छप्रतिष्ठा के शिथिल हो जाने से वार्द्धक्य में शिरोयष्टि अवनत बन जाया करती है । एक पिप्पलपत्र (पीपल के पत्ते) को लक्ष्य बनाइए । मध्य पत्र आत्मा है, दोनों पार्श्व पक्ष है, मूलभाग पुच्छप्रतिष्ठा है, जिससे पत्ता तना हुआ रहता है । इसके निर्बल होते ही पत्ता अवनत हो जाता है, झुक जाता है, कालान्तर में मुर्झा जाता है । कण्ठ से आरम्भ कर शेष सर्वाङ्ग भौतिक शरीर में सप्तचितिरूप से प्रतिष्ठित यह सप्तर्षि अपने भौतिकरूप से **'मर्त्यचिति'** माना गया है । इन सातों पुरुषों का जो अमृतभाग है, वही ऊर्ध्वस्थितशिरोभागानुगता अमृतचिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है ।

त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । त एतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्—यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ । पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः । प्रतिष्ठैक आसीत् । अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्–तमूर्ध्वं समुदौहन् । तदस्य शिरोऽभवत् । स एवं पुरुषः प्रजापतिरभवत् । स यः सः पुरुषः—प्रजापतिरभवत्, अयमेव सः, योऽयमग्निश्चीयते (कायरूपेण–शरीररूपेण–मूर्त्तपिण्डरूपेण–भूतपिण्ड-रूपेण) । स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्ययं, पुरुषः–यच्चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि" ।

—शतपथब्राह्मण ६ काण्ड, अग्निरहस्यविद्या, १ ब्राह्मण ।



(१६०) प्राणमूर्त्ति मनु--

अलमतिविस्तरेण । प्राणमूर्त्ति-सप्तचितिक- मनोवाङ्मय मनु से सर्वप्रथम स्वप्राणतत्त्व का ही चितिभाव के लिए पूर्वानुसार सप्तधा विकास होता है । यही ऋषिप्राणसप्तक मनुप्रजापति की प्रथमा भावसृष्टि (मानसीसृष्टि) कहलाई है, जिसका चितिभाव से पूर्ण विकास हुआ है तीसरी सौरहिरण्मयमण्डलरूपा हिरण्यगर्भसृष्टिधारा में । अतएव यह सप्तर्षिसर्ग हिरण्यगर्भमनु (सौरप्रजापति) की सन्तति माना गया है, जैसाकि पाठक आगे आने वाले 'मनुकृतासृष्टि' निरूपण में देखेंगे । मनोमय मनु को इस यजुःप्राणात्मक सप्तर्षिप्राण के अनुबन्ध से अवश्य ही **'प्राण'** नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । प्राणतत्त्व के सप्तर्षिप्राणात्मक इस चिरन्तन इतिहास के आधार पर **'परे प्राणम्'** इस मनुवचन का सुसमन्वय हो रहा है ।

(१६१)-शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिमनु (अपरे ब्रह्मशाश्वतम्)-(५)—

अब क्रमप्राप्त मनु की पञ्चमी अभिधा का भी दो शब्दों में समन्वय कर दिया जाता है । मनुतत्त्व की शाश्वत-ब्रह्मरूपता में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं हैं कि, विषयारम्भ में ही इस नाम के मौलिक इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया गया है । सर्वबलविशिष्टरसैकघन मायातीत अखण्ड परात्पर ब्रह्म ही वस्तुतः **'शाश्वतब्रह्म'** कहलाया है । यह सर्वात्मना अवधेय है कि, आत्मा के अभेदभाव के कारण यद्यपि आत्मा-परमात्मा-परमेश्वर-ईश्वर-अव्यय-ब्रह्म-अमृत-आदि शब्द अभिन्नार्थक ही बन रहे हैं । किन्तु सुसूक्ष्म तत्त्वविज्ञान के आधार पर विषयसमन्वय के लिए प्रवृत्त होने पर हमें प्रत्येक शब्द की विभिन्नार्थकता का ही आश्रयग्रहण करना पड़ेगा । तभी तत्तत् श्रौतस्मार्त्तवचनों का यथावत् समन्वय सम्भव बन सकेगा । उदाहरण के लिए **शाश्वतधर्म्म-अव्यय-अमृत-ब्रह्म-ऐकान्तिकसुख**-आदि शब्द सामान्यदृष्ट्या जहाँ अभिन्नात्मक तत्त्व के संग्राहक बने हुए है, वहाँ विज्ञानदृष्ट्या ये पाँचों शब्द विभिन्न तत्त्वों के साथ ही सम्बद्ध मानें जायँगे । मायातीत परात्परब्रह्म के **'शुद्धरसात्मक, बलविशिष्टरसात्मक'** ये दो विवर्त्त मानें गए हैं, जो क्रमशः **निर्विशेषपरात्पर, सविशेषपरात्पर** नामों से भी प्रसिद्ध हैं । निर्विशेष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर का साङ्केतिक नाम **'ऐकान्तिकसुख'** (शुद्ध आनन्द,-केवल रस-केवल आनन्द) माना जायगा, एवं सविशेष बलविशिष्टरसैकमूर्त्ति परात्पर का साङ्केतिक नाम **'शाश्वत-धर्म्म'** (**किंवा शाश्वतब्रह्म**) माना जायगा । **'अव्यय'** नाम मायामय परात्परपुरुष का साङ्केतिक नाम माना जायगा । पराप्रकृतिरूप अक्षर का साङ्केतिक नाम **'अमृत'** माना जायगा । एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर का बृंहणभाव के कारण साङ्केतिक नाम **'ब्रह्म'** माना जायगा । अध्यात्मसंस्था में इन पाँचों आत्मविवर्त्तों का समन्वय किया जायगा । साथ ही आधिदैविक पञ्चमूर्त्ति 'अहं' को इन आध्यात्मिक पाँचों अहंभावों की मूलप्रतिष्ठा कहा जायगा । बिना इस साङ्केतिक नाम-समन्वय के निम्नलिखित स्मार्त्त उपनिषत् का अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी समन्वय सम्भव न बन सकेगा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीता १४।२७।

१–ब्रह्मणः——————क्षरात्मनः——————प्रतिष्ठा——ईश्वरीयक्षरात्मा

२–अमृतस्य——————अक्षरात्मनः——————प्रतिष्ठा——ईश्वरीयाक्षरात्मा

३–अव्ययस्य——————अव्ययात्मनः—— ——प्रतिष्ठा——ईश्वरीयाव्ययात्मा

४–शाश्वतधर्म्मस्य——सविशेषपरात्परात्मनः——प्रतिष्ठा——ईश्वरीयसविशेषपरात्परात्मा

५–सुखस्यैकान्तिकस्य——निर्विशेषपरात्परात्मनः——प्रतिष्ठा——ईश्वरीयनिर्विशेषपरात्परात्मा

इति नु अध्यात्मम् **इति नु अधिदैवतम्**

(१६२)–शाश्वतब्रह्म का मौलिक स्वरूप—

रसमूर्त्ति ऐकान्तिकसुखरूप निर्विशेषपरात्पर, रसबलमूर्त्ति शाश्वत धर्म्मरूप सविशेषपरात्पर, दोनों की समष्टिरूप मायातीत परात्पर को हम **'शाश्वतब्रह्म'** (परात्परब्रह्म) कहेंगे। दूसरे शब्दों में सर्वबल-विशिष्टरसैकघन परात्पर ही शाश्वतब्रह्म अभिधा से सम्बोन्धित होगा। पुरभाव-सम्पादिका मायासीमा के द्वारा सर्वप्रथम इस शाश्वतब्रह्म का प्रथमावतार मनोमय निष्कल–वह 'अव्ययपुरुष' ही माना जायगा, जिसे सङ्केतभाषा में **'पर'** कहा गया है।* जीवसंस्था (मानवसंस्था) का 'पर' अव्यय ईश्वरीयसंस्था के 'पर' के आधार प्रतिष्ठित है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। वह ईश्वरीय पर इस जीव पर की अपेक्षा से **'परादपि परः'** रूप से **'परात्परपुरुष'** इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत हुआ है, जैसा कि–**'परात्परं–पुरुषमुपैति दिव्यम्'** इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। जीवपरपुरुष (जीवाव्यय) की प्रतिष्ठारूप ईश्वरीय मनोमय परपुरुष 'परादपि परः' रूप से जहाँ 'परात्परपुरुष' है, वहाँ मायातीत परात्परपुरुष पुरुष की प्रथमावतार दशा में केवल मायापुर से वेष्टित यह निष्कलभाव से मायातीत परात्पर से समतुलित बनता हुआ भी 'परात्पर' है। अतएव मायातीत शाश्वतब्रह्मरूप परात्परवत् इस मायामय परात्परपुरुष को भी पञ्चचितिदशा से पूर्वपूर्व निष्कलदशा में इसे भी 'शाश्वतब्रह्म' (परात्परब्रह्म) कहने देने में विशेष आपत्ति नहीं की जा सकती। अतएवच यहाँ आकर इस अभिन्नता की दृष्टि से हम ईश्वरीय–मनोमय–निष्कल अव्ययपुरुष को भी 'परात्परब्रह्म'–किंवा 'शाश्वतब्रह्म' कह सकते हैं। यही मनोमय अव्ययपुरुष अपने स्थितिगतिभावरूप यजुर्भाव से 'मनु' रूप है। अतएव इस दृष्टिकोण से अव्ययात्मक मनु को भी अवश्य ही अव्ययवत् **'शाश्वतब्रह्म'** अभिधा से व्यवहृत कर देना सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो जाता है, जिस इस तात्त्विक दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि मनु ने कहा है—**'अपरे ब्रह्मशाश्वतम्'**। इस प्रकार वेदाग्नि–सम्बन्ध से **'अग्नि,'** प्रजासर्गप्रवर्त्तकत्वेन **'प्रजापति'**,—मध्यप्राणत्वेन **'इन्द्र'**,—गतिभावत्वेन 'प्राण';—आत्माभिन्नत्वेन **'शाश्वतब्रह्म'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध 'मनु' ही मननशील–मानव का मूलाधार बना करता है। यही मानवाधारभूत मनु की तात्त्विक व्याख्या का पूर्वप्रतिज्ञात चिरन्तन इतिहास है। जिसके

* **अव्यय[1]-अक्षर[2]-क्षर[3]**–तीनों तत्त्व क्रमशः सङ्केतभाषा में **'पर'[1]–'परावर'[2]–'अवर'[3]** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जैसा कि गीताविज्ञानभाष्यादि में यत्र–तत्र अनेकधा स्पष्ट हुआ है।

आधार पर 'मानव' का चिरन्तन मौलिक इतिहास प्रतिष्ठित है। अब संक्षेप से इस मूलमनुपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि की ओर, एवं इसके आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–इन सुप्रसिद्ध तीन विवर्त्तों की ओर ही मनुप्रेमी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

(१६३) सन्दर्भसंगति—

प्रतिज्ञात 'मनु' शब्द के चिरन्तन इतिहास के सम्बन्ध में मानव के मूल पुरुषरूप 'मनु' तत्त्व का तात्त्विक स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसका सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निष्कर्ष है कि, सर्वव्यापक–रसबलमूर्त्ति–ज्ञानकर्म्ममय–अव्ययेश्वर का मनोमय हृदयस्थ भाव ही 'मनु' है, जो मनुतत्त्व यजुरग्नि के सम्बन्ध से **'अग्न'** प्रजासर्गप्रवृत्ति के कारण **'प्रजापति'**, मध्यप्रतिष्ठाभावात्मिका बलकृति सम्बन्ध से **'इन्द्र'**, सप्तचितिभाव से **'प्राण'**, एवं अव्ययात्मसम्बन्ध से **'शाश्वतब्रह्म'** इत्यादि विभिन्न नामों से व्यवहृत हुआ है। तथालक्षण यह मनुतत्त्व स्वतः प्रादुर्भूत होने के कारण **'स्वयम्भूमनु'** नाम से प्रसिद्ध है। यही स्वयम्भू-मनु मानववंश का मूलपुरुष है, जिस मूलपुरुष से अनुप्राणित सर्ग की रूपरेखा का समन्वय एवंरूपेण संग्राह्य माना जा सकता है।

(१६४) मनुमूलक 'मानव'शब्द की व्यापकता—

जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में कहा गया है कि, **'मनु से उत्पन्न प्रजा को ही 'मानव' कहा जायगा'।** जिन स्थावर–जङ्गम (अचर–चर) जड़–चेतन–भूत–भौतिक पदार्थों की मनु से (हिरण्यगर्भात्मक सौर मनु से) उत्पत्ति हुई है, वे सभी पदार्थ 'मनुप्रजा' सीमा में समाविष्ट हैं। एवं मनु से समुत्पन्न होने के कारण पदार्थमात्र को 'मानव' कहा जा सकता है, कहना चाहिये। तत्त्वदृष्टि (हृद्यमनुदृष्टि) से भी पदार्थमात्र का मानवत्त्व अनुप्रमाणित है। हृदय में प्रतिष्ठित मनःप्राणवाङ्मय हृद्य मनोमय आत्मा ही 'मनु' है। पदार्थमात्र वास्तविक दृष्ट्या इस हृद्य मनु से युक्त है। अपने अपने हृद्य मनु की मनोमयी ज्ञानशक्तिसमन्विता **कामना,** प्राणमय क्रियाशक्तिसमन्वित **तप,** एवं वाङ्मय अर्थशक्तियुक्त **श्रम,** इस व्यापारत्रयी से ही तत्तत् पदार्थों का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अतएव सभी पदार्थ समष्ट्या–व्यष्ट्या–उभयथा इस स्व–स्व–हृद्य मनु से-(जो कि प्रातिस्विक हृद्य मनु उस विश्वव्यापक विश्वकेन्द्रस्थ महामायावच्छिन्न महामनु–स्वयम्भूमनु के ही प्रवर्ग्यरूप हैं) ही समुत्पन्न हैं। अतएव च सभी पदार्थों के लिए 'मानव' अभिधा तत्त्वसम्मता प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार जबकि पदार्थमात्र ही 'मानव' अभिधा से समन्वित है, तो ऐसी स्थिति में 'मनुष्य'–'पुरुष' 'नर' (आदमी) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध मानवीसृष्टि के एक विशेष वर्ग में ही 'मानव' शब्द कैसे निरूढ़ (नियत) बन गया, इस प्रश्न का एक सहज संक्षिप्त समाधान पूर्व में किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १६३) किन्तु तत्समाधानमात्र से ही हेतुवादी तार्किक का क्योंकि सन्तोष सम्भव नहीं बनता, अतएव तत्समाधान के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के लिए मनु से सम्बन्ध रखने वाली 'सृष्टि' के तात्त्विक स्वरूप का एक विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय कर देना अनिवार्य्य बन जाता है।

(१६५) 'सृष्टि' शब्द का सामान्य अर्थ—

विसर्गार्थक 'सृज' धातु ('सृज–विसर्गे–दि० आ० अ०) से **'क्तिन्'** प्रत्यय के द्वारा 'सृष्टि' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, और इस धातु–प्रकृति–प्रत्ययमूला स्वरूपनिष्पत्ति को हम 'सृष्टि' शब्द की भावुक

व्याख्या करेंगे, जो अमुक सीमा पर्य्यन्त आदरणीय कही और मानी जा सकती है। स्रष्टा प्रजापति अपने एक अंश से (मनोमय अव्ययांश से) सृष्टि के अधिष्ठानकारण (आधार–आलम्बन*) बनते हैं, अपने एक अमुक अंश से (प्राणमय अक्षरांश से) सृष्टि के निमित्तकारण÷ बनते हैं, एवं अपने एक अमुक अंश से (वाङ्मय क्षरांश से) सृष्टि के आरम्भणकारण (उपादान कारण) बनते हैं×। क्षरदृष्टि से वही 'सृष्टि' है, अक्षरदृष्टि से वही 'सृष्टिकर्त्ता' है, एवं अव्ययदृष्टि से वही 'सृष्ट्याधार' है, न सृष्टि है, न सृष्टिकर्त्ता है। अपितु है एकमात्र साक्षी तटस्थ प्रेक्षकात्मक धरातल। प्रजापति का वाङ्मय क्षरभाग विस्रंसनधर्म्मा है, क्षरणधर्म्मा है। जिस प्रकार सरित्–इरा (रस) लक्षण सलिल (पानी) पर 'काई' आ जाती है, दुग्ध पर 'शर' (थर–मलाई–बालाई) आ जाती है, लौह से 'किट्ट' (जंग) का विनिर्गमन होता रहता है, एवमेव मनोमयी कामना से प्रेरित प्राणमय तप से वाङ्मय श्रम के द्वारा पानी–दूध–लौह–आदि स्थानीय क्षरवाक् से विकाररूप काई–शर–किट्ट–स्थानीय प्रवर्ग्यभाग का प्रतिक्षण क्षरण हुआ करता है। यही क्षरण–प्रक्रिया सृष्टिविज्ञान भाषा में 'विस्रंसन' कहलाई है। जो वाङ्मय क्षरमूलक–विशुद्धरूप (कारणरूप) से सुरक्षित रहता है, वह तो स्वयं आत्मब्रह्म का अपना भोग्य (स्वरूपसंरक्षक) बनता हुआ 'ब्रह्मौदन' कहलाया है। एवं जो भाग विस्रंसनप्रक्रिया के द्वारा विकारभाव में परिणत होता हुआ उपादानकारण बन जाता है, वह मूल आत्म-ब्रह्म की भोग्य सीमा से परित्यक्त बनता हुआ 'प्रवर्ग्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अथर्वपरिभाषा में यही प्रवर्ग्य 'उच्छिष्ट' कहलाया है, जिसके तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाली 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' मूला वह 'प्रवर्ग्यविद्या' ही द्रष्टव्या है, जिसके आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों के 'महावीरयाग–कर्म्मयाग–छिन्नशीर्षयाग' आदि प्राकृतिक प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित हैं।

(१६६) ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य—

'ब्रह्मौदन' भाग स्वरूपसंरक्षक है, 'प्रवर्ग्य' भाग सृष्टि का उपादान है। जिस आतप (ऊष्मा–प्रकाश) का सौरमण्डल के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, वही आतप–ऊष्मा सौरसंस्था की स्वरूपधर्म्मलक्षणा बनती हुई स्वरूपसंरक्षिका है, यही सूर्य्य का 'ब्रह्मौदन' भाग है, जो सदा सूर्य्य के साथ ही समन्वित रहता है। जो आतप-ऊष्मा–विस्रंसन द्वारा सौरमण्डल से पृथक् होकर वायु में प्रवेश कर जाती है, जिसके प्रवेश से वायु तप्त–सन्तप्त बन जाता है, यही प्रवर्ग्यलक्षण सूर्य्य का उच्छिष्ट भाग है, जिसके द्वारा पार्थिव जड़–चेतन का स्वरूप-

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
—कठोपनिषत् १।२।१७।

÷ यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

× य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१।१।

संरक्षण सम्भव बनता है। प्रजापति से सृष्टिनिर्म्माण के लिए प्रवर्ग्यभागरूप 'उच्छिष्ट' का ही 'दान' प्राप्त होता है। एवं इस प्रजापतिवर्जित-त्यक्त-परित्यक्त-विस्रंसन-उच्छिष्ट भाग से ही प्रजा का स्वरूपनिर्म्माण होता है, जैसा कि-'**उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः** (अथर्वसंहिता ११।७।२७) इत्यादि मन्त्र-श्रुति से प्रमाणित है।

मैथुनीसृष्टि का प्रधानरूप से क्योंकि आत्मप्रजापति के प्रवर्ग्य उच्छिष्ट भाग से ही सम्बन्ध है। अतएव विसर्गार्थक 'सृज' धातु से सम्बन्ध रखने वाले विसर्गात्मक प्रवर्ग्य भाग से सम्बद्धा पदार्थरचना को (प्रजापति से विसर्जित-प्रवृक्त-भाग से समुत्पन्न भूत-भौतिक प्रपञ्च को) ही 'सृष्टि' नाम से सम्बोधित करना अन्वर्थ बनता है। यही संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का सामान्य तत्त्वानुगत सामान्य पारिभाषिक भावों का समन्वय है, जिसे आधार बना कर ही हमें आगे चल कर सृष्टि के तत्त्वानुगत पारिभाषिक भावों का समन्वय करना है। प्रवर्ग्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले इस सामान्य दृष्टिकोण की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्डान्तर्गत '**प्रवर्ग्यविद्यस्वारूपपरिचय**' नामक अवान्तरप्रकरण ही देखना चाहिए।

(१६७) सृष्टि शब्द का विशेष अर्थ—

दो, अथवा तो अनेक साजातीय-विजातीय-तत्त्वों के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध का सामान्य पारिभाषिक नाम ही 'सृष्टि' है, जो 'सम्बन्ध सामान्य' की दृष्टि से सम्बन्धत्वेन सृष्टि के यच्चयावत् विवर्त्तों के साथ समन्वित हो रहा है। जिस तत्त्वभाव को 'सृष्टि' नहीं कहना चाहिए था, इस सामान्य सम्बन्ध की अपेक्षा से उसे भी 'सृष्टि' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। हृद्य मनुप्रजापति मनः-प्राण-वाङ्मय है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस मनुप्रजापति को आधार बनाकर ही सृष्टि के विशेष अर्थ का समन्वय अपेक्षित है। '**स वा एव आत्मा वाङ्मयः-प्राणमयः-मनोमयः**' * इत्यादि शातपथी श्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय एक ही आत्मा के '**परात्मा-परमात्मा-अवरात्मा**' ये तीन विवर्त्त सम्पन्न हो जाते हैं। मनः-प्राणवाक्-के स्वाभाविक 'त्रिवृद्भाव' के कारण इन मनः-प्राण-वाक्-तीनों कलाओं के प्रत्येक के तीन तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों विवर्त्तों की स्थिति-संस्थान में अन्तर केवल यही है कि, प्रथम संस्था में मन का प्राधान्य है। द्वितीय संस्था में प्राण का, एवं तृतीय संस्था में वाक् का प्राधान्य है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय परात्मा **मनःप्रधान है**, मनोवाग्गर्भित प्राणमय परमात्मा **प्राणप्रधान** है, एवं मनःप्राणगर्भित वाङ्मय अवरात्मा **वाक्प्रधान** है। मनःप्रधान त्रिमूर्त्ति-परात्मा **ज्ञानमय** है, प्राणप्रधान त्रिमूर्त्ति परमात्मा **क्रियामय** है, एवं वाक्प्रधान त्रिमूर्त्ति अवरात्मा **अर्थमय** है। ज्ञानमय त्रिमूर्त्ति मनःप्रधान परात्मा ज्ञानप्राधान्य से '**चिदात्मा**' है, क्रियामय त्रिमूर्त्ति प्राणप्रधान परमात्मा क्रियाप्राधान्य से '**कर्म्मात्मा**' है, एवं अर्थमक त्रिमूर्त्ति वाक्प्रधान अवरात्मा अर्थप्राधान्य से '**भूतात्मा**' है। चिदात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति मनोमय परात्मा ('**पर**' आत्मा) '**अव्ययात्मा**' है, कर्म्मात्मलक्षणत्रिमूर्त्ति प्राणमय परमात्मा ('**परम**' आत्मा') '**अक्षरात्मा**' है, एवं भूतात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति

---

* स वा एष सृष्टिसाक्षी आत्मा अर्थशक्तिमयः-तस्मात् वाङ्मयः। क्रियाशक्तिमयः-तस्मात्--प्राणमयः। ज्ञानशक्तिमयः-तस्मात् मनोमयः। अतएव चात्मा मनःप्राणवाङ्मयः सृष्टिसाक्षी मनुमूर्त्तिः प्रजापतिः, इत्यवधेयम्।

वाङ्मय अवरात्मा ('**अवर**' आत्मा) '**क्षरात्मा**' है। हृद्य मनु भी इन तीनों आत्मविवर्त्तों के साथ समन्वित होता हुआ त्रिमूर्त्ति बन रहा है। परात्मस्वरूप मनोमय मनु **अव्ययमनु** है, इसका पारिभाषिक नाम परात्पर-पुरुषाव्यय नाम से समतुलित '**शाश्वतब्रह्म**' है। परमात्मस्वरूप प्राणमय मनु '**अक्षरमनु**' है, इसका पारिभाषिक नाम प्राणमूर्त्ति अक्षरनाम से समतुलित '**प्राण**' है। अवरात्मस्वरूप वाङ्मयमनु '**क्षरमनु**' है, इसका पारिभाषिक नाम वाङ्मूर्त्ति क्षरनाम से समतुलित '**वागग्नि**' है। वागग्निलक्षण अवरात्मा (क्षरात्मा) प्राणलक्षण परमात्मा (अक्षरात्मा), मनोलक्षण परात्मा (अव्ययात्मा) से अभिन्न एवंविध इस मनुप्रजापति से, तद्रूपा आत्मकलाओं से सर्वथा स्वतन्त्र तीन सृष्टिधाराओं का विनिर्गम होता है।

मनःप्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिर्म्मनुःस्वरूपपरिलेखः—

"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्
त्रयं सदेकमयमात्मा" (शत० १४।४।४।४)

१–मनः (ज्ञानम्)–परभावः २–प्राणः (क्रिया)—परमभावः ३–वाक् (अर्थः ,—अवरभावः	–प्राणवाग्गर्भितो मनोमयः–परात्मा (अव्ययात्मा–चिदात्मा) त्रिमूर्त्तिः (मनोमयोमनुः–शाश्वतब्रह्म	-प्रजापतिः
१–प्राणः (क्रिया)–परमभावः २–मनः (ज्ञानम्)—परभावः ३–वाक् (अर्थः)—अवरभावः	–मनोवाग्गर्भितः–अवरात्मा (क्षरात्मा–कर्म्मात्मा) त्रिमूर्त्तिः (प्राणमयो मनुः–प्राणः)	
१–वाक् (अर्थः)–अवरभावः २–प्राणः (क्रिया)—परमभावः ३–मनः (ज्ञानम्)—परभावः	–प्राणमनोगर्भितो वाङ्मयः–अवरात्मा (क्षरात्मा–भूतात्मा) त्रिमूर्त्तिः (वाङ्मयो मनुः–अग्निः)	

"नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने"

प्रजापते न त्वदेतानन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

(१६८)-मनु का त्रिविधसर्ग—

परात्मलक्षण—शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति-मनोमय-ज्ञानप्रधान-अव्ययस्वरूप मनु की प्रथमासृष्टि ही-'भावसृष्टि' कहलाई है, जिसका एकमात्र 'मनुष्य' नामक प्रजासर्ग में ही पूर्ण विकास माना गया है। यही प्रथमसर्ग यत्रतत्र 'ज्ञानसर्ग'-'मानसीसृष्टि'-'मनुसृष्टि'-'ऋषिसृष्टि'-'आत्मसृष्टि'-'अव्ययसृष्टि'-आदि नामों से उपवर्णित हुई है। परमात्मलक्षण-'प्राणमूर्त्ति'-प्राणमय-क्रियाप्रधान-अक्षररूप मनु की द्वितीया सृष्टि ही 'गुणसृष्टि' कहलाई है, जिसका मनुष्येतर सम्पूर्ण उस प्रजा में विकास माना गया है, जिसे 'चेतनप्रजा' कहा गया है। यही द्वितीयसर्ग 'क्रियासर्ग'-'प्राणसृष्टि'-'अक्षरसृष्टि' आदि नामों से भी व्यवहृत हुई है। अवरात्मलक्षण 'वागग्निमूर्त्ति' वाङ्मय-अर्थप्रधान-क्षररूप मनु की तृतीया सृष्टि ही 'विकारसृष्टि' कहलाई है, जिसका सम्पूर्ण उस प्रजावर्ग के साथ सम्बन्ध माना गया हैं जो सर्ग 'जड़सर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। यही तृतीयसर्ग 'अर्थसर्ग-'वाक्सर्ग'-'क्षरसर्ग' आदि नामों से भी प्रसिद्ध हुआ है।

(१६९)-भाव-गुण-विकारसर्गत्रयी—

केवल मन-प्राणवाङ्मयात्मदृष्टि से इस सृष्टित्रयीलक्षण मनुसृष्टि का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति परात्पर (अव्ययात्मा) मनोमय है, इसकी सृष्टि 'मानसीसृष्टि' है। मानस संकल्प को ही 'भाव' कहा गया है। अतएव इस अव्ययात्ममूला मानसीसृष्टि को भावसृष्टि भी कहा जा सकता है, जिसका हृद्यमनोमय शाश्वतब्रह्मानुगत (अव्ययात्मानुगत) 'शाश्वतब्रह्म' नामक आत्ममनु से ही प्रधान सम्बन्ध है। प्राणमूर्त्ति परमात्मा (अक्षरात्मा) प्राणमय है, इसकी सृष्टि 'प्राणमयीसृष्टि' है। प्राणानुगता तन्मात्रा ही गुण-अणु-रेणु-भूत-भौतिक इन पाँच भूतभौतिक विवर्त्तों में से सर्वमूलभूत तन्मात्रलक्षण (पञ्चतन्मात्रलक्षण) 'गुणभूत' नामक 'गुण' तत्त्व है। अतएव इस अक्षरात्ममूला प्राणसृष्टि को अवश्य ही 'गुणसृष्टि' भी कहा जा सकता है, जिसका प्राणब्रह्मानुगत (अक्षरात्मानुगत) 'प्राण' नामक प्राणमनु से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। वागग्निमूर्त्ति अवरात्मा (क्षरात्मा) वाङ्मय है, इसकी सृष्टि 'वाङ्मयीसृष्टि' है। वागनुगत विकारभाव* ही (विकारात्मक अणु-रेणु-भूत-भौतिकरूप चारों विकारभाव ही) इस क्षरसृष्टि के उदर्क (परिणाम) हैं। अतएव अवश्य ही इसे 'विकारसृष्टि' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है, जिसका वागग्निब्रह्मानुगत (क्षरात्मानुगत) 'वागग्नि' नामक वाङ्मनु से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

(१७०)-चतुरशीतिलक्षयोनिलक्षण महद्ब्रह्म—

मनोमय ज्ञानात्मलक्षण अव्ययात्मा क्योंकि पुरुष है। अतएव तदनुगत भावसर्ग (मानससर्ग) को 'पुरुषसर्ग' भी कहा जा सकता है। प्राणमय क्रियात्मलक्षण अक्षरात्मा क्योंकि अव्यय पुरुष की 'पराप्रकृति' (अतरङ्गप्रकृति) है, एवं वाङ्मय अर्थलक्षण क्षरात्मा क्योंकि पुरुष की 'अपराप्रकृति' (बहिरङ्गप्रकृति) है, अतएव अक्षरात्म-क्षरात्म-निबन्धन गुण तथा विकारसर्गसमष्टि को 'प्रकृतिसर्ग' नाम से

---

* वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—उपनिषत्

व्यवहृत किया जा सकता है। 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (गीता १०।५)- "मद्भावा मानसा जाताः"❋ इत्यादि स्मार्त्त वचन जहाँ मद्भावमूलक (अस्मच्छब्दवाच्य अव्ययमूलक÷) बनते हुए पुरुषसर्गात्मक भावसर्ग का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, वहाँ "विकारांश्च गुणांश्चैताम् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्"+ इत्यादि वचन पर-अवरप्रकृतिमूलक गुणविकारसर्गों का संग्रह कर रहे हैं। 'अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज' इन चार भागों में विभक्त गुणाधारप्रतिष्ठ विकारसर्ग (मैथुनीसृष्टि) का प्रधान सम्बन्ध वागग्निमूर्त्ति क्षरात्मसमन्वित क्षरमनु के साथ बतलाया गया है। इन चार विकारभावों के कारण इस क्षरमनु-अग्निमूर्त्ति मनु- के भी अण्डजमनु-पिण्डजमनु-स्वेदजमनु-उद्भिज्जमनु, ये चार वर्ग (जातियाँ) हो जाते हैं, जिनके अवान्तर विवर्त्तों का विश्राम चतुरशीतिलक्ष (८४००००० चौरासी लाख) योनिभावों पर होता है।

(१७१)-चतुरशीतिकल तन्तुवितान—

त्रिगुणमूर्त्ति पारमेष्ठ्य महान् ही 'मम योनिर्महद्ब्रह्म०' (क) के अनुसार चिदात्मा की प्रतिष्ठात्मिका योनि बना करता है। यद्यपि इस महान् का स्वरूप समान ही है। तथापि दो कारणों से इस एक रूप भी महान् के चतुरशीतिलक्ष अवान्तर भेद हो जाते हैं। सोमभुक्पितृप्राण अपने नैसर्गिक ऋण-धनभाव के कारण (२८ धन, ५६ ऋण के कारण) चतुरशीतिभाव में परिणत रहता है। पारमेष्ठ्य महानात्मा ही अपने सोमभाव से इस चतुरशीतिकल पितृप्राण का उक्थ बनता है। इस प्रकार पितृप्राण के सम्बन्ध से भी सौम्य महान् के योनिभाव तथाकथित संख्याविवर्त्तों में परिणत हो रहे हैं। दूसरा कारण स्वयं मनु का अपना वागग्निलक्षण 'अग्निमहिमा' भाव है। अग्नितत्त्व अपने सहज ध्रुव (घन)-धर्त्र (तरल)-धरुण (विरल)

❋ महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
—गीता १०।६।

÷ कतिपय विशेष स्थलों को छोड़कर गीतोक्त अस्मच्छब्द सर्वत्र 'अव्ययात्मा' के ही वाचक माने गए हैं।

+ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
—गीता १३।१९।

(क) मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
गीता १४।३,४।

रूप अवस्थाभेदों से क्रमशः **'अग्नि–वायु–आदित्य'** इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अवस्था-त्रयभावापन्न अग्नि के त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, भेद से तीन स्तोम हो जाते हैं, जिनमें क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य, अग्नि के तीनों विवर्त्त प्रतिष्ठित मानें गए हैं। स्तोमभेद से एक ही वागग्निरूप मनु, किंवा मनुरूप वागग्नि २१ पर्य्यन्त वितत (व्याप्त) हो जाता है। इस २१ एकविंश स्तोमतन्तु सम्बन्ध से वागग्निरूप वकारिक मनु के भी २१ तन्तुवितानात्मक विवर्त्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त अण्डजादि चारों प्रजासर्गों के साथ इस २१ एकविंशतन्तुसमतुलित चतुर्विध मनु का सम्बन्ध हो रहा है। फलतः चारों के २१–२१–२१–२१, इस अनुपात से सम्भूय ८४ विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार अण्डजादि चार मनुविवर्त्तों के २१ धाविभक्त चतुर्द्धा विहितभावों से ८४ विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। महानात्मभुक्त योनिभावानुगत ऋणधनात्मक चतुरशीतिकल पितरप्राणों के सम्बन्ध से, एवं वागग्निबन्धन एकविंश स्तोमानुगत चतुर्द्धा विभक्त चतुरशीतिकल तन्तुओं के सम्बन्ध से, उभयथा इन दोनों विशेष कारणों से प्रजासर्ग चतुरशीतिकल (८४ कल) प्रमाणित हो जाता है।

(१७२) चतुर्विधमनुःस्वरूपपरिचय—

अण्डज–पिण्डजादि–भेदनिबन्धन वागग्निलक्षण वैकारिक मनु से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रजासर्ग सौरहिरण्मयमण्डलात्मक प्राणलक्षण अक्षर मनु से अनुप्राणित है। सौरमनुप्राण सौरगौसाहस्री से सहस्र महिमाभावों से समन्वित माना गया है। इस सहस्ररश्मिभावापन्न सौर हैरण्यगर्भमनुर्म्मण्डल में भुक्त–प्रतिष्ठित अण्डजपिण्डजादि भेदभिन्न पार्थिवस्तौम्यत्रिलोकी में वितत वागग्निरूप एकविंशतिधारूप से चतुर्द्धा वितत–चतुरशीतिकल वैकारिक पार्थिव मनु की प्रत्येक कला के साथ आधारभूत सौरगौसाहस्री का सम्बन्ध हो जाता है। फलतः ८४ के स्थान में ८४ सहस्र कलाविभाग हो जाते हैं। आगे चलकर **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** इस रश्मिवितानात्मक साहस्रीवितान–सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कलासाहस्री के साथ सहस्र–सहस्र भावों के अवान्तर वितान का सम्बन्ध से जाता है। एक साहस्री की शतसाहस्री बन जाती है। फलतः–८४ साहस्री के महिमात्मक साहस्रीभाव चतुरशीतिलक्ष बन जाते हैं। और यों महानात्मनिबन्धन योनिभाव चतुरशीतिकल पितृप्राणसम्बन्ध से, तथा चतुरशीतिकल मनुःप्राणसम्बन्ध से चतुरशीतिलक्षकल बन जाता जाता है, जैसा कि संग्रहात्मक परिलेखों से स्पष्ट है—

आत्मलक्षणमनुःपरिलेखः–

१—अव्ययमनुः (स्वाम्भुवमनुः—स्वायम्भुवः)—भावसर्गाधिष्ठाता—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः
२—अक्षरमनुः (हैरण्यगर्भमनुः–सौरः)—गुणसर्गाधिष्ठाता—प्राणमूर्त्तिः
३—क्षरमनुः (इरागर्भमनुः—पार्थिवः)—विकारसर्गाधिष्ठाता–वागग्निमूर्त्तिः

———×———

सर्गलक्षणमनुःपरिलेखः–

१—पुरुषसर्गः——आत्मसर्गः—स्वायम्भुवः–पूर्णसर्गः—त्र्यात्मकः—सर्गः
२—पराप्रकृतिसर्गः—चेतनसर्गः—सौरः —प्राकृतसर्गः–द्व्यात्मकः—सर्गः
३—अपराप्रकृतिसर्गः–अचेतनसर्गः—पार्थिवः —वैकारिकसर्गः-एकात्मकः—सर्गः

स्तोमानुगतत्रिदेवस्वरूपपरिलेखः-

१—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न :—अग्निर्घनावस्थापन्नः—अग्निः (६)
२—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः—अग्निर्तरलावस्थापन्नः—वायुः (१५)
३—एकविंशस्तोमावच्छिन्नः—अग्निर्विरलावस्थापन्नः—आदित्यः(२१)

वागग्निरेकविंशतिकलः—
तद्रूपो वैकारिकमनुः
एकविंशतिकलः

—*—

अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्जमनुःस्वरूपपरिलेखः-

१—अण्डजमनुः—वैकारिकमनुभावेन समन्वितः—एकविंशतिकलः (२१)
२—पिण्डजमनुः—वैकारिकमनुभावेन समन्वितः—एकविंशतिकलः (२१)
३—स्वेदजमनुः—वैकारिकमनुभावेन समन्वितः—एकविंशतिकलः (२१)
४—उद्भिज्जमनुः—वैकारिकमनुभावेन समन्वितः—एकविंशतिकलः २१)

चतुरशीतिकलः
वागग्निमनुर्वैकारिकः
(८४)
चतुरशीतिकलमितः

—*—

एकविंशतिसहस्रभावापन्नमनुःस्वरूपपरिलेखः-

१—सौरहैरण्यगर्भमनुसाहस्रीसम्बन्धेन अण्डजमनुरेकविंशतिकल :— सहस्रभावापन्नः—२१०००
२—— „ —पिण्डजमनुः—— „ —२१०००
३—— „ —स्वेदजमनुः—— „ —२१०००
४—— „ —उद्भिज्जमनुः—— „ —२१०००

८४००० मनुभावाः
चतुरशीतिसहस्रमिताः

—*—

चतुरशीतिलक्ष (८४००००) मितमनुर्भावपरिलेखः-

१—अण्डजमनुभावाः २१००० साहस्त्री—महिमसम्बन्धेन सहस्रधा विभक्ताः —२१००००
२—पिण्डजमनुभावाः २१००० —— „ ——२१००००
३—स्वेदजमनुभावाः २१००० —— „ ——२१.०००
४—उद्भिज्जमनुभावाः २१००० —— „ ——२१००००

तदित्थं ८४००००० चतुरशीतिलक्षमिताः—
वागग्निमयाः—वैकारिकमनुभावाः

—*—

मूल-तूल-वितान-महिम-मनुचतुष्टयीपरिलेखः-

(१)-एकविंशतिकलमितः———वागग्निमूलमनुः—	२१	—(आत्मा)		
(२)-चतुरशीतिकलमितः———वागग्नितूलमनुः—	८४	—(पदम्)	-"चत्वारो मनव-स्तथा"
(३)-चतुरशीतिसहस्रकलमितः——वागग्निर्वितानमनुः—	८४०००	-(पुनःपदम्)	
(४)-चतुरशीतिलक्षकलमितः——वागग्निर्महिममनुः —	८४०००००	—(महिमा)	

——*——

(१७३) विभूति-योग-बन्धात्मक सम्बन्ध—

तात्पर्य्य, 'मैथुनीसृष्टि' लक्षणा विकारसृष्टि के मूलप्रभव वागग्निमय वैकारिक-पार्थिव इरारसमयत्त्वेन हिरण्मय* नाम से ही प्रसिद्ध क्षरात्मसमन्वित मनु चतुर्द्धा विभक्त होकर ही अण्डजादि चार स्वतन्त्र विकार-सर्गों के मूलप्रवर्त्तक बन रहे हैं। सौरमण्डलभुक्त सप्तर्षिप्राण, एवं तत्समतुलित चतुर्द्धा विभक्त मनु, दोनों भावसर्गों (अव्ययात्मानुगत मानससर्गों) के आधार पर ही भूतभौतिकलक्षण-गुणाणुरेणुभूतसमन्विता मैथुनीसृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। निष्कर्षतः—**'भाव, गुण, विकार,'** इस तीन सर्गों का क्रमश, **'अव्ययपुरुष, पराप्रकृतिलक्षण अक्षर, अपराप्रकृतिलक्षण क्षर'** इन तीन आत्मभावों से क्रमिक सम्बन्ध है, जिनमें मनोमय भावसर्ग का अव्ययपुरुष से, प्राणमय गुणसर्ग का अक्षर से, वाङ्मय विकारसर्ग का क्षर से समन्वय हो रहा है। इन तीनों सर्गों को 'मनु' के सम्बन्ध से अवश्य ही 'मानवसर्ग' अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है, जिनका बलानुगत **'विभूति-योग-बन्ध'** नामक तीन बलसम्बन्धों से क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

(१७४) बलों के अष्टादश (१८) विवर्त्त—

रसबलात्मक आत्मा का रसभाग निसर्गतः असङ्गभावापन्न है। असङ्गरस के आधार पर **'वीची-तरङ्गन्याय'** से तरङ्गायित आन्दोलित उच्चावचभावेन आलोड़ित-विलोड़ित बलों का ही परस्पर सम्बन्ध धारारूप से प्रकान्त रहता है। यह बलसम्बन्ध **'त्रयी-अष्टादश-असंख्य'** भेद से तीन श्रेणिविभागों में विभक्त माना गया है। बलों के असंख्य सम्बन्धों के कारण ही विश्वपदार्थ के नाम-रूप-कर्म-भावों में असंख्यसंख्यात परस्परविरुद्ध-अविरुद्ध-वैचित्र्यों का (विभिन्नता-अभिन्नता का) उदय उपलब्ध होता है। इन असंख्य बलसम्बन्धों का एक अमुक तात्त्विक कारणविशेष के आधार पर वैज्ञानिकों नें अष्टादश

---

* सौरहिरण्मयात्मा 'विज्ञानात्मा' कहलाया है। पार्थिव इरामय आत्मा प्रज्ञानात्मा कहलाया है। विज्ञानात्मा वास्तव में हिरण्मय होने से जहाँ 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है, वहाँ पार्थिवप्रज्ञानात्मा इरामय होने से परोक्षभावमाध्यम से 'हिरण्मयपुरुष' मान लिया गया है, जैसाकि—**'यद्धि-इरामयस्तस्मात्-हिरण्मयः'** इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। अतएव सौरहिरण्यगर्भमनुवत् पार्थिव इरामयमनु को भी **'हिरण्मय-मनु'** कहा जा सकता है।

(१८) संख्याओं में पर्य्यवसान मान लिया है÷ । इन अष्टादश बलसम्बन्धों के भेद से ही रसात्मक अखण्ड एक आत्मा के सोपाधिक १८ विवर्त्त हो जाते हैं +।

"१-सन्धि, २-दहरोत्तर, ३-अन्तरान्तरीभाव, ५-अध्यूढ़, ६-अमितवृत्तिता, ७-उदार, ८-आसङ्ग, ९-अन्तर्य्याम, १०-पर्याप्तवृत्तित्व, ११-अन्वाभक्तिवृत्तित्व, १२-स्वरूप, १३-चिति, १४-संशर, १५-सम्भूति, १६-विभूति, १७-अनुभूति, १८-सामान्यवृत्तित्व," इन नामों से यत्र-तत्र निगमागमशास्त्र में उपवर्णित १८ बलसम्बन्धों का आगे जाकर वैज्ञानिकों नें तीन सूक्ष्म सम्बन्धों में ही अन्तर्भाव मान लिया है, जिन्हें पूर्व में-'**विभूति-योग-बन्ध**' इन नामों से व्यवहृत किया गया है । इस प्रकार असंख्य-अष्टादश-त्रय-भेद से बल सम्बन्धों के तीन श्रेणी विभाग बन जाते हैं ।

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे न तो सम्बन्ध ही कहा जा सकता, एवं न असम्बन्ध ही कहा जा सकता, ऐसा 'सम्बन्ध-असम्बन्धात्मक' सम्बन्ध ही '**विभूतिसन्बन्ध**' माना गया है । भावसर्गप्रवर्तक अव्ययात्मा, किंवा मनोमय अव्ययात्मरूप शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति स्वयम्भूमनु इसी सम्बन्धासम्बन्धात्मक विभूतिसम्बन्ध से विश्व में व्याप्त हो रहा है । दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखाकृति, किंवा शरीराकृति का दर्पण-पटल के साथ जो सम्बन्ध है, वही विभूतिसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है । जलपरिपूर्णपात्र के साथ सम्बद्ध सूर्य्य-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध भी विभूत्यात्मक ही माना जायगा । यह सम्बन्ध शुद्ध बहिर्य्यामात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध है, जिसका संसृष्टिलक्षण सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है । बलों का ऐसा विभूतिसम्बन्धात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध (असम्बन्धात्मक-सम्बन्ध) कभी मूर्त्तभाव का जनक नहीं बन सकता । अतएव विभूतिसम्बन्धात्मक अव्यय-सर्ग को सर्गज्ञ वैज्ञानिकों नें '**मानससर्ग**' नाम से ही घोषित किया है । मानससर्गप्रवर्त्तक, विभूतिसम्बन्धयुक्त, ज्ञानशक्तिमात्रघन, मनोमय अव्ययात्मा संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल साक्षी ही बना रहता है, जैसा कि-'**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**' इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है *। अतएव इसे '**सृष्टिसाक्षी**' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है ।

÷ पाञ्चभौतिक विश्व का स्वरूप अठारह बलसम्बन्धों से समन्वित बलतत्त्व के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । अतएव '**अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म**' (कठोपनिषत्) के अनुसार 'अवर' नामक क्षरनिबन्धन भौतिक कर्म्म अष्टादशावयव ही मान लिया गया है । इसी संख्या रहस्य के आधार पर संकेतरूप से तत्त्ववाद की ओर आर्षप्रजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए आर्षवैज्ञानिकों नें विश्वविद्याप्रतिपादक **पुराण-शास्त्र, इतिहासशास्त्र (महाभारत), स्मृतिशास्त्र-गीताशास्त्र,** आदि आर्षग्रन्थों के **१८ पुराण, १८ पर्व, १८ स्मृतियाँ, १८ अध्याय,** इत्यादि रूप से अष्टादशसंख्या को लक्ष्य बनाया है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के '**संख्यारहस्य**' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए ।

+ सोपाधिक इन १८ अठारह खण्डात्माओं का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण खण्डचतुष्टयात्मक '**श्राद्धविज्ञान**' नामक ग्रन्थ के '**आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्**' नामक प्रथम खण्ड में द्रष्टव्य है ।

* **अनादित्वात्-निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः ।**
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

(१७५)–श्लथबन्धमीमांसा—

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे 'सम्बन्ध' तो कहा जा सकता है, किन्तु जिस सम्बन्ध में ग्रन्थिबन्धनात्मक दृढ़भाव नहीं है, ऐसा शिलिथबन्धात्मक सम्बन्ध ही **'योगसम्बन्ध'** माना जायगा। गुणसर्गप्रवर्त्तक अक्षरात्मा, किंवा प्राणमयाक्षरात्मरूप प्राणमूर्त्ति सौर हिरण्यगर्भ मनु इसी शिथिलबन्धात्मक योगसम्बन्ध से सृष्टि में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में खचित कृष्ण-पीत-रक्तादि रङ्गप्रतिमाओं का दर्पणपटल के साथ जो सम्बन्ध है, वही योगसम्बन्ध का उदाहरण माना जायगा, जिसे थोड़े बलप्रयोग से जलादिमाध्यम से निःशेष किया जा सकता है। ऐसा श्लथसम्बन्ध भी संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का आरम्भक (उपादान) नहीं बन सकता। अतएव योगसम्बन्धात्मक अक्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें **'गुणसर्ग'** कहा है, जिसका अर्थ है अधामच्छद तन्मात्रसर्ग, जो मूर्त्तसर्ग का केवल निमित्त ही बना करता है। गुणसर्गप्रवर्त्तक-योगसम्बन्धसमन्वित-क्रियाशक्तिघन-प्राणमय अक्षरात्मा संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल निमित्त ही बना रहता है, जैसा कि— **'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः'** * इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अतएव इसे **'सृष्टिनिमित्त'** कहना अन्वर्थ बनता है।

(१७६)–पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी—

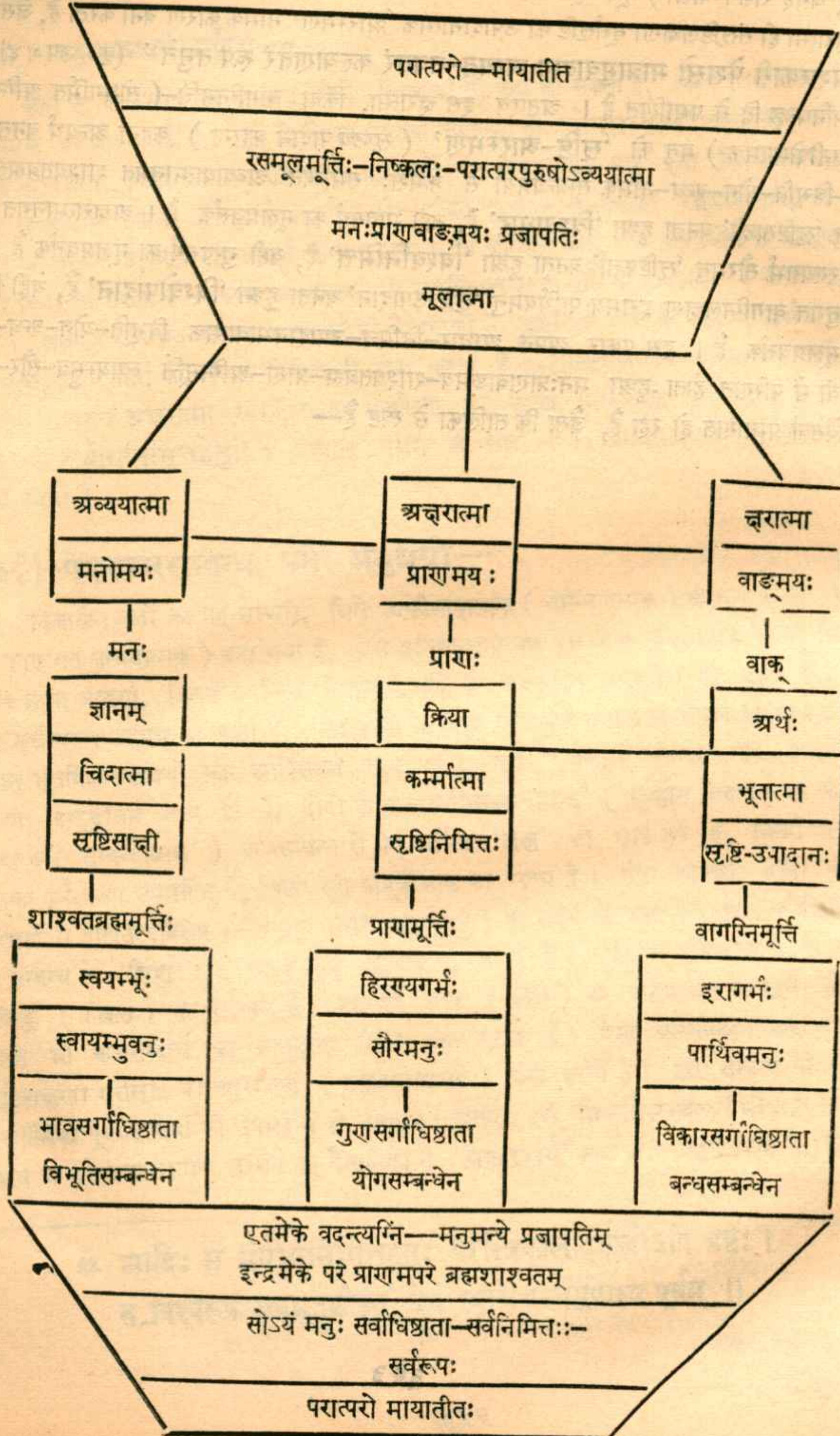
विजातीय बलों का वह सम्बन्ध, जिसे एकीभावात्मक (समन्वयात्मक) सम्बन्ध ('सम्' बन्धनात्मक–एकीभावानुगत बन्धनात्मक) कहा गया है, ऐसे ग्रन्थिबन्धनात्मक इस अन्तर्य्यामसम्बन्ध को ही **'बन्ध'** नामक सम्बन्ध माना जायगा, जिसमें समन्वित विजातीय बलों का पूर्वस्वरूप उपमर्द्दित हो जाता है। एवं अपूर्व नवीन मूर्त्तस्वरूप उद्बुद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए **'अम्भः'** नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व (जो सम्भवतः वर्त्तमान भूतविज्ञानवादियों का आक्सिजन तत्त्व हो), एवं **'पवमान'** नामक सौर आग्नेयतत्त्व (जो सम्भवतः हाइड्रोजन तत्त्व हो), दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक (वर्त्तमान विज्ञानकाण्ड के रासायनिक मिश्रण रूप सम्बन्धात्मक) बन्धसम्बन्ध से पेय पार्थिव **'जल'** की सृष्टि हुई है, जिसमें अम्भ-पवमान, दोनों का पूर्वस्वरूप उपमर्द्दित है, 'जल' रूप अपूर्व भाव का उदय है। सोरा-कोयला, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से दाह्यतत्त्वविशेष ('बारूद' नामक अपूर्वतत्त्व) का उदय हो जाता है। शुक्र-शोणित के बन्धनात्मक सम्बन्ध से 'शिशु' रूप अपूर्व भाव समुत्पन्न हो जाता है। दर्पण-(श्वेतकाच) के साथ प्रतीकदृष्टिबिन्दु (फोकस) के माध्यम से सम्बन्धित चित्र (फोटो) का दर्पणपटल के साथ जो दृढ़सम्बन्ध है, उसे भी बन्धसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसा ग्रन्थिबन्धनात्मक बन्धसम्बन्ध ही संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का आरम्भण (उपादानकारण) बना करता है। इस सम्बन्ध में सम्बन्धियों की कारणात्मिका पूर्वप्रवृत्तियों की उपमर्द्दन हो जाता है। अतएव इसे **'विकृतिसम्बन्ध'** भी मान लिया गया है। अतएव च बन्धसम्बन्धात्मक क्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें **'विकारसर्ग'** नाम से व्यवहृत किया है, जिसका अर्थ है

---

* **आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।**
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
—श्वे० उप० ६।५।

धामच्छद (जगँह रोकने वाला) मूर्त्त–भूतभौतिक सर्ग। विकारसर्गप्रवर्त्तक–बन्धसम्बन्धसमन्वित–अर्थशक्तिघन-वाङ्मय–क्षरात्मा ही संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का उपादानात्मक 'आरम्भण' नामक कारण बना करता है, जैसा कि– **"तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत्–नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते"** (बृ० उप० ४।४।४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। अतएव इस क्षरात्मा, किंवा वागग्निमूर्त्ति–(सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति, अतएव अग्नीषोमात्मक) मनु को **'सृष्टि–आरम्भण'** (सृष्ट्युपादान कारण) कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्षतः–विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धत्रयी से क्रमशः समन्वित अव्ययात्मानुगत शाश्वतब्रह्मलक्षण स्वयम्भूमनु 'सृष्टिसाक्षी' बनता हुआ **'विश्वाधार'** है, यही भावसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। अक्षरात्मानुगत प्राण-लक्षण हिरण्यगर्भ सौरमनु 'सृष्टिकर्त्ता' बनता हुआ **'विश्वनिमित्त'** है, यही गुणसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। एवं अक्षरात्मानुगत वागग्निलक्षण इरामय पार्थिवमनु **'सृष्टि-उपादान'** बनता हुआ **'विश्वोपादान'** है, यही विकार-सर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। इस प्रकार अपने आधार–निमित्त–उपादानभावात्मक विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय–शाश्वतब्रह्म–प्राण–अग्निमूर्त्ति स्वायम्भुव–सौर–पार्थिव मनु ही सर्वेसर्वा प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

मूलात्ममनुःस्वरूपपरिलेखः—



(१७७) मनुसृष्टि के सामान्य अनुबन्ध—

त्रिविध मानवसर्ग (भाव[1]–गुण[2]–विकारसर्ग[3]) से सम्बन्ध रखने वाले प्रक्रान्त विश्वस्वरूपमीमांसा-प्रकरण में सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक मन्वर्थबोधानुसारिणी नैगमिक परिभाषाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण पाठकों के सम्मुख समुपस्थित किया गया। अब संक्षेप से सृष्टि के सामान्य सर्गों से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक उन अनुबन्ध–भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त हो रहा है, जिनके कारण परस्परात्यन्त भी विरुद्ध विश्वसर्गों का सर्गत्त्वेन समसमन्वय हो रहा है। प्रत्येक नवीन कार्य्य में, किंवा नूतन सर्ग में **'कामना–तप–श्रम'** इन तीन सामान्य भावों का सम्बन्ध रहता है, जो क्रमशः पूर्वप्रतिपादित **'विभूति–योग–बन्ध'** सम्बन्धों से समतुलित है। विभूतिसम्बन्धात्मिका कामना, योगसम्बन्धात्मक तप, एवं बन्ध सम्बन्धात्मक श्रम, तीनों भाव प्रत्येक सर्ग में अनिवार्य्यरूपेण क्योंकि समन्वित रहते हैं, अतएव इन तीनों को हम अवश्य ही **'सृष्टिसामान्यानुबन्ध'** कह सकते हैं। बिना कामना के किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति शक्य नहीं है। अतएव इस कामनानुबन्ध को सर्वप्रथम, तथा मुख्य अनुबन्ध माना जायगा, जिसका कि–**'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** इत्यादिरूप से पूर्व में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है*।

"हम अमुक कार्य्य करना चाहते हैं" इस कामना का उक्थभावापन्न कामसमुद्र÷ मन से सम्बन्ध है। मन ही कामना का उक्थ (मूलप्रभव) माना गया है। कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही दूसरे योग-सम्बन्धात्मक 'तप' नामक अनुबन्ध का उदय हो पड़ता है, जो उक्थमन से प्राणद्वारा विनिर्गत बनता हुआ 'अर्क' नाम से प्रसिद्ध है। इच्छोदय के अनन्तर इच्छा को कार्य्यरूप (मूर्त्तरूप) में परिणत कर देनेवाला जो आभ्यन्तर सूक्ष्म व्यापार है, वही विज्ञानभाषा में 'तप' कहलाया है, जो शारीरिक आग्नेय आङ्गिरस प्राण,तथा-सौम्य भार्गवप्राण से अनुप्राणित रहता हुआ–**'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** इस श्रौत परिभाषा को चरितार्थ बना रहा है। **'प्राणदान'** रूप प्राणविसर्ग ही तप का स्वरूपलक्षण है। अपनी इच्छा के द्वारा मानव किसी बाह्यपरिग्रह–सम्पत्–भूत भाग का ही तो आदान करना चाहता है। **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** सिद्धान्तानुसार मानव सर्वतोभावेन प्रकृत्या भी परिपूर्ण है, एवं पूर्णपुरुषात्मक मनोमय स्वायम्भुमनु के भावसर्ग से समतुलित रहता हुआ भी परिपूर्ण है। अतएव तदवधिपर्य्यन्त मानव में अन्य बाह्य भौतिक सम्पत्तिपरिग्रह-संस्कार का अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठापन सम्भव नहीं है, यदवधिपर्य्यन्त यह अपने परिपूर्ण प्राकृत आध्यात्मिक भार्गवाङ्गिरसप्राण को संघर्षद्वारा भविष्य में समागत होने वाली संस्काररूपा बाह्यसम्पत्परिग्रह के प्रतिष्ठापन के लिए रिक्त नहीं बना लेता। इस रिक्तता–सम्पादन के लिए होने वाला प्राणसंघर्षात्मक

---

* **अकामस्य क्रिया काचित्–दृश्यते नेह कर्हिचित्।**
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥
—मनुः २।४।

÷ **कामं समुद्रमाविशेत्याह। समुद्र इव हि कामः।**
नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति, न समुद्रस्य।
—तै० ब्रा० २।२।५।५।६।

आभ्यन्तर व्यापार ही 'तप' है, जिसका मौलिक अर्थ है-'**स्वप्राणदान**'। इसी आधार पर श्रुति का-'**त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः**' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने तप का लक्षण किया है—

"**एतद्वै तप इत्याहुः--यत् स्वं ददाति**" (तै० ब्राह्मण)।

(१७८) तप और क्रतुमीमांसा—

त्यागपूर्वक ही आदान सम्भव है, संघर्ष ही त्याग का मूलप्रभव माना गया है, त्याग ही संग्रह की प्रतिष्ठा बना करता है। यह सर्वात्मना सुनिश्चित है कि, जो मानव प्राणसंघर्षद्वारा प्राणत्यागपूर्वक परिपूर्ण प्राकृतिक-संघर्षपूर्वक बाह्यसम्पत् का अर्जन करता है, उस मानव की सम्पत् में ही स्थायित्व धर्म्म समाविष्ट रहा करता है। ठीक इसके विपरीत जो सालस मानवाभास अपने आपको सर्वात्मना संघर्ष से बचाने के लिए प्रयत्नशील बना रहता हुआ धूर्त्तता-छल-व्याजभावों के माध्यम से अनायासेन सम्पत्ति की लालसा लिप्सा-एषणा-में प्रवृत्त रहता है, सर्वप्रथम तो वह वास्तविक सम्पत्-संग्रह में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता। यदि घुणाक्षरन्यायेन इसकी यह लिप्सा अंशतः सफल हो भी जाती है, तो भी ऐसी संघर्षशून्या सम्पत् के उपभोग में यह मानव रसानुभूतिलक्षणा तृप्ति-शान्ति तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-समृद्धिभावों का संस्पर्श भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्राणदानरूपा तपस्या के द्वारा प्राप्त सम्पत् में ही स्थिरता है, तृप्त्यनुभूति है। अतएव लोक में -'**यह हमारे पसीने की गाढ़ी (स्थिर) कमाई है**' यह आभाणक प्रसिद्ध है। वक्तव्य यही है कि, इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही शारीरिक प्राण में एक प्रकार का संघर्ष हो पड़ता है, भीतर '**हलचल**' सी मच जाती है। यही अन्तर्व्यापार है, जिसे विज्ञानभाषा में '**तप**', याज्ञिकपरिभाषा में '**क्रतु**', व्यवहारभाषा (संस्कृतभाषा) में '**कृति-यत्न-चेष्टा**', एवं यावनीभाषा में '**कोशिश**' आदि विविध अभिधाओं से व्यवहृत हुआ है।

(१७९) श्रम, और कृत-मीमांसा—

तपोलक्षण प्राणव्यापार के अनन्तर ही बाह्य शरीरव्यापार हो पड़ता है। यही स्थूल व्यापार है, भूत-व्यापार है, जिसे 'वाग्व्यापार' भी कहा जा सकता है। विज्ञानभाषा में यही '**श्रम**' नाम से प्रसिद्ध है, यज्ञभाषा में यही '**दक्ष**' नाम से प्रसिद्ध है, संस्कृतभाषा में यही '**कर्म्म-अध्यवसाय-**' आदि नामों से प्रसिद्ध है। **मानसिक श्रम ही इच्छा है, प्राणात्मक श्रम ही तप है, एवं वाङ्मय शारीरिक श्रम ही श्रम है,** यही निष्कर्ष है। मानव ने इच्छा की कि, अपने नैसर्गिक ब्राह्मणवर्ण के अनुरूप उत्तररात्रि में ईशचिन्तनपूर्वक निगमस्वाध्यायनिष्ठा आरम्भ की जाय, इस इच्छा से इस नैगमिक मानव के प्राण उद्दीप्त हो पड़े, नित्यकर्म्म से निवृत्त हो '**तस्यां जागर्त्ति संयमी**' को अन्वर्थ बनाता हुआ यह स्वाध्यायचेष्टा में प्रवृत्त हो पड़ा, तात्पर्य्य शरीर में प्राणसञ्चार हो पड़ा। अनन्तर स्वाध्यायनिष्ठा में प्रवृत्त हो गया, तात्पर्य्य शरीरयष्टि-तदनुबन्धी इन्द्रिय-वर्ग-मन-बुद्धि-वाग्व्यवहाररूप स्वाध्याय कर्म्म में समाविष्ट हो पड़े। मूलप्रेरणा ही इच्छा कहलाई, प्राणप्रेरणा ही तप कहलाया, एवं शरीरव्यापार ही श्रम कहलाया। इस प्रकार **इच्छा-क्रतु-कर्म्म** नामक-**काम तप-श्रम**, इन तीन व्यापारों के समसमन्वय से ही मानव के इस कर्म्मविभूतिलक्षण '**कृत**' का स्वरूप-निर्म्माण सम्भव बन सका, जैसा कि वैज्ञानिकोंनें कहा है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्यं 'क्रतु' र्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म, यदेतत् "कृत" मुच्यते ।

(१८०) ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्—

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में **कारणशरीर-सूक्ष्मशरीर-स्थूलशरीर**, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं । इस दृष्टिकोण के साथ भी उक्त अनुबन्धत्रयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है । मनोमयी काम-भावात्मिका आत्मकला कारणशरीर है, जिसका मनोमय अव्ययात्मा (परात्मा) से सम्बन्ध है । प्राणमयी तपोभावात्मिका आत्मकला सूक्ष्मशरीर है, जिसका प्राणमय अक्षरात्मा (परमात्मा) से सम्बन्ध है । एवं वाङ्-मयी श्रमभावात्मिका आत्मकला स्थूलशरीर है, जिसका वाङ्मय क्षरात्मा (अवरात्मा) से सम्बन्ध है । सुसूक्ष्म मन, सूक्ष्म प्राण, आत्मा की ये दोनों आभ्यन्तर कलाएँ अपने स्वाभाविक अव्यय-अक्षर-धर्म्मों से निर्विकार हैं-अविकुर्वाण हैं । अतएव इन दो कलाओं की समदृष्टि को तो **'आत्मा'** मान लिया जाता है, एवं तीसरी स्थूलभावापन्ना वाक्कला को क्षरधर्म्मानुगत विकारभाव के अनुबन्ध से **'विश्व'** मान लिया गया है । इस प्रकार त्रिकल-त्रिभावापन्न एक ही आत्मा-वही आत्मा-मनः प्राणरूप से आत्मा, तथा वाग्रूप से 'विश्व', इन दो भावों में परिणत होता हुआ **'आत्मन्वी'-प्रजापति'** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जिस प्रसिद्धि के आधार बने हुए हैं-**'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'-'आत्मैवेदं सर्वम्'** इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त ।

(१८१) यत्सप्तान्नानि—

मनःप्राणमय आभ्यन्तर आत्मा से बलचिति के द्वारा सर्वप्रथम 'वाक्' रूप क्षरभाव का ही विकास होता है । यह वाक् ही पहिला 'आकाशभूत' है । बलचितिलक्षणा बलग्रन्थि की क्रमिक वृद्धि-विकास से यह वागाकाश ही क्रमशः वायु-अग्नि-आपः-पृथिवी (मृत्)-इन चार सर्गों का जनक बनता है । इस प्रकार आत्मा (मनःप्राण) से समुद्भूत क्षरवाक् ही आकाशादि पञ्चभूतों में परिणत होती हुई विश्वस्वरूपसमर्पिका बन रही है । अतएव-**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'-'अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि रूप से पाञ्च-भौतिक विश्व को वाङ्मय कहना अन्वर्थ बन रहा है । तैत्तिरीय उपनिषत् ने भी इसी क्रम से आत्मसर्ग का स्वरूप-विश्लेषण किया है, जैसा कि-**"तस्माद्वा एतस्मादात्मन-आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"** (तै० उप० २।१।) । निष्कर्ष यही है कि, मनःप्राणवाक् इन तीन आत्मकलाओं की तीसरी वाक्कला के पाञ्चविध्य से क्रमशः **"१-मन, २-प्राण, ३-वाक् (आकाश), ४-वायु, ५-अग्नि, ६-आपः, ७-मृत्"** ये सात कलाएँ हो जाती हैं, जिनके आधार पर **'यत्सप्तान्नानि तपसाऽजनयत् पिता'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्थानुगत सप्तविध अन्न-विवर्त्तों की व्यवस्था हुई है ।

(१८२)—अन्नानुगत स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य—

मानसकला का अन्न **'ज्ञान'**[१] है प्राणकला का अन्न **'कर्म्म'**[२] है, वाग्रूपा आकाशकला का अन्न **'शब्द'**[३] है, वायुकला का अन्न **'श्वासप्रश्वास'**[४] है, अग्निकला का अन्न **'पञ्चज्योति'**[५] (प्रकाश) है । आपःकला का अन्न **'मर'**[६] नामक पेय जल है, एवं 'मृत्'कला का अन्न 'यव-गोधूमादि ओषधिलक्षण,

तथा आम्रादि वनस्पतिलक्षण 'अन्न' है, जिसका स्थूलरूप से गलाधःकरणानुकूल व्यापार द्वारा निगरण किया जाता है। जिस परमात्मशक्ति–जगन्माता जगदम्बा–महामाया–के द्वारा प्राकृतिक विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए इन सप्तविध अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, एवं जिस माहामाया के निःसीम अनुग्रह से पाँच अन्न मानव को बिना कुछ प्रयास किए प्रकृत्या सहजरूप से उपलब्ध हैं, उस माहामाया के द्वारा षष्ठ–सप्तम अन्नों की भी व्यवस्था उसी प्राकृतरूप से सम्भव थी। निश्चित था कि, मानव को यत्रतत्र सर्वत्र सुविधा-कामना-के अनुसार बने-बनाए लेह्य-भोज्य–पदार्थ उपलब्ध हो जाते, एवं श्वासप्रश्वासादि की भाँति जल भी बिना प्रयास के ही गलाधःकरणानुकूलव्यापारमाध्यमद्वारा पिपासाशान्ति का कारण बनता रहता। इस प्रकार मानव अपनी सप्तविध अन्नव्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वात्मना सुनिश्चिन्त बन जाता। परिणाम, किंवा दुष्परिणाम होता उस दशा में मानव का यही कि, अन्नव्यवस्था की ओर से निश्चिन्त बना हुआ मानव सर्वात्मना अकर्म्मण्य बना रह जाता। येन-केन प्रकारेण मानव कर्म्मठ बना रहे, जिससे इसकी जीवनीय शक्तियाँ सुविकसित बनी रहें, जीवनविकासमूलक सहज संघर्ष से यह सर्वात्मना विमुख न बन जाय, एकमात्र इसी लक्ष्य से परमात्मशक्ति के द्वारा सात अन्नों में से छठे सातवें जलान्न–मृदन्न, इन अन्त के दो अन्नों के सम्बन्ध में पारतन्त्र्य विहित हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के उत्तर-खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है।

(१८३) अनुकूलतावादी सर्वशून्यमानव—

मनोभाव मानव की अध्यात्मसंस्था का 'कारणशरीर[1]' है, यही दार्शनिक जगत् की 'प्रज्ञामात्रा[1]' का अधिष्ठान है। प्राणभाव 'सूक्ष्मशरीर[2]' है, यही 'प्राणमात्रा[2]' का आधार है। एवं पञ्चभूतात्मक वाग्भाव 'स्थूलशरीर[3]' है, यही 'भूतमात्रा[3]' का आलम्बन है। कर्म्ममात्र की, सम्पूर्ण कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि के लिए इन तीनों मात्राओं का यथानुरूप व्यवस्थापूर्वक समन्वय अपेक्षित है। कारणशरीर-लक्षण मनोभावात्मक प्रज्ञाभाव का व्यापार ही इच्छा है, सूक्ष्मशरीरलक्षण प्राणभावात्मक प्राणभाव का व्यापार ही तप है, एवं स्थूलशरीरलक्षण वाग्भावात्मक भूतभाव का व्यापार ही श्रम है। इच्छा–तप–श्रम, तीनों का अनुरूप समन्वय ही कार्य्यसिद्धि का निश्चित राजपथ है, जिसे सर्वात्मना विस्मृत कर अनुकुलतावादी–संघर्षशून्य–प्राणव्यापारलक्षण तपोयोगवञ्चित स्थूलशरीरमात्रपरायण वर्त्तमानयुग के मानव ने सब कुछ विस्मृत कर दिया है।

(१८४) प्रणववाचकतामीमांसा—

एक प्रासङ्गिक विश्लेषण और। पूर्व में हमनें 'कामना-इच्छा' दोनों शब्दों को पर्य्यायदृष्टि से उद्धृत किया है। परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं। दोनों शब्द ईश्वरीय कर्म्म, जैवकर्म्म, भेद से सर्वथा विभक्त हैं। ईश्वर की इच्छा 'कामना' ही कहलाई है, एवं जीव की कामना 'इच्छा' ही कहलाई है। इस विभेद का मौलिक रहस्य यद्यपि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि सन्दर्भसङ्गतिदृष्टया यहाँ भी सिंहाव-लोकन समुचित होगा। परब्रह्मविवर्त्त में मनोमय अव्ययात्मा अपने असङ्गभाव से निर्लिप्त है, साक्षीमात्र है, उसी प्रकार जैसेकि शब्दब्रह्म विवर्त्त में 'अ'कार असङ्ग है। आप यह अनुभव करेंगे कि, अकार के उच्चारण में कण्ठ तात्वादिस्थान मिलने नहीं पाते। अपितु अकार असङ्गरूप से ही उच्चरित है। तात्पर्य,

परब्रह्मविवर्त्त में जैसा स्वरूप 'मनोमय-अव्ययात्मा' का है, शब्दब्रह्मविवर्त्त में ठीक वैसा ही स्वरूप 'अ'कार का है। अतएव वैज्ञानिकोंनें संकेतविधा के आधार पर 'अ' कार को 'मन' का वाचक मान लिया है। प्राणमय अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण घोषित किया गया है। असङ्ग अव्ययात्मा, ससङ्ग क्षरात्मा, इन दोनों के मध्य में सुप्रतिष्ठित अक्षरात्मा असङ्ग-ससङ्ग दोनों धर्म्मों से समन्वित रहता है। अव्ययापेक्षया यह अक्षर स्थूलवत् है-ससङ्गवत् है, तो क्षरापेक्षया यही सूक्ष्मवत् है-असङ्गवत् है। अतएव न यह विशुद्ध असङ्ग ही है, न विशुद्ध ससङ्ग ही है। अपितु उभयधर्म्माक्रान्त है। ठीक ऐसा ही स्वरूप शब्दब्रह्मविवर्त्त में 'उ' कार का है। 'उ' कारोच्चाकरणकाल में ओष्ठपुट संकुचित हो जाते हैं। यही इसका ससङ्ग-स्थूलभाव है। ओष्ठपुट सर्वात्मना संस्पृष्ट नहीं बन पाते। यही इस उकार का असङ्ग-सूक्ष्मभाव है। इसी दृष्टि से प्राणमय अक्षर, एवं उकार, दोनों, को समतुलित माना जा सकता है। इस आधारपर 'उ' कार को प्राणमय अक्षर का वाचक मान लिया गया है। वाङ्मय क्षरात्मा को ही सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। सर्वान्त में प्रतिष्ठित विकारसर्जक यह सर्वथा ससङ्ग-स्थूल-संसृष्ट संस्पृष्ट है। शब्ददृष्टि में यही स्वरूप 'म'कार का है। मकारोच्चारणकाल में दोनों ओष्ठपुट उसी प्रकार संस्पृष्ट हो जाते हैं (मिल जाते हैं), जैसे बलों का चितिभाव सर्वात्मना संसृष्ट-संस्पृष्ट हो जाया करता है। इसी समनुलनात्मक सादृश्य के आधार पर 'म' कार को वाङ्मय क्षर का वाचक मान लिया गया है।

यद्यपि मकारवत् 'प-फ-ब-भ' इन चारों वर्णों के उच्चारण में भी ओष्ठपटद्वय संस्पृष्ट हो जाते हैं। तथापि इन चारों वर्णों में नासिक्यभाव नहीं है, अतएव इन्हें पूर्ण संस्पृष्ट, पूर्ण ससङ्ग नहीं माना जा सकता, जैसाकि **'पथ्यास्वस्तिविज्ञान'** नामक **'वैदिकवर्णमातृकाविज्ञान'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित है। इधर 'म'कार में नासिक्यभाव का भी समावेश हो रहा है। अतएव **'कादयो मावसानाः स्पर्शाः'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार ककार से आरम्भ कर मकारपर्य्यन्त व्याप्त स्पृष्टवर्णों में मकार अन्तिम एवं पूर्ण ससङ्ग-संस्पृष्टभावात्मक प्रमाणित हो रहा है। अतएव वैज्ञानिकोंनें अन्य किसी स्पृष्टवर्ण को क्षर का वाचक न मान कर मकार को ही क्षरत्वेन संग्राह्य माना है।

अकार-उकार-मकार, इन तीन शब्दब्रह्ममात्राओं से क्रमशः समतुलित अव्यय-अक्षर-क्षर, तीनों आत्मकलाएँ स्वतन्त्र तीन खण्ड (खण्डात्मा) हैं। ये तीनों खण्डात्मा, उस तुरीय अर्द्धमात्रिक, तत्त्वतः, अमात्रिक परात्परब्रह्म के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, जिसे शब्दब्रह्मवेत्ता **'अखण्ड स्फोट'** नाम से व्यवहृत किया करते हैं। यही सुप्रसिद्ध प्रणवविद्या की अनुच्चार्य्या नित्या वह अर्द्धमात्रा है, जिसकी सत्सम्प्रदाय में रहस्यपूर्णा उपासनापद्धति आम्नायसिद्धा बन रही है *। अर्द्धमात्रिक रूप अमात्रिक अखण्ड स्फोट अखण्ड परात्पर से, अकार मनोमय अव्ययात्मा से, उकार प्राणमय अक्षरात्मा से, एवं मकार वाङ्मय क्षरात्मा से समतुलित है। **'अर्द्धमात्रा[१]-अ[२]-उ[३]-म्[४]'** यही प्रणवोङ्कार का स्वरूपलक्षण है, जो उक्त समतुलन के आधार पर **'परात्पर[१]-अव्यय[२]-अक्षर क्षर'** रूप आत्मभाव का वाचक माना गया है। **"तस्य वाचकः प्रणवः"**,-

---

*** अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः।**
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवी जननी परा॥ (रहस्यशास्त्र-सप्तशती)

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'-'तस्योपनिषदोमिति'' इत्यादिवचन शब्दब्रह्म-परब्रह्म की इसी अभिन्नता को प्रमाणित कर रहे हैं ।

(१८५)-आप्तकामस्वरूपपरिचय—

तथोपवर्णित प्रणवस्वरूप से यह स्पष्ट है कि, मनोमय अव्ययात्मा का साङ्केतिक नाम **'अ'** कार है । **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (व्याससूत्र) **''रसो ह्येव सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति''** इत्यादि सिद्धान्तानुसार आनन्द ही इस अव्ययात्मा का स्वरूपलक्षणात्मक प्रातिस्विक स्वरूप है । भौतिक आवरण आनन्दस्रोत का प्रतिबन्धक माना गया है उस दशा में, जब कि इस आवरणरूप भौतिक संस्कार के साथ आत्मा मनोद्वार से आसक्त-व्यासक्त बन जाया करता है । यद्यपि ईश्वरात्मा अपनी सहज इच्छा से क्षर द्वारा सबकुछ बनता है, **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** न्याय से सब में प्रविष्ट रहता है । तथापि यह तत्र-**'न सज्जते, न व्यथते'** । क्यों ?, इसलिए कि इसकी यह इच्छा-आकांक्षा उत्थितभावापन्ना है, सहज है, प्रकृतिसिद्ध है । सहजेच्छारूपा उत्थिताकांक्षा से आगत-समागत भूतसंस्कार कदापि आनन्दस्रोत के प्रतिबन्धक नहीं बन सकते । अव्ययेश्वरप्रजापति अपनी इस सहज इच्छा के द्वारा ही अपने स्वाभाविक उस 'आनन्द' से सदा समन्वित रहते हैं, जो आनन्दभाव सङ्केतपरिभाषा में **'कम्'** नाम से प्रसिद्ध है । इसी आधार पर लोकभाषा में 'कम्' को सुख का पर्य्याय मान लिया गया है । अव्ययात्मा सदा सम्पूर्ण अवस्थाओं में आसमन्तात् (सब ओर से) 'कम्' (आनन्द) में ओतप्रोत रहता है । इसी आधार पर वैज्ञानिकोंनें सृष्टिमूलभूता अव्ययात्मनिबन्धना मनोमयी ईश्वरेच्छा को **'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** इत्यादि प्रप में **'कामः' (कामना)** नाम से व्यवहृत किया है । 'कम्' आनन्दभाव है । इस 'कम्' के मध्य में भी 'अ' कार (अव्ययात्मा) प्रतिष्ठित है । अन्त में भी 'अ' कार समन्वित है । फलतः **'क-अ-म्-अ'** यह स्थिति हो जाती है, जिससे **'कामः'** रूप निष्पन्न हुआ है । कामलक्षणा अव्ययेश्वरेच्छा विश्व के अणु अणु में व्याप्त रहती हुई भी अबन्धना है । ऐसी कामरूपा कामना केवल आत्मकामना है, आप्तकामना है , परिपूर्णकामना है ।

(१८६)-विषयेच्छास्वरूपपरिचय—

जीवात्मा (केवल मानवात्मा) ईश्वरात्मा का परिपूर्ण उदक्त स्वरूप है । किन्तु उत्थाप्याकांक्षा-लक्षणा कामना से भूतभौतिक परिग्रह इसके स्वाभाविक आत्मविकास को योगमाया के माध्यम से आवृत-समावृत कर लेते हैं * । आसक्तिबन्धनप्रधाना इस कामना से भोग्य पदार्थों में (जिन्हें हम 'अन्न' कह सकते हैं) जीवात्मा (मानवीय मन) आसक्त-व्यासक्त होता हुआ उसी प्रकार अपना सहज ईश्वरीय विकास आवृत करता हुआ सुप्तवत् बन जाता है, जैसे कि एक कीट (चींटा-कीड़ा) गुड़शर्करादि में तल्लीन होकर उनसे संस्पृष्ट होता हुआ (ग्रन्थिबन्धनपूर्वक चिपकता हुआ) अपना सहज गतिभाव खो बैठता है । एकमात्र 'प्रज्ञापराध' नामक अपने ही दोष से मानव ईश्वरीय कामना को अन्नासक्त (विषयासक्त) बनाता हुआ,

---

* **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।**
—गीता

तत्र सुप्त होता हुआ पाशबन्धन से आबद्ध बन जाता है। सांसारिक वैभव कदापि दुःख–अशान्ति–उद्वेग–के कारण नहीं हैं। यही नहीं, अपितु विश्वम्भर के सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वस्वरूप के संरक्षण से सम्बद्ध लोकस्वरूपसंरक्षणात्मक लोकसंग्रह के महान् उत्तरदायित्व की दृष्टि से यच्चयावत् लोकवैभव–सम्पूर्ण भूत-भौतिक परिग्रह मानव के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। संशोधन अपेक्षित है केवल कामनामात्र में। सहजकामनात्मक 'काम' पूर्वक संग्रहीत लोकवैभव जहाँ ईश्वरवत् मानव की परिपूर्णता के संरक्षक विकासक बनते हुए आनन्दभाव के ही अनुगामी बने रहते हैं, वहाँ कृत्रिमकामनात्मिका 'इच्छा' पूर्वक संग्रहीत वे ही लोकवैभव मानव की परिपूर्णता के विघातक बनते हुए आत्मनन्दस्वरूप के सहज विकास के प्रतिबन्धक ही बन जाते हैं। भूतभौतिक भोग्य परिग्रह ही 'अन्न' है। यही वैदिक परिभाषा में '**इट्**' कहलाया है। अपना सहज आत्मस्वातन्त्र्य विस्मृत कर इस 'इट' (अन्नात्मक भौतिक विषय, किंवा भौतिक विषयात्मक अन्न) में सुप्त हो जाने वाला मानवीय प्रज्ञानमन ही '**इट्-अन्नं-तत्र शेते**' निर्वचन से '**इच्छा**' कहलाया है। और यही कामना, तथा इच्छा के स्वरूपों में महान् विभेद है। प्रसङ्ग क्योंकि ईश्वरानुगता मनुसृष्टि का प्रकान्त है। अतएव ईश्वरीय मनुसृष्टिमीमांसा में 'कामना' को आधार मान कर ही भूतभौतिकसृष्टि की मीमांसा प्रक्रान्त रखना अनुरूप माना जायगा। कामः–तपः–श्रमात्मक ईश्वरीय सामान्य सृष्टि–अनुबन्धों स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। अत्र मानवीय (मनुसम्बन्धी) भूतभौतिक सर्ग की रूपरेखा का अनुगमन प्रक्रान्त बन रहा है।

विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वकर्त्ता-विश्व-स्वरूपपरिलेखः—

१–विश्वातीतः (अनिरुक्तात्मा)—परात्परः—अर्द्धमात्रा	(नेतिनेतीत्युपनिषत्)	}	'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' "तस्योपनिषदोमिति"
२–विश्वसाक्षी (प्रविविक्तात्मा)—अव्ययात्मा—अकारः	(असङ्गः)		
३–विश्वकर्त्ता (प्रतिष्ठात्मा)—अक्षरात्मा—उकारः	(ससङ्गासङ्गः)		
४–विश्वम् (सृष्टात्मा)—क्षरात्मा—मकार-	(ससङ्गः)		

त्रिदण्डस्वरूपपरिलेखः—

—**—

परात्परः—अर्द्धमात्रा–अखण्डः

१–अव्ययात्माभिन्नः—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः—मनुर्मनोमयः—	कामनायुक्तः (कामः)	—सृष्टिसामान्यानुबन्धत्रयी
२–अक्षरात्माभिन्नः—प्राणमूर्त्तिः—मनुः प्राणमयः—	तपोयुक्तः (तपः)	
३–क्षरात्माभिन्नः—वागग्निमूर्त्तिः—मनुः वाङ्मयः—	श्रमयुक्तः (श्रमः)	

१–मनः—(ज्ञानं–अन्नम्)——{ मनः (१)——{ कारणशरीरम् (आत्मा)
२–प्राणः—(कर्म्म–अन्नम्)——{ प्राणः (२)——{ सूक्ष्मशरीरम् (सत्त्वम्)
३–आकाशः–(शब्दभावोऽन्नम्)
४–वायुः——(श्वासप्रश्वासान्नम्)
५–अग्निः——(पञ्चज्योतिरन्नम्) } वाक् (३) { स्थूलशरीरम् (शरीरञ्च)
६–आपः——('मर' जलान्नम्)
७ पृथिवी——(ओषधिवनस्पत्यन्नम्)

—{ त्रयमेतत्–
–त्रिदण्डवत्–

——❋❋——

(१८७) स्वायम्भुवमनु-हिरण्यगर्भमनु-गर्भित इरामय पार्थिव मनु—

अव्ययात्मानुग्रहीत–अनुग्रहीत, अतएव शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति, मनोमय स्वयम्भूमनु नामक मनुप्रजापति के मनोभाग से सर्वप्रथम '**कामना**' का उदय हुआ–'**सोऽकामयत**' । अक्षरात्मानुग्रहीत–अनुग्रहीत, अतएव प्राणेन्द्रमूर्त्ति प्राणमय हिरण्यगर्भमनु नामक मनुप्रजापति के प्राणभाग से कामना के अनन्तर '**तप**' का उदय हुआ–'**स तपोऽतप्यत**' । क्षरात्मानुग्रहीत–अनुग्रहीत, अतएव वागग्निमूर्त्ति, वाङ्मय 'इरामयमनु' नामक मनुप्रजापति से तप के अनन्तर 'श्रम' का उदय हुआ– '**सोऽश्राम्यत्**' । कामयमान, तदनुरूप ही तप्यमान, एवं तदनुरूप ही श्रान्त मनुप्रजापति के कामतपःश्रमरूप सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों से कथ भूत-भौतिकसर्ग प्रवृत्त हुआ ?, प्रश्न के समाधान की रूपरेखा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

—❋❋—

कामना स्वयम्भूमनु की, तप (अन्तर्व्यापार) हिरण्यगर्भमनु का, एवं श्रम (बाह्यव्यापार) इरामयमनु का, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, जबतक एक ही सृष्टिकर्त्ता के कामः–तपः–श्रमभावों का एकत्र समन्वय नहीं हो जाता, तबतक सर्गप्रवृत्ति असम्भव है । इच्छा किसी ओर की, परिश्रम (तप) किसी अन्य का, एवं श्रम किसी तीसरे का ही, इन अन्यान्यक्षेत्रानुबन्धी अनुबन्धों से सर्गप्रवृत्ति कैसे सम्भव बनी ? । प्रश्न का समाधान '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' के रहस्यार्थ पर ही अवलम्बित है । अव्ययात्मस्वरूप स्वायम्भुव मनु से अक्षर का विकास हुआ, तद्विकासानन्तर अव्ययात्ममनु तद्गर्भ में समाविष्ट हो गया । अतएव अक्षरात्मस्वरूप हिरण्यगर्भ सौरमनु का अर्थ हुआ–'**स्वयम्भुमनुगर्भित हिरण्यगर्भमनु**' । इससे क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का आविर्भाव हुआ, तदाविर्भावानन्तर अव्ययात्ममनुगर्भीभूत अक्षरात्ममनु तद्गर्भ में प्रविष्ट होगया । अतएव क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का अर्थ हुआ–'**स्वयम्भु–हिरण्यगर्भमनुगर्भित इरामयमनु**' । जिस प्रकार काम–तप–श्रमलक्षण अनुबन्ध सर्गमात्र में सामान्यरूप से निर्विरोध समाविष्ट हैं,

तथैव प्रत्येक सर्ग में-**'तत्सृष्ट्वा'** यह नियम भी सामान्यरूप से समाविष्ट माना गया है। पूर्व पूर्व की सृष्टि से समुद्भूत उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व सृष्टि गर्भीभूत बनी रहती है। अतएव उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व की सर्गमात्राएँ सर्वात्मना समाविष्ट रहतीं हैं। इसी आधार पर-**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्-सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि सर्ग-प्रतिसर्ग-सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-इरामयमनुस्वरूपपरिलेखः—

(१)-अव्ययात्मानुग्रहीतः-स्वयम्भूमनुः——स्वायम्भुवः———— —————{ काममयः
(२)-अव्ययात्मानुग्रहीतः-स्वयम्भूमनुगर्भितः—-अक्षरात्मानुग्रहीतः-हिरण्यगर्भमनुः-सौरः-{ तपोमयः
(३)-अव्यय-अक्षरानुग्रहीतः-स्वयम्भुहिरण्यगर्भितः-क्षरात्मानुग्रहीतः-इरामयमनुः-पार्थिवः-{ श्रममयः

(१८८) मानवीयभूतभौतिकसर्ग की रूपरेखा—

अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक, मनः-प्राण-वाङ्मय, शाश्वतब्रह्म-प्राणेन्द्र-वागग्निमूर्त्ति,-कामः-तपः-श्रमानुबन्धसंयुक्त, स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-मनुप्रजापतिसमष्टिरूप त्रिमूर्त्ति मनु ही भूतभौतिक सर्ग का सर्वेसर्वा माना गया है, जिसे प्रथमदृष्टया **'स्वयम्भूब्रह्म'** कह सकते हैं, द्वितीयदृष्टया **'हिरण्यगर्भप्रजापति'** कह सकते हैं, एवं तृतीयदृष्टया **'विराट्प्रजापति'** कह सकते हैं। स्वयम्भूब्रह्म **शाश्वतब्रह्म** है, हिरण्यगर्भ-प्रजापति **प्राणेन्द्र** है, विराट्प्रजापति **'वागग्नि'** है। शाश्वतब्रह्मगर्भित-प्राणेन्द्रगर्भित-वागग्निरूप विराट्प्रजापति ही यहाँ समष्ट्यात्मक वह त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति भूतभौतिकसर्गप्रवृत्ति का उपक्रम बनता है, जिसके 'वागग्नि' रूप वेदाग्नि को लक्ष्य बना कर ही हमें इस सर्ग की रूपरेखा का समन्वय करना है। अवधानपूर्वक इस मनुमूर्त्ति को लक्ष्य बनाइए, क्योंकि इसी के आधार पर सम्पूर्ण क्षरसृष्टियों की मीमांसा प्रतिष्ठित है—

अवधेया मनुमूर्त्तिः—सर्वमूर्तिर्म्मनुप्रजापतिस्वरूपपरिलेखः-

परात्परः——अखण्डः

अव्ययात्मा——	अक्षरात्मा——	क्षरात्मा
मनोमयः——	प्राणमयः——	वाङ्मयः
शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः——	प्राणेन्द्रमूर्त्तिः——	वागग्निमूर्त्तिः
कामप्रवर्त्तकः——	तपःप्रवर्त्तकः——	श्रमप्रवर्त्तकः
स्वायम्भुवः——	सौरः——	पार्थिवः
स्वयम्भूब्रह्म——	हिरण्यगर्भप्रजापतिः——	विराट्प्रजापतिः
आदिमनुः——	मध्यमनुः——	अन्तमनुः

कामतपः—श्रममयः—सर्वमूर्त्तिः—मनुप्रजापतिरेव
सर्वमसृजत—यदिदं किञ्च

(१८९) कामयमान-तप्त-सन्तप्त-श्रान्त-मनुप्रजापति—

अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (अपौरुषेय यजुर्वाक् अमृत वागग्नि) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (हिरण्मयसौरपुरुषसम्बन्धेन तथा इरामय पार्थिवपुरुषसम्बन्धेन-पौरुषेययजुर्वाक्-मर्त्यवागग्नि) ही वह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर ही मनुप्रजापति भूतसर्गप्रवृत्ति में समर्थ बनते हैं। मनोमय स्वयम्भूमनु, प्राणमय हिरण्यगर्भमनु, दोनों को तत्सृष्ट्वान्याय से स्वमहिमगर्भ में समाविष्ट रखने वाला वाङ्मय इरामयमनुप्रजापति ही अपने मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से, दूसरे शब्दों में मनोमय अव्ययात्मा–प्राणमय अक्षरात्मा–दोनों को स्वमहिमगर्भ में प्रविष्ट रखने वाला वाङ्मय क्षरात्मा ही मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से सृष्टि का उपादान कारण बनता है। एवंविध त्रिमूर्त्ति आत्मप्रजापति से अभिन्न त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति सृष्टि के कामः-तपः-श्रम-लक्षण तीनों सामान्य अनुबन्धों से समन्वित रहता हुआ अपने काममय मनोरूप स्वयम्भूभाग से सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन–आधार) बन रहा है, तपोमय प्राणरूप हिरण्यगर्भभाग से सृष्टि का निमित्त बन रहा है, श्रममय वाग्रूप विराड्भाग से सृष्टि का उपादान बन रहा है। दूसरे शब्दों में वही मनु शाश्वतब्रह्मस्वरूप स्वायम्भुव मनोमयभाग से मनोमय अव्ययात्मा द्वारा अनुग्रहीत होकर सृष्टि का कामयमान अधिष्ठान बन रहा है, वही मनु प्राणेन्द्र रूप सौरप्राणमय भाग से प्राणमय अक्षरात्मा द्वारा अनुग्रहीत होकर सृष्टि का तप्यमान निमित्त बन रहा है। एवं वही मनु वागग्निरूप पार्थिव वाग्भाग से वाङ्मय क्षरात्मा द्वारा अनुग्रहीत होकर सृष्टि का श्रान्त उपादान बन रहा है। कामयमान–तप्यमान-श्रान्त, एवंविध मनुप्रजापति से इसके शाश्वतब्रह्मलक्षण मनोमय अव्ययात्मा के आधार पर अक्षरात्मा के व्यापार से वाग्रूप क्षर के द्वारा सर्वप्रथम जिस भौतिक तत्त्व का आविर्भाव हुआ, वही **'आपः'** कहलाया, जो कि आपः तत्त्व अपनी सुसूक्ष्म वाष्पावस्था–मौलिक अवस्था के कारण उपनिषदों में 'वायु' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। येही मनुप्रजापति की प्रथमा भूतसृष्टि है, जिसके साथ हमें–**'आकाशाद्वायुः'**–**'अग्नेरापः'** इन दोनों सर्गश्रुतियों का समन्वय करना है।

(१९०) मनु का प्रथम सर्ग—

वागग्निलक्षण–इरामयमनुमूर्त्ति जिस क्षर उपादान से सर्वप्रथम 'आपः' नामक 'वायु' तत्त्व उत्पन्न होता है, वह आकाशात्मक वागग्नि ऋक्–साम–नामक वयोनाधों (छन्दों–सीमाभावों) से युक्त–वेष्टित–नद्ध-सीमित 'यजुः' नामक वय ही है, जिसका पूर्व में 'वेदाग्नि' रूप से भी स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। जैसा कि तत्रैव स्पष्ट किया गया है, यजुर्लक्षण वेदाग्नि में 'यत्–जू' रूप से 'गति–स्थिति' इन दोनों परस्परात्यन्त-विरुद्ध भावों का एक बिन्दु पर समन्वय हो रहा है। गतिभाव 'वायु' (प्राणवायु) है, यही 'प्राण' है, यही 'यत्' है। स्थितिभाव 'आकाश' है, यही 'जू' है। दोनों का समन्वितरूप ही 'यज्जूः' लक्षण 'यजुः' है। वाक् और प्राण, दोनों हीं अमृत–मर्त्यभेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इनमें अमृतवाक्–अमृतप्राण तो अक्षुण्ण अविस्रस्त बने रहते हैं, एवं मर्त्यवाक्–मर्त्यप्राण का विस्रंसन होता है। अमृतवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यवाक् का (स्थितिभाव का) अमृतप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यप्राण के संघर्षात्मक संक्षोभ से–जो कि संघर्षात्मक क्षोभ इस गतिशील प्राण का सहज स्वभाव है–विस्रंसनात्मक क्षरण (रुद्धद्रवणात्मक प्रस्रवण) हो पड़ता है। जिस प्रकार शारीरिक प्राणसंघर्षरूप **परिश्रम**, तथा वाङ्मय भौतिक शरीरसंघर्षरूप **श्रम** से प्राणाग्नि-

समन्वित शारीरिकाग्नि अंशतः विस्रस्त होकर स्वेदलक्षण (पानीरूप) आपः के रूप में परिणत हो जाता है, ठीक इसी प्रकार 'यत्' नामक प्राण के संघर्षरूप परिश्रम से 'जू' नामक स्वायम्भुव शारीरिकाग्नि का वाग्भाग (मर्त्यवाग्भाग) विस्रस्त होकर 'आपः' रूप में परिणत हो जाता है। 'यत्' नामक वह चितिलक्षण-सप्त-चितिक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सप्तर्षिप्राण ही है, जिसका पूर्व में **'परे प्राणम्'** रूप से मनुर्नामनिर्वचन-परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

(१६१) सृष्टिमूलक केतु स्वरूपपरिचय--

महामाया की परिधि से सीमित मनःप्राणवाङ्मय सप्तर्षिलक्षण (भावलक्ष्टियुक्त) सप्तपुरुषपुरुषप्रजापतिरूप स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-मनुगर्भित इरामयनुप्रजापति ने **'एको ऽहं बहु स्याम्'** लक्षण सृष्टिकामना का सहजरूप से अनुगमन किया। कामना से यजुःप्राणभाग में महान् संघर्षरूप तपोव्यापारलक्षण आभ्यन्तर व्यापार प्रकान्त हो पड़ा। इस तपोमूलक, किंवा तपोरूप संघर्ष से यजुः का वागग्निरूप मर्त्याकाश (मर्त्यस्थितिभाव) श्रम द्वारा द्रुत हो पड़ा। यह परिस्रुत-द्रुत-वाग्रस ही स्वयम्भूप्रजापति का (तद्गर्भीभूत वाग्रूप इरामय मनु प्रजापति का) **'स्वेद'** कहलाया, यही स्वायम्भुव 'स्वेद' आगे चलकर **'अथ-अर्वाग्'** भाव के कारण **'अथर्वा'** कहलाया। वागरूप आकाश से उत्पन्न होने के कारण अथर्वलक्षण यही **'स्वेद' 'आकाशाद्वायुः'** इस सिद्धान्त का समर्थक बना। वाक्तत्त्व ही क्योंकि वेदाग्नि (प्राणाग्नि) है। यही द्रुत बन कर क्योंकि' आपःरूप सूक्ष्म जलीय तत्त्व रूप में परिणत हुआ है (जो कि सूक्ष्म जलीय तत्त्व 'वायु' ही कहलाया है), इस दृष्टिकोण से यही वायुमूर्त्ति आपः **'अग्नेरापः'** इस सिद्धान्त का भी समर्थक बना। इस प्रकार वागग्नि से समुत्पन्न अथर्वरूप सूक्ष्म पारमेष्ठ्य वायुलक्षण आपः के लिए ही **'आकाशाद्वायुः-अग्नेरापः'** दोनों सिद्धान्त समन्वित बन गए। 'आकाशाद्वायुः का तात्पर्य्य हुआ-'वागग्नि से सूक्ष्म आपः का प्रादुर्भाव', एवं अग्नेरापः का तात्पर्य्य हुआ 'प्राणाग्नि' से सूक्ष्म पारमेष्ठ्य सलिल का आविर्भाव। दोनों तत्त्व अभिन्न हैं, तो इन के लिए श्रुति में पुनरुक्ति क्यों हुई ?, यह एक सहज प्रश्न है, जिसका समाधान **'केतुविज्ञान'** परिज्ञान पर ही अवलम्बित है, जो विस्तारभिया यहाँ प्रतिपादित नहीं हो सकता।

अथर्वलक्षण आपः, किंवा वायु, दोनों यद्यपि अभिन्न है। तथापि पारमेष्ठ्य भृगु-अङ्गिरा के सम्बन्ध से दोनों में एक सुसूक्ष्म महान् विभेद भी है, जिसके आधार पर 'अग्नेरापः--आकाशाद्वायुः'-ये दो विभिन्न वाक्य विहित हुए हैं। गतिभावापन्न आपः तेजोगुणक हैं, एवं इनका 'यत्' रूप प्राण से सम्बन्ध है, इसी को 'अङ्गिरा' कहा गया है। स्थितिभावापन्न आपः स्नेहगुणक **हैं**, एव इनका 'जू' रूप वाग्भाग से सम्बन्ध है, इसीको 'भगु' कहा गया। **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरो'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार अङ्गिरा-भृगु दोनों हीं आपः **है**। अङ्गिरारूप आपः **'आकाशाद्वायुः'** का समर्थक है' एवं भृगुरूप आप; **'अग्नेरापः'** का समर्थक है। 'आपः' रूप सामान्य अविभिन्नता के अनुबन्ध से हमनें दोनों श्रुतिवचनों को एकत्र समन्वित मान लिया है।

पौराणिक मानवीय सृष्टिविज्ञान में सौरहिरण्यगर्भप्रजापति को मूल माना गया है, जिसका--मूलप्रभव पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति अग्नि-आपोमय (तेजःस्नेहमय) केतु ही बना करता है। केतुतत्त्व पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय (संकोच-विकासशील) वह ऋताग्नि-ऋतसोम (बिखरा हुआ अग्निपुञ्ज-एवं बिखरा हुआ

ही सोमपुञ्ज) भाव है, जो पारमेष्ठ्य समुद्र में अननुमेया आकृतिभावों से इतस्ततः प्रबलवेग से सञ्चरण करता रहता है। यही बाष्पावस्थापन्न, अतएव 'धूम' नाम से प्रसिद्ध केतु ('धूमकेतु') केन्द्रीभाव के कारण पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में पिण्डीभूत होकर सूर्य का प्रभव बना करता है। यही पौराणिक सृष्टिक्रम का उपक्रमस्थान माना गया है। इन उल्कापुञ्जात्मक पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय धूमकेतुओं से पारमेष्ठ्य समुद्र परिपूर्ण है। इस परिपूर्णता के अनुबन्ध से ही इनका संख्यान 'सहस्रसंख्या' से समतुलित मान लिया जाता है। शत-सहस्र-आदि विवर्त्त भृग्वङ्गिरोमय एक ही केतु के अवान्तर गतिस्थितिभावात्मक विभिन्न विवर्त्त हैं। अतएव नारद ने एक केतु के अनेक विवर्त्त माने हैं। रवि-शनि-अग्नि-मङ्गल-बुध-बृहस्पति-शुक्र-आदि तत्तत्कक्षाओं में उपभुक्त होने के कारण ये केतु तत्पुत्र-तत्भ्राता-आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं। महाप्रलयाधिष्ठाता, साथ ही सौरब्रह्माण्डसर्गाधिष्ठाता इन **'सहस्रधा-महिमानः-सहस्रम्'** विभक्त भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य केतुओं का स्वरूपपरिज्ञान सौरसृष्टिविज्ञान में एक उपयोगी दृष्टिकोण माना गया है, जिसका— **'भारतीयकेतुस्वरूपपरिचय'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए यहाँ तन्निबन्ध की एक सामान्य तालिकामात्र उद्धृत कर दी जाती है—

प्रासंगिकी केतुतालिका—सहस्रधूमकेतुपरिलेखः—

१-रविपुत्राः—	सुवर्णमणिसदृशाः—	हैमाभाः	(२५)—सृष्टिप्रवर्त्तकाः
२-अग्निपुत्राः—	रक्तवर्णसदृशाः—	रक्ताभाः	(२५)—वृष्टिप्रवर्त्तकाः
३-मृत्युपुत्राः—	कृष्णवर्णोपमाः—	कृष्णाभाः	(२५)—सर्वनाशकाः
४-मङ्गलभ्रातरः—	दर्पणवत्समतुलिताः—	श्वेतरक्ताभाः	(२२)—क्षोभप्रवर्त्तकाः
५-चन्द्रपुत्राः—	चन्द्रिकोपमाः—	रजताभाः	(३)—शान्तिप्रवर्त्तकाः
६-ब्रह्मपुत्राः—	श्वेतरक्तकृष्णोपमाः—	सर्वाभाः	(१)—प्रतिष्ठाप्रवर्त्तकाः
७-शुक्रपुत्राः—	शुक्लवर्णोपमाः—	शुक्लाभाः	(८४)—योनिभावप्रवर्त्तकाः
८-शनैश्चरपुत्राः—	नीलवर्णोपमाः—	नीलाभाः	(६०)—आर्त्तिप्रवर्त्तकाः
९-गुरुपुत्राः—	विकचोपमाः—	पीताभाः	(६५)—अशान्तिप्रवर्त्तकाः
१०-बुधपुत्राः—	तस्करोपमाः—	हरितवर्णाभाः	(५१)—अशुभप्रवर्त्तकाः
११-मङ्गलपुत्राः—	कौंकुमोपमाः—	रक्ताभाः	(६०)—विक्षोभप्रवर्त्तकाः
१२-राहुपुत्राः—	तामसकीलकोपमाः—	कृष्णाभाः	(३३)—रविचारानुगतफलप्रदाः
१३-विश्वेदेवपुत्राः—	विश्वरूपोपमाः—	सर्ववर्णाः	(१२०)—सन्तापप्रवर्त्तकाः
१४-वायुपुत्राः—	अरुणोपमाः—	विविधवर्णाः	(७७)—पापप्रवर्त्तकाः
१५-प्रजापतिपुत्राः—	गणकोपमाः—	विविधवर्णाः	(८)—पुरंध्रिताप्रवर्त्तकाः
१६-वरुणपुत्राः—	कङ्कोपमाः—	नीलाभाः	(३)—जायाभावप्रवर्त्तकाः
१७-कालपुत्राः—	कबन्धोपमाः—	घोरकृष्णाभाः	(९६)—सर्वनाशप्रवर्त्तकाः
१८-दिक्पुत्राः—	तारोपमाः—	सर्ववर्णाः	(१०)—सर्वभावप्रवर्त्तकाः

(१६२)–सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति—

नैगमिक सृष्टिविज्ञान की निरूपणीया शैली में, तथा आगमिक (पौराणिक) शैली में महान् अन्तर है, जबकि तत्त्वसमतुलनदृष्ट्या दोनों का समन्वय निर्विरोध समन्वित है। प्रकृत विश्वस्वरूपमीमांसा में हम नैगमिक शैली का ही अनुसरण कर रहे हैं, अतः केतुमूलक पौराणिक सर्ग यहाँ अग्राह्य बन गया है। वर्त्तमान विज्ञानवादियों की भूतसर्गस्वरूपमीमांसा सर्वथा अंशतः पौराणिक सर्ग की प्रतिच्छायामात्र से ही समतुलित मानी जायगी। आत्ममूला नैगमिक शैली का तो वर्त्तमान विज्ञानजगत् ने नामस्मरण का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। हाँ, तो बतला रहे थे कि, मनु–प्रजापति के वागग्निभाग से 'स्वेद' रूप भृग्वङ्गिरोमय 'अप्' तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"ओं–ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यक्षं, तदेकमेवास्मि। हन्त 'अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्म्ममे' इति। तत्–अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–'महद्वै यक्षं सुवेदमविदामहे' इति। तद्यदब्रवीत्–'महद्वै यक्षं, 'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् 'सुवेदो' ऽभवत्। तं वा एतं 'सुवेदं' सन्तं 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।१।

(१६३)–गोपथश्रुति का अक्षरार्थ—

गोपथश्रुति का अक्षरार्थ यही है कि–"इस प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–एवं अनुभूत-पाञ्चभौतिक विश्वर्ग से पूर्व परात्पराव्ययाक्षरक्षरात्मक प्राणवमूर्त्ति (ओङ्कारमूर्त्ति) मनुब्रह्म (प्रजापति) का ही, एकाकी मनु का ही साम्राज्य था, (जो वास्तव में सृष्टि से पूर्व) एकाकी ही था। इस (एकाकी ब्रह्म) ने (अपने काममय मनोराज्य में ऐसा ऊहापोह किया कि–'यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, हम एकाकी ही बने हुए हैं'। (इस मानससंकल्प–कामभावात्मक विचारापरमर्शात्मक–ऊहापोह के परिणामस्वरूप ब्रह्म इस निष्कर्ष पर पहुंचे, कि) हन्त (अच्छा जा–चलो–इस एकाकीपन को हटाने के लिए) 'हम अपने जैसा ही अपने स्वरूप के अनुरूप ही एक दूसरे 'देव' का निर्म्माण करें'। (अपने इस कामनामय संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए) ब्रह्म ने श्रम किया, तप किया, तन्मयतापूर्वक तप का अनुष्ठान किया। ब्रह्म के इस श्रम–तप–सन्तपन से (ब्रह्म के) ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापन–स्वेदकरण) उत्पन्न हुई, उससे ब्रह्म महिमानन्द (कार्य्यसफलतारूप–श्रम–परिश्रम-सफलतालक्षण तृप्त्यानन्द) में निमग्न हो गए। ब्रह्म उस (ललाट पर उत्पन्न स्वेदकणरूप आपोरूप स्नेहनद्रव्य को लक्ष्य बना कर) कहने लगे कि, सचमुच यह बड़ी आश्चर्य्यपूर्णा (महत्त्वपूर्णा) घटना घटित हो पड़ी कि। हमनें आज इस (स्वेदरूप) से 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। (ब्रह्म से ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर समुत्पन्न) इस सुवेद को ही वैज्ञानिक लोग परोक्षभाषा में 'स्वेद' व्यवहृत करते हैं। (क्योंकि) देवता (प्राणतत्त्ववेत्ता महर्षि-भूदेव) परोक्षप्रेमी, तथा प्रत्यक्ष के शत्रु हुआ करते हैं"।

(१६४) माङ्गलिक संस्मरणमीमांसा—

यह तो हुआ श्रुति का अक्षरार्थसमन्वय। अब दो शब्दों में रहस्यार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। गोपथब्राह्मण का आरम्भ उक्त वचन ही से हुआ है। आर्षग्रन्थों के आरम्भ में, तथा समाप्ति में उभयत्र माङ्गलिक संस्मरण का समावेश एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन **त्रिखण्डात्मक उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** ग्रन्थ के प्रथमखण्डमें—"**उपनिषदों के आद्यन्त में माङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?**", इस परिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है। गोपथवचन के आरम्भ में पठित '**ओम्**' के द्वारा उस आर्षमाङ्गलिक विधान का ही संरक्षण हुआ है, जिसके द्वारा सकेतरूप से श्रुति आस्थाश्रद्धा परायण आर्षमानव को यही माङ्गलिक शिक्षा प्रदान कर रही है कि "**मानव को अपना प्रत्येक कर्म्म माङ्गलिक संस्मरणपूर्वक ही तो आरम्भ करना चाहिए, एवं तत्पूर्वक ही समाप्त करना चाहिए, क्योंकि माङ्गलिक संस्मरण मानव के ऐहिक–आमुष्मिक जीवन को स्वस्ति–शान्ति–सुख–समृद्धि–ऋद्धि–वृद्धि–तुष्टि–पुष्टि पूर्वक प्रकान्त रखता हुआ एक प्रधान स्वस्त्ययनकर्म्म माना गया है, एवं जिस मङ्गलसंस्मरण के ओम्–अथ–श्रीः-श्रीगणेशाय नमः–श्रीपराम्बायै नमः–ओं नमः परमर्षिभ्यः-इत्यादि रूप से स्व–स्व–वैय्यक्तिक उपासनानिबन्धन अनेक विवर्त्त माने गये हैं।**

(१६५) 'ओं ब्रह्म' का समन्वय—

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, स्वयम्भू–हिरण्गर्भ–विराट्समष्टिरूप त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति निष्कल–त्रिकल–षोडशकल त्रिमूर्त्ति आत्मप्रजापति से सर्वथा अभिन्न तत्त्व है। अर्द्धमात्ररूप अमात्रिक परात्पर, अक्षररूप अव्यय, उकाररूप अक्षर, मकाररूप क्षर की समष्टि बनता हुआ त्रिमूर्त्ति आत्मदेवता 'ओम्' स्वरूप है। अतएव तदभिन्न मनुब्रह्म को भी अवश्य ही 'ओम्' कार अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है। प्रणवोङ्कार ही मनुप्रजापति का स्वरूपलक्षण बन रहा है। अतएव इस मानवी सृष्टि में '**ओं ब्रह्म वा इदमग्रे॰**' इत्यादि प्रणवरूप से ही स्वायम्भुवी सृष्टि का उपक्रम हुआ है। अग्नि–इन्द्र–वरुण–धाता–सविता अर्य्यमा–वायु–आदित्य- आदि विभिन्न प्राणदेवता अपने अपने प्रातिस्विक कार्य्यों के आधार पर–मूलप्रवर्त्तक मूलोक्थ बनते हुए स्वतन्त्र 'ब्रह्म' हैं। गोपथश्रुति के द्वारा जिस भृवेदमयी आपोमयी सृष्टि का निरूपण होने वाला है, उस सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म प्राणलक्षण अङ्ग (एकाङ्ग) देवता नहीं है। अपितु परात्परादि समष्टिरूप ओङ्कारलक्षण सर्वप्रजापति ही इस सृष्टि का प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ है। आपोमयी सृष्टिके मूलभूत ब्रह्म के इसी सर्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए श्रुति ने ब्रह्म के साथ 'ओम्' को समन्वित करते हुए '**ओं ब्रह्म**' को उपक्रमवचन माना है। मङ्गलसंस्मरण, तद्द्वारा लोकानुगत स्वस्त्ययनकर्म्मशिक्षण, सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण, इत्यादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ही आरम्भवचन के आरम्भ में–'ओम्' व्याहृति उपात्ता है।

(१६६) 'इदमग्रआसीत्' का समन्वय—

'**इदमग्र आसीत्**' यह उत्तर वाक्य है, जो सृष्टि के कई एक रहस्यपूर्ण सुगुप्त परोक्ष भावों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सृष्टितत्त्व के मौलिक रहस्यों का अन्वेषण उन आर्ष नैष्ठिक मानव-श्रेष्ठों (महर्षियों) नें ही किया है, जो अपनी अध्यात्मज्ञाननिष्ठा के प्रभाव से 'इदम्' रूप कालचक्र की सीमा

से अतिक्रान्त बनते हुए कारणस्वरूप के 'प्रत्यक्षद्रष्टा' घोषित हुए हैं। 'इदं' शब्द सर्वत्र पुरोऽवस्थित-प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत-वर्त्तमान-विश्व का ही वाचक बोधक-संग्राहक माना गया है। स्पष्ट है कि, महर्षियोंने इस 'इदं,' रूप विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाकर ही इस कारणरूपा पूर्वावस्था के तात्विक स्वरूप की परोक्ष-व्याख्या की है। तत्त्वदृष्टया भी स्वरूपव्याख्याशैली का यही स्वरूप सहज प्रमाणित हो रहा है। कारण का स्वरूपज्ञान कार्य्य के स्वरूपज्ञान के द्वारा ही सम्भव है अर्वाचीन प्रजा के लिए। कार्य्यानुमान से ही कारणस्वरूप बोधगम्य बना करता है। क्योंकि-**कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते'** न्यायानुसार कारण के गुणधर्म्म हीं कार्य्य के गुणधर्म्मों के आरम्भक बना करते हैं। क्षित्यङ्कुरादि कार्य्यों के द्वारा तत्कारणभूत ईश्वर (प्रकृति) का अनुमान लगाने मे कुशल नव्यतार्किकों की तर्कप्रणाली इस दिशा में प्रसिद्ध ही है। **'इदमग्रे'** वाक्य इसी कार्य्यकारणमूलक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर रहा है।

(१९७) अव्यक्तब्रह्म का व्यक्तीभाव—

अपिच **'अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारणवादी ब्रह्मवादी'** की विवर्त्तभावात्मिका दृष्टि में अध्यात्म-जगत् की की अभिव्यक्ति का ही नाम अधिभूतजगत् है। **"आधिभौतिक जगत् मिथ्या है, दुःखं दुःखं है, शून्यं शून्यं है, अपरिपूर्ण है, निस्सार है"** इत्यादिरूपा अमाङ्गलिक-असत्-कल्पनाओं का ब्रह्मवादी की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। वह तो इस वास्तविक तथ्य का अभिगन्ता-मन्ता-श्रोता-वक्ता है कि-**"यह सम्पूर्ण विश्व सर्वथा परिपूर्ण है, आनन्दमय है, नित्य है, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-नित्यं 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म-स्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म का ही व्यक्तरूप है"**। ब्रह्म ही सञ्चरदशा में नानात्वलक्षण विश्वरूप में अभिव्यक्त होता रहता है, एवं प्रतिसञ्चरदशा में यह नानाभावापन्न व्यक्त विश्व पुनः अपने अव्यक्त एक ब्रह्म रूपमें परिणत होता रहता है। **'इदमग्रे'** वाक्य इस ब्रह्मव्याप्तिमूलक व्यक्ता व्यक्तभाव की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह कार्यरूप विश्व पूर्वमें-अग्रे-कारण दशा में ब्रह्म ही था," वाक्य स्पष्ट ही अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्तभाव को ही विश्वस्वरूप से घोषित कर रहा है।

(१९८)-'स्वयन्त्वेकमेव' का समन्वय—

ब्रह्म ही व्यक्तावस्था में **'विश्व'** है, विश्व ही अव्यक्तावस्था में **'ब्रह्म'** है। अन्तर इन दोनों स्थितियों में केवल यही है कि, अव्यक्तावस्था में नानात्वसम्पादक बल अव्यक्तावस्था में (सुप्तावस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव **'अव्यक्त ब्रह्म'** नानाविश्वमूलक अनेकत्व से पृथक् रहता हुआ 'एकाकी' बना रहता है। व्यक्तावस्था में नानाभावजनक बल व्यक्तावस्था में (जाग्रदवस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव **'व्यक्त विश्व'** नानाभावसमन्वित होता हुआ 'बहुधर्म्माक्रान्त' बना रहता है। सञ्चरपक्ष नानाभावानुगत है, यही विश्व है। प्रतिसञ्चरपक्ष एकत्वानुगत है, यही ब्रह्म है। ब्रह्म इस विश्व की प्रतिसञ्चारात्मिका प्रतिसर्गावस्था है, तो विश्व उस ब्रह्म की सञ्चारात्मिका सर्गावस्था है। इस उभयावस्थासमसमन्वयमूलक एकत्व को कक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है कि—**"ओं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव"**।

(१९९) स्वयन्तु-एकं-एव-लक्षण ब्रह्म—

अपिच--'स्वयन्त्वेकमेव' वचनांश ब्रह्मानुगत त्रिविध भेद का भी निवारक प्रमाणित हो रहा है। नानाभाव ही भेदभाव है। यह भेदभाव बलचिति के तारतम्य से, तन्मूलक आनन्त्य से यद्यपि अनेक भागों में विभक्त है। तथापि वैज्ञानिकोंनें उन समस्त भेदभावों को भेदवादत्रयी में ही समन्वित मान लिया है, जो भेदत्रयी क्रमशः-**'सजातीयभेद-विजातीयभेद-स्वगतभेद--'** नामों से प्रसिद्ध है। एक आम्र का वृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से विभिन्न है। समानजातीय आम्रवृक्षों का यह पारस्परिक विभेद ही 'सजातीयभेद' है। आम्र-नारिकेल-जम्बू-प्लक्ष-न्यग्रोध-आदि वृक्ष परस्पर विभिन्न जातीय हैं। यह विजातीय पारस्परिक विभेद ही 'विजातीयभेद' है। स्वयं एक ही वृक्ष में-उदाहरण के लिए आम्रवृक्ष में ही आम्रफल-आम्रमञ्जरी-आम्रपल्लव-आम्रशाखा-महाशाखा-प्रत्यन्तशाखा-स्थूण-आदि परस्पर अपना विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। एक ही आम्रवृक्ष में समन्वित यही पारस्परिक अवयवभेद 'स्वगतभेद' माना गया है। एक महामायापुर में महामायी अव्यक्तब्रह्म जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव इसे 'सजातीयभेदशून्य' माना जायगा। अव्यक्तब्रह्मातिरिक्त कोई दूसरा विभिन्न स्वरूप-गुण-धर्म्मा ब्रह्म भी नहीं है, अतएव इसे 'विजातीयभेदशून्य' कहा जायगा। स्वयं अव्यक्तब्रह्म में अखण्डतानुगता अभिन्नसत्ता के कारण पर्वभेद का भी (अवयवभेद का भी) अभाव है, अतएव इसे 'स्वगतभेदशून्य' घोषित किया जायगा। त्रिविध भेदशून्य ब्रह्म वास्तव में 'एकाकी' ही माना जायगा। **'स्वयन्त्वेकमेव'** वाक्य का **'स्वयम्'** शब्द सजातीयभेद का, **'एकम्'** शब्द विजातीयभेद का, तथा **'एवं'** शब्द स्वगतभेद का व्यावर्त्तक बन रहा है। जिस प्रकार-**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादि अन्य श्रुति के **'एकम्-एव-अद्वितीयम्'** तीनों शब्द क्रमशः सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदों के निवर्त्तक हैं, तथैव यहाँ **'स्वयं-एकम्-एव'** यह शब्दत्रयी त्रिभेदव्यावर्त्तिका बन रही है। इस प्रकार **'ओं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव'** इस प्रारम्भिक सन्दर्भश्रुति के तत्त्वपूर्ण स्वरूपव्याख्यान की रूपरेखा का यों अंशतः स्पष्टीकरण हो जाता है।

(२००)-'सदेव सन्मात्रम्' स्वरूपमीमांसा—

यह स्मरण रखिए कि, गोपथश्रुति के द्वारा ब्रह्ममूलक उस विश्वसर्ग का प्रतिपादन हो रहा है, जो विश्वसर्ग ब्रह्म की **'सिसृक्षा'** नाम की सञ्चरेच्छा से ही अनुप्राणित माना गया है। ब्रह्म रसबलोभयमूर्त्ति है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, और यह भी निवेदन किया जा चुका है कि, रसभाग असङ्ग है, बलभाग ससङ्ग है। मनोमय स्वयम्भुगर्भित ब्रह्म बलगर्भित रसभाग से मुमुक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बल-ग्रन्थियों के क्रमिक विशकलन-विमोक-से व्यक्त विश्व अव्यक्त ब्रह्मभाव में परिणत हो जाता है। वही मनोमय स्वयम्भूब्रह्म प्राणमय हिरण्यगर्भब्रह्म के माध्यम से वाङ्मय विराट्ब्रह्मस्वरूप के द्वारा रसगर्भित बलभागोपादान-साधन से समन्वित होकर सिसृक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बलग्रन्थियों की क्रमिक दृढ़मूलता से अव्यक्त-ब्रह्म व्यक्त विश्वरूप में परिणत हो जाता है। मुमुक्षा (बन्धनग्रन्थिविमोकेच्छा) रसात्मिका है, रसप्रधाना है, एवं इसमें-**'अनेक से एक बन जाऊँ'** यह एकत्वभाव ही प्रधान रहता है। सिसृक्षा (बलग्रन्थिबन्धनेच्छा) बलात्मिका है, बलप्रधाना है, एवं इसमें **'एक से अनेक बन जाऊँ'** यह 'अनेकत्त्वभाव ही प्रधान रहता है। किन्तु साथ ही साथ एक महान् आश्चर्य यह भी प्रक्रान्त बना रहता है कि, मुमुक्षावस्था में एकत्व-भावापन्न ब्रह्म में बलनिबन्धन अनेकत्त्व भी समाविष्ट रहता है, एवं सिसृक्षावस्था में अनेकत्वभावापन्न विश्व

में रसनिबन्धन एकत्त्व भी समाविष्ट रहता है, जिस इस महदाश्चर्य्य का यों भी अभिनय किया जा सकेगा कि–मुमुक्षावस्थानुगता स्थिति–अवस्था में ब्रह्म का अनेकभावापन्न बने रहना, जैसे एक महान् आश्चर्य्य है, तथैव सिसृक्षाभावानुगता गति–अवस्था में ब्रह्म का एकभावापन्न बने रहना भी कम आश्चर्य्य नहीं है। और ऐसी आश्चर्य्यमयी स्थिति में एक वैज्ञानिक यह कल्पना कर बैठेगा कि,–एकाकी ब्रह्म ने जब सिसृक्षा के द्वारा विश्वरचना का संकल्प अभिव्यक्त किया होगा, तो उस सिसृक्षावस्था में सिसृक्षाभावानुगत नानात्त्व से सर्वथा विपरीत स्वानुगत अपने मुमुक्षाभावानुगत एकत्त्व का अनुभव कर, देखकर स्वयं ब्रह्म को भी एक बार तो महान् आश्चर्य्य हो गया होगा, एवं अपने इस महान् आश्चर्य्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही सिसृक्षानुगामी सर्गानुरक्त–सर्गाभिमुख–सृष्टिकामुक ब्रह्म ने तत्काल यही संकल्प कर डाला होगा कि,— **"मुझे अपने एकस्वरूप इस आश्चर्य्य के समन्वय के लिए अवश्य ही किसी वैसे मत्सदृश ही दूसरे सहयोगी को अपने काम–तप–श्रम–सन्तपन से समुत्पन्न कर ही लेना चाहिए, जिससे मेरी यह आश्चर्य्यकारिणी एकता द्वित्वरूप में परिणत हो जाय, एवं तद्द्वारा में दाम्पत्यभावपूर्वक सृष्टिनिर्म्माण (मैथुनीसृष्टिरूप विकारात्मक क्षर भौतिक सर्ग) में समर्थ बन सकूँ।"** एकत्वरूप को अनेकत्वभाव में परिणत कर देनेवाली इस स्वाभाविक सिसृक्षा के स्वरूप विश्लेषण के लिए ही श्रुति को आगे चल कर इस सहज स्थिति का इन शब्दों में अभिनय करना पड़ा कि—**"तदैक्षत–महद्वै यक्षं (आश्चर्य्य)–तदेकमेवास्मि हन्त–अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं निर्म्ममे" इति।** 'मदेव-मान्मात्रम्' उस उत्पत्स्यमान द्वितीय सहयोगी का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण कर रहा है। **'मदेव'** का अर्थ है–**'मेरे जैसा'**, एवं **'मन्मात्रम्'** का अर्थ है–**'मेरे जितना'**। 'मेरे जैसा' का तात्पर्य्य है–**'मेरी–सत्यकामना के अनुरूप ही कामना में प्रवृत्त रहने वाला'**। 'मेरे जितना' का तात्पर्य्य है–"इच्छानुरूप मेरे कार्य में मेरे आत्मसमर्पण की भाँति ही **'आत्मसमर्पण करनेवाला'"**। **समानसंकल्पत्त्व ही 'मदेव' है। समान बलवीर्य्यपराक्रमानुगत–शक्तिप्रयोग ही तन्मात्रम् है।** और दाम्पत्यभावमूलक ऐसा सहयोग–समसमन्वय ही अपूर्व सृष्टि का सर्जक तथा स्वरूपसंरक्षक बना रहता है, जिसका निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

—ऋक्सं० १०।१९१।४।

(२०१)–सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–सम्बन्धचतुष्टयी—

"तुम्हारे संकल्प समान हों, हृदय समान हों, मन समान हों, जैसे कि तुम्हारा लक्ष्य समान है, अभिन्न है।" लक्ष्य की समानता में समवेत रहनेवाले सहयोगियों का प्रत्येकदशा में समानधर्म्मा–अभिन्न-धर्म्मा बने रहना अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माना गया है। तभी लक्ष्य साफल्य सम्भव बना करता है। **'सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–'** इन चार भावों के पर्य्यवेक्षण-निरीक्षण के माध्यम से ही सहयोग का वास्तविक स्वरूपबोध सम्भव माना गया है। समानशीलव्यसनता में सहयोग हुआ करता है, जिसे **'मैत्रीसम्बन्ध'** कहा गया है। आर्षदृष्टि से यही सम्बन्ध प्रधान है, एवं इसी से मानव की प्रातिस्विक (हृदयानुगता) मानवता

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण–अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)–शिक्षा–भोजन (आहारविहार)–भजन (उपासना)–शयन–गमन–भाषण–रुदन–हसन–व्यवहार (लोकव्यवसाय)–लक्ष्य (उद्देश्य)–श्रम (शारीरिकतप)–परिश्रम (प्राणतप)–आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति–वर्त्तन–आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी–रेखात्मक भी–अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल–प्रतिकूल–स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्यसे–निग्रहानुग्रह से सेवा–तटस्थता–शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु–शिष्यभाव'–स्वामी–सेवकभाव'–आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में वह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्–प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा–लोकैषणा–वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा–एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)–समानमस्तु वो मनः—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा–एषणा की सफलता की कथा तो विदूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य–उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेष्टा–शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार–समाज–राष्ट्र–अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के **'मदेव मन्मात्रम्'**–**'समानमस्तु वो मनः'** इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा **'अवस्थानुरूपा व्यवस्था'** प्रत्येक दिशा–दशा–क्षेत्र–काल–स्थिति–परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, बाह्यप्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा–एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जायं, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अहिः–कञ्चुकिवत् आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अवमानित ही होता, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपक्ष की वृद्धि होती जाती है। यही **'मदेव मन्मात्रम्'** निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसरामः।

(२०३)–सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति–पत्नी–लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। **'सहधर्म्म चरताम्'** के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा–मदेव मन्मात्रा–पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस **'ब्रह्मपत्नी'** (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे. हमारे जितने हीं) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही वह कामना है, जिसका अव्ययात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त–अमर्य्यादित तप (प्राण-व्यापाररूपा चेष्टा–यत्न), एवं लक्ष्य–तप से उन्मुख ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम-तपः–श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तपःश्रम मानव के एषणा-लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित–कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर **'मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्'** को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। संकल्पात्मक काम (कामना) है कुछ ओर, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक बाह्य व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ ओर हैं, चेष्टा कुछ ओर है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ ओर घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ ओर ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ ओर ही हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम–तपः–श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ–चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध–स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक ऋजुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल–निस्तेज–अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे अव्यवस्थित-चेता मानवों के संकल्प–चेष्टा–श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते है। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपराप्रण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम–तपः–श्रम–**'मनस्येकं–वचस्येकं–कर्म्मण्येकं महात्मनाम्'** के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक ऋजुभाव–अनुकूलतालक्षण–समत्वलक्षण,

बुद्धियोगमाध्येम से मर्य्यादित रहते हैं, सत्यसंकल्पधर्म्मा ईश्वरवत् उनका मनःप्राणवाङ्मय हृद्य मनु अपने स्वाभाविक समत्त्व में सुप्रतिष्ठित रहता हुआ सबल–सशक्त बना रहता है। फलतः ऐसे व्यवस्थितचेता मानवश्रेष्ठों के सत्य संकल्प–चेष्टा–श्रम निश्चयेन सफल ही बने रहते हैं। काम–तपः–श्रमभावों की इसी ईश्वरीय–प्राकृतिक समता को लक्ष्य बनाते हुए ही श्रुति ने आगे जाकर कहा है कि–**"सत्यसंकल्पानन्तर ब्रह्म ने संकल्प के अनुरूप संकल्प को लक्ष्य बना कर ही तप किया, श्रम किया, एवं सर्वान्त में काम–तपः–श्रम, इन तीनों का एकत्र समन्वय कर डाला, जो समसमन्वय 'सन्तपन' कहलाया"।**

(२०५)–तदभ्यश्राम्यत्–अभ्यतपत्—

'**तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत, समतपत्**' का तात्पर्य यही है कि, संकल्पात्मिका मानसव्यापार-लक्षणा कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं मनुप्रजापति के (मनोमय स्वयम्भू मनु के) अक्षरात्मानुगत प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु में संघर्ष उत्पन्न हो गया, इस प्राणसंघर्ष के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मनु-प्रजापति के (प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु के) क्षरात्मानुगत वाङ्मय विराट्मनु में संघर्ष उत्पन्न हो गया। यह यजुर्वागरूप वागग्निमनुनिबन्धन संक्षोभ ही श्रम नाम से प्रसिद्ध हुआ, प्राणरूप हिरण्यगर्भमनुनिबन्धन क्षोभ ही तप कहलाया। एवं मनोरूप स्वयम्भुमनुनिबन्धन क्षोभ ही काम नाम से प्रसिद्ध हुआ। तीनों में क्षरात्मनिबन्धन वागग्निलक्षण यजुर्वागग्निस्वरूप विराट्मनु का संक्षोभलक्षण श्रम ही संकल्पित–तपोऽनुगत 'द्वितीय देव' अभिव्यक्ति का मूल उपादान प्रमाणित हुआ। प्राणव्यापारलक्षण तप के अनन्तर ही यद्यपि वाग्व्यापारलक्षण श्रम का उदय होता है। अतएव सहजसृष्टिधारा का क्रम यही है कि—**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'।**

(२०६)–तदभ्यतपत्–अश्राम्यत्—

तथापि एक रहस्यात्मक कारणविशेष से कुछ एक विशेष स्थलों में प्रथम स्थान श्रम को, द्वितीय स्थान तप को प्रदान कर दिया गया है। वह कारण यही है कि, क्षरनिबन्धना रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–लक्षणा तन्मात्राओं से असंसृष्ट, अतएव अधामच्छद, अक्षरनिबन्धन सुसूक्ष्मप्राणतत्त्व वाङ्मयभूत क्षर के आधार पर प्रतिष्ठित होकर स्वव्यापारानुष्ठानप्रसार में समर्थ बना करता है। बिना क्षरवाङ्मयभूत को आधार बनाए अक्षरप्राणमयतत्त्व तपोलक्षणस्वव्यापार में असमर्थ है। प्राणी (भूत) ही प्राणव्यापार कर सकता है। केवल प्राण तो अप्राण है। इसीलिए तो इस सद्रूप भी विशुद्ध प्राण को 'असत्' कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठाभूमि की दृष्टि से ही वाङ्मय श्रम को यत्रतत्र प्रथम स्थान प्रदान कर दिया गया है। एकमात्र इसी हेतु से–**'अभ्यश्राम्यत्–अभ्यतपत्'** रूप से श्रम का पहिले, तप का तदनन्तर उल्लेख कर दिया गया है, जो केवल दृष्टिसापेक्ष ही माना जायगा। सृष्टिसापेक्षता में तो **'अभ्यतपत्–अभ्यश्राम्यत्'**, यही सहज क्रम प्रतिष्ठित रहेगा।

(२०७)–'श्रान्तस्य तप्तस्य' स्वरूपमीमांसा—

"ब्रह्मप्रजापति (मनुःप्राणगर्भितवाङ्मय स्वयम्भु–हिरण्यगर्भगर्भित विराट्मयमनुःप्रजापति) अपने तथाविध संकल्प के अनुरूप किए जाने वाले (निसर्गतः हो पड़ने वाले) तप और श्रम, तथा तपःश्रम के

समन्वितरूपलक्षण सन्तपन से 'तप्त-श्रान्त-सन्तप्त' बन गएँ" इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली— "तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्ततस्य" श्रुति का भाव यही है कि, मनुप्रजापति का यजुरग्निरूप वाग्भाग इस संघर्ष से विकास की चरमसीमा पर पहुँच गया। कैसा संघर्ष ?, सर्वव्यापक संघर्ष, आसमन्तात् सर्वदिगनुबन्धी व्यापक संघर्ष। यदवच्छेदेन (यत्सीमा में) ब्रह्म व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्मनिःश्वासरूप वागग्नि व्याप्त था। तदवेच्छेदेनैव यह संघर्ष भी व्याप्त हो गया। अलातचक्रात्मक गतिशील महाब्रह्माण्ड में व्याप्त (अण्डात्मक त्रिकेन्द्रभावात्मक दीर्घवृत्तरूप सीमामण्डल में व्याप्त*) वागग्नि का अणु अणु (ऋतरूपात्मक वागग्नि के गुणागुभूत) क्षुब्ध हो पड़े। और इस महान् संघर्ष का परिणाम हुआ कालान्तर में–'पानी' जिसका–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात, वागेव सासृज्यत'÷ (शत० ६।१।१२।७।)। सिद्ध विषय है कि, जब भी अग्निपरमाणु अपने विकास की चरमावस्था में पहुंच जाते हैं, तो इनकी विकासावस्था संकोचावस्था में परिणत हो जाती है। अग्निविकास की संकोचावस्था का नाम ही 'जल' है, जिसे विज्ञानभाषा में 'सोम' कहा गया है। ग्रीष्मऋतु आग्नेयऋतु मानी गई है, जिसे हम उष्णकाल (उन्हाला–अग्निकाल) कहा करते हैं। आषाढ़ के मध्य में, जब कि अग्निविकास चरमसीमा पर पहुँच जाता है, अग्नि जब अतिशयरूपेण 'उरू' (समृद्ध) बन जाता है, तो व्याकरणनियमानुसार इसे 'वर्ष' आदेश हो जाता है, अग्नि ही जलरूप में परिणत हो जाता है। अतिशय श्रम से संघर्ष की चरमावस्था में पहुँचता हुआ शरीराग्नि प्रत्यक्ष में जलरूप में (स्वेद नामक पसीने के रूप में) परिणत प्रतीत हो रहा है। अतिशय क्रोध से सम्बद्ध संघर्ष से भी यही स्थिति हो जाती है। शोकाग्निसंघर्ष से (अङ्गिरसाग्निसंघर्ष से), तथा स्नेहाग्निसंघर्ष से (भार्गवाग्निसंघर्ष से) अश्रुपात हो पड़ना भी प्रत्यक्ष ही है। इसी आधार पर श्रुति का–'अग्नेरापः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(२०८) आर्द्र–शुष्कस्वरूपपरिचय—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए। परात्पर ब्रह्म 'रस[१]' तथा 'बल[२]' भेद से भावद्वयापन्न था। ब्रह्म की इन दोनों कलाओं का क्रमशः 'स्थिति[१]'–'गति[२]' –इन दो भावों में व्यक्तीभाव हुआ। आगे चलकर मैथुनीसृष्टि के उपक्रम में इन दोनों की 'स्नेह[१]' 'तेज[२]' इन दो भावों में अभिव्यक्ति होती है। रस, स्थिति, स्नेह, तीनों अनुयोगी हैं, एवं बल, गति, तेज, तीनों अनुयोगी हैं। रस–स्थिति–स्नेह के

---

* यद्यपि ब्रह्मसीमामण्डल परिपूर्णभावदृष्ट्या वर्त्तुलवृत्ताकार ही है। किन्तु सृष्टिदशा में इसे अपने मनःप्राणवाक् के त्रिवद्भाव के कारण त्रिकेन्द्र बन जाना पड़ता है। त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त ही अण्डाकार 'दीर्घवृत्त' माना गया है। तीन वर्त्तुल (गोल) वृत्तों को सीमित करता हुआ वृत्त दीर्घवृत्त बन जाता है जो अण्डाकार से समतुलित है। अतएव सृष्टिदशा में ब्रह्मवृत्त को- 'ब्रह्माण्ड' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ बनता है।

÷ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
—मनुः

बल–गति–तेज, ये तीनों प्रतियोगी हैं। ये ही द्वन्द्वात्मिका द्विनियतिलक्षणा (दुनिया–द्विनियति) सृष्टि के मूलस्तम्भ हैं। रस–स्थिति–समन्वित स्नेहतत्त्व **'भृगु'** है, एवं बल-गति–समन्वित तेज–तत्त्व **'अङ्गिरा'** है। ध्रुव (घनावयव–निबिडावयव) धर्त्र (तरलावयव), धरुण (विरलावयव–बाष्पावयव), इन तीन नैसर्गिक अवस्थाओं के कारण दोनों तत्त्व तीन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहे हैं। घनावस्थापन्न वही भृगु **'आपः[1]'** है, तरलावस्थापन्न वही भृगु **'वायु[2]'** (साम्बसदाशिव नामक शान्तवायु) है। एवं विरलावस्थापन्न वही भृगु **'सोमः[3]'** है ×। तथैव घनास्थापन्न वही अङ्गिरा **'अग्नि[1]'** है, तरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा **'यम[2]'** (रुद्र नामक उग्र वायु) है, एवं विरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा **'आदित्य[3]'** * है,। अग्निः यमः–आदित्यः की समष्टिरूप अङ्गिरा ही 'तेज' है, एवं आपः–वायुः–सोमः की समष्टि रूप भृगु ही **'स्नेह'** है। तेज **'शुष्क'** तत्त्व है, रूक्ष तत्त्व है, उत्तरोत्तर विकासशाली-विकासानुगामी (फैलनेवाला) है। स्नेह **'आर्द्र'** तत्त्व है, स्निग्धतत्त्व है, उत्तरोत्तर संकोचशाली-संकोचानुगामी (सिकुड़ने वाला) है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व में इन शुष्क-आर्द्र, दो तत्त्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि **"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैव–आर्द्रं चैव। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत् सौम्यम्"** (शत० ब्रा० १।६।३।२३) इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है।

(२०६) अग्नीषोमात्मकं जगत्–

इसी आधार पर वैज्ञानिकोंनें व्यावहारिक जगत् के लिए इस तथ्य को अनिवार्यरूपेण अनुगमनीय घोषित किया है कि, **"मानव को सदा सर्वदा प्रत्येक दशा में समन्वयपूर्वक भृग्वङ्गिरातत्त्वों के–स्नेह-तेजोभावों के–समसमन्वय के आधार पर ही अपने व्यवहारकाण्ड का सञ्चालन करना चाहिए"**। विशुद्ध रूक्ष (रूखा–आग्नेय–क्रोधाविष्ट) मानव भी कार्य्यसफलता से वञ्चित रह जाता है। एवं विशुद्ध आर्द्र (स्निग्ध–सौम्य–अनुरागपरायण) मानव भी असफल ही बना रह जाता है। परिस्थित्यनुसार रूक्षता–आर्द्रता दोनों का समसमन्वय रखने वाला नैष्ठिक मानव ही सफल मानव है, जिस सफलता के लिए आर्षमानव (महर्षि) की ओर से हमें यह आदेश प्राप्त हुआ है कि–**"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्"** (तै० ब्रा० ३।२।७।६।)। **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।) इत्यादि औपनिषद वचन भी अग्न्युपलक्षित शुष्क–अङ्गिरा (तेजोभाव), एवं सोमोपलक्षित आर्द्र भृगु (स्नेहभाव) की व्यापकता का ही समर्थन कर रहा है।

× "आपो–वायुः-सोमः–इत्येते भृगवः" (को० ब्रा० पृ० २।६।)।

* आदित्य वस्तुतः आङ्गिरस विरल प्राण का ही नाम है, जिसके 'इन्द्र[1]–धाता[2]–भग[3]–पूषा[4]–मित्र[5]–वरुण[6]–अर्यमा[7]–अंशु[8]–विवस्वान्[9]–त्वष्टा[10]–सविता[11]–विष्णु[12]' ये बारह अवान्तर विभेद माने गए हैं। सूर्य्यमण्डल में क्योंकि इन बारहों आदित्यप्राणों का समन्वय हो रहा है। एकमात्र इसी दृष्टि से सूर्य्य को 'आदित्य' नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः सूर्य्य और आदित्य का पर्य्याय–सम्बन्ध नहीं है।

(२१०) भृग्वङ्गिरोमय विश्व -

भृगु और अङ्गिरा, क्या दोनों दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसका हाँ, ना, दोनों उत्तरों से सम्बन्ध माना जागया। हाँ, इसलिए कि अहोरात्रवत् (आग्नेय अहः, सौम्या रात्रिवत्) दोनों की विभिन्नता प्रत्यक्ष में प्रमाणित है। ना, इसलिए कि, एक ही तत्त्व की अवस्थाद्वयी क्रमशः 'भृगु-अङ्गिरा' कहलाई है। इस अभिन्नता-दृष्टि से अङ्गिरा ही भृगु है, एवं भृगु ही अङ्गिरा हैं। वही ब्रह्म है, वही सुब्रह्म है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। हृदयस्थल से विनिर्गत होकर (निकलकर) द्यु रूप परिधि की ओर अग्नि-यम-आदित्यरूप अङ्गिरा उत्तरोत्तर विशकलित-विकसित-होते हुए ऊर्ध्वगमन कर रहे हैं÷। अग्नि-यम-आदित्य, इन तीनों का पारस्परिक हृद्य (हृदयानुगत) संघर्ष ही इनका अङ्गिरात्त्व, किंवा अग्नित्त्व है। परिधि (सीमा) पर्य्यन्त तीनों का क्रमिक विकास अक्षुण्ण बना रहता है। परिधि-सीमा से बहिर्भूत होते ही तीनों का हृद्य-भावात्मक संघर्ष उच्छिन्न हो जाता है, विकास उपशान्त हो जाता है। परिणाम-स्वरूप तीनों विकास की इस चरमसीमा पर पहुँचते ही संकोचावस्था में परिणत होते हुए परिधि से पुनरावर्त्तित बन कर हृदयाभिमुख (केन्द्राभिमुख) हो जाते हैं। केन्द्राभिमुख बने हुए इस अङ्गिरा का नाम ही 'भृगु' है। वस्तुपिण्डभुक्त हृदयबिन्दुपर्य्यन्त इस भृगु का स्वरूप सुरक्षित रहता है। क्योंकि तदवधिपर्य्यन्त भृगु के आपः-वायुः-सोमः-इन तीनों स्वरूपों के अवस्थान (स्थिति) के लिए पर्य्याप्त अवकाश (स्थान) सुरक्षित बना रहता है। किन्तु ठीक केन्द्र-बिन्दु पर पहुँचते ही तीनों अवकाशस्थानरूप प्रतिष्ठा (आश्रय) से वञ्चित हो जाते हैं। यही इस भृगुत्रयी की संकोचावस्था की चरमावस्था है। स्थानाभाव से केन्द्रागता भृगुत्रयी का संघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्षरूप क्षोभ से स्नेहगुणक भार्गवभाव उच्छिन्न हो जाता है, तत्स्थान में तेजोगुणक आङ्गिरसभाव आविर्भूत हो पड़ता है। इस प्रकार अङ्गिराभाव में परिणत भृगुत्रयी अविलम्ब हृदय से परिधि की ओर अनुगत हो जाती है। तदित्थं-केन्द्रप्रतियोगी-परिध्यनुयोगी विकासशील वही तत्त्व अङ्गिरा बना हुआ है, एवं परिधिप्रतियोगी-केन्द्रानुयोगी संकोचशील वही तत्त्व भृगु बना हुआ है। अतएव 'अग्नेरापः' वत्-'अद्भ्योऽग्निः' भी कहा और माना जा सकता है, जिस मान्यता के आधार पर ही वेदशास्त्र की सुप्रसिद्ध 'कादम्बिनी' नाम की वृष्टिविद्या से सम्बन्धित निम्नलिखित मन्त्र श्रुति का समन्वय सम्भव बन रहा है, जो पृथिवी तथा द्यौ में समानरूपरूप से आपः, तथा अग्नि का सम्बन्ध घोषित कर रही है—

*** समानमेतदुदकं मुच्चैत्यव चाहभिः ।**
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥

—ऋक्सं० १।१६४।५१

÷इत एत उदारुहन्—दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

सामसंहिता पू० १।२।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के ५पञ्चम वर्षात्मक पञ्चमखण्ड में प्रकाशित हो चुका है।

(२११)–दिवं भूमिं च निर्म्ममे—

आङ्गिरस अग्नि, भार्गव सोम, दोनों एक ही तत्त्व के हृदय–परिधिरूप दो भावों के अनुयोगी–प्रतियोगी दो रूप हैं, इसी आधार पर **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** (ऋक्सं०) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। वही तत्त्व हृदयदशा में आङ्गिरस पुरुषतत्त्व है, परिधिदशा में भार्गवी स्त्रीतत्त्व है। वही अङ्गिरारूपेण पति है, भृगुरूपेण पत्नी है, जिन दोनों से द्यावापृथिव्य महाब्रह्माण्ड का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। पृथिवी भार्गवी बनती हुई माता है, द्यौः आङ्गिरस बनता हुआ पिता है, दोनों अर्द्धवृत्तात्मक एक वृत्तभावापन्न एकमूर्ति हैं, जिनका **'द्यौष्पितः पृथिवि मातः'** रूप से यशोगान हुआ है। अभिन्नतत्त्वमूलक इसी प्राकृतिक श्रोत दाम्पत्यतत्त्व के आधार पर राजर्षि मनु को **"ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे'** (मनुः १।१३) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

(२१२)–सुब्रह्मस्वरूपमीमांसा—

स्थिति–गतिभावात्मक यजुर्वेद (यत्–जूः,–प्राण–वाक्,–वायु–आकाश,–रूप पुरुषवेद) ऋक्सामलक्षण वयोनाध (छन्द–सीमा) से समन्वित है, यह कहा जा चुका है। यही वह त्रयीवेद है, जिसे यजुरग्नि के सम्बन्ध से 'अग्निवेद' कहा गया है, जो यह स्वायम्भुव अग्निवेद विज्ञानजगत् में **'ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेयवेद'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं जिसके तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण के लिए ही अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप मन्त्रब्राह्मणलक्षणा नित्यावाक्–लक्षण शब्दब्रह्ममय वेदशास्त्र का महर्षियों के अन्तःकरण में आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेद ही स्वयम्भूब्रह्म है, जिसने पूर्वकथनानुसार–**'मदेव मन्मात्र द्वितीय देव'** की उत्पत्तिकामना से प्रेरित होकर तप एवं श्रम का अनुगमन करते हुए दोनों के समन्वयरूप सन्तपन–धर्म्म को लक्ष्य बनाया है। स्वयम्भू–ब्रह्म के तपोमय श्रमात्मक सन्तपन–से, संक्षोभलक्षण संघर्ष से तप्त–श्रान्त–सन्तप्त अग्निवेद, किंवा वेदाग्नि (वागग्नि) द्रुत हो जाता है! अग्निवेद का यही द्रुत भाग वह 'आपःतत्त्व' है, जो अथर्व–विद्याचार्य्यों के द्वारा **'सुवेद'** नाम से व्यवहृत हुआ है। **'अथ अर्वाक् उत्पद्यते'** ही इस सुवेदरूप आपोवेद की 'अथर्व' अभिधा का स्वरूपनिर्वचन है। स्वयम्भूलक्षण स्वायम्भुव ऋक्–सामयजुःसमष्टिरूप 'त्रयीवेद' प्रथमवेद है, यह अग्निवेद है, अतएव इसे **'उग्रवेद'** कहा जायगा। यही उक्त क्रमानुसार आपःरूप में परिणत होकर अपनी उग्रता से उपशान्त हो जाता है, सुशान्त हो जाता है। जिस प्रकार प्रचण्ड ग्रीष्म में सौरताप अपने विशुद्ध रौद्र अग्निताप के कारण सर्वथा रूक्ष बना रहता हुआ सर्वथा कटु–असह्य प्रतीत होता है, एवमेव विशुद्ध अग्निलक्षण स्वायम्भुव त्रयीवेद भी कटु–उग्र–माना जा सकता है। वही कटु–असह्य सूर्य्यताप जिस प्रकार शीतर्त्तु में शीत–शान्त–स्नेहगुणक–सोमसम्बन्ध से अपनी उग्रता से अभिभूत होता हुआ सुशान्त भाव में परिणत होकर सह्य (सुहावना) बन जाता है, एवमेव स्वायम्भुव अग्निवेद को भी आपः से समन्वित हो जाने पर (आपोमय बन जाने पर) सुशान्त माना जा सकता है। अतएव अग्निवेद के प्रथमावतारस्थानीय द्वितीय देवात्मक इस अथर्वलक्षण आपोवेद को इसके स्वाभाविक–सह्य–स्नेह–सुशान्तगुण-धर्म्म के अनुबन्ध से इसे 'सुवेद' (सह्य–सुशान्त–वेद) कहा जा सकता है। यह 'सुवेद' नामक आपो वेद क्योंकि स्वायम्भुव वेद से अर्वाक् (स्वायम्भुव–महिमामण्डल के गर्भ में स्वयम्भू के पश्चात्) समुद्भूत–आविर्भूत है, अतएव अथ अर्वाक् निर्वचनानुसार तत्त्वज्ञों नें इसे **'अथर्ववेद'** नाम से व्यवहृत किया है। स्वायम्भुव वेद **'ब्रह्म'** है, तो तदुत्पन्न यह आपोवेद **'सुब्रह्म'** है। ब्रह्मवेद यदि **'वेद'** है, तो सुब्रह्मवेद–

'सुवेद' है। वेद यदि स्थितिगतिभावापन्न है, तो सुवेद तेजःस्नेहगुणक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ब्रह्म की 'मदेव मन्मात्र' कामना से जो आपोमय द्वितीय वेदात्मक द्वितीय देव आविर्भूत हुआ, वही 'अथर्ववेद' नामक वह आपोमयतत्त्व है, जिसे सूर्य्य की अपेक्षा से तो प्रथमज, एवं स्वयम्भू की अपेक्षा से द्वितीयज माना गया है, एवं जो सूर्य्यमण्डल से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित रहने के कारण **'परमेष्ठी'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जो परमेष्ठी मैथुनीसृष्टि (वैकारिकसर्ग) का उपक्रमबिन्दु माना गया है।

(२१३)-अवधेया सृष्टिस्वरूपस्थिति—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार त्रयीवेदमूर्त्ति, किंवा अग्निमूर्त्ति ब्रह्म अपने अग्निवेदभाव से आपः तत्त्व को समुत्पन्न कर इसके गर्भ में समाविष्ट हो गया, जो कि गर्भप्रवेश-धर्म कामतपःश्रमानुबन्धत्रयी की भाँति ही सृष्टिमात्र का सामान्य ही अनुबन्ध माना गया है। स्वाङ्गसमुत्पन्न आपोमय सुवेद के गर्भ में विभूतिसम्बन्ध से ब्रह्म के प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि, आरम्भ में केवल स्नेहगुणक रहने वाला आपः इस अग्निवेदप्रवेश से तेजोयुक्त भी बन जाता है। इस प्रकार अथर्वलक्षण आपःतत्त्व स्वस्वरूप से स्नेहगुणक, एवं स्वायम्भुवाग्नि के प्रवेश से तेजोगुणक बनता हुआ उभयात्मक ही मान लिया गया है। आपोमय अथर्व का तेजोभाव ही अङ्गिरा है, स्नेहभाव ही भृगु है, जिन दोनों भार्गव-आङ्गिरसतत्त्वों का स्वरूपनिदर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अवधानपूर्वक संकलनधिया सृष्टिस्वरूप की इस वस्तुस्थिति को पुनः एक बार लक्ष्य बना लीजिए।

(२१४)-भृगुत्रयी एवं अङ्गिरात्रयी—

त्रयीवेद के यजुरग्नि के सम्बन्ध से स्नेहगुणक आपः में तेजोभाव का भी उदय हो गया। स्नेहमय आपः **'भृगु'** कहलाया, एवं तेजोमय आपः **'अङ्गिरा'** कहलाया। **'आपः१-वायुः२-सोमः३'**-ये तीन अवस्था भृगु की हुईं, **'अग्नि१-यमः२-आदित्य३'** अङ्गिरा की हुईं। भृग्वङ्गिरा-षट्क केन्द्रस्थ प्रविष्ट त्रयीवेद से समन्वित रहा, जिसके **'ऋक्१-साम२-यत्३-जू४'** ये चार विवर्त्त हैं। चतुष्पर्वा त्रयीवेदात्मक गर्भीभूत अग्निवेद ही **'पुरुषब्रह्म'** कहलाया, एवं षट्पर्वा अथर्व वेदात्मक आपोवेद ही **'पत्नीब्रह्म'** कहलाया। चतुष्कल ब्रह्मपति, षट्कलोपेता सुब्रह्मण्या पत्नी, दोनों की दशकलाओं के दाम्पत्यभाव से ही **'विराजमसृजत्-प्रभुः'**। दशावयव विराडग्निमूर्त्ति सूर्य्यनारायण ही इस दाम्पत्य से समुद्भूत प्रथमसर्ग है, जिसका निम्न-लिखित यजुः श्रुत से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुसंहिता

दशावयवविराट्मूर्त्ति–प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

१–ऋक (१) २–साम (२)	ऋक्सामे (१)	वेदः (अग्निर्ब्रह्म-पतिः)	दाम्पत्यभावः प्रथमः ततः—सूर्य्योद्भवः
३–यत् (३) ४–जू (४)	यज्जूः (२)		
१–आपः (५) २–वायुः (६) ३–सोमः (७)	भृगवः (३)	सुवेदः (आपः सुब्रह्म-पत्नी)	
४–अग्निः (८) ५–यमः (९) ६–आदित्यः (१०)	अङ्गिरसः (४)		

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय–आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस महदेव मन्मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में केतुसर्गरूप से उपबृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रुद्राग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का सन्त्राण एकमात्र शान्ति-मूर्त्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अजस्राहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावेशा-वस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान् परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्त्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सृष्टिधाराक्रम का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है, जिसका तदुत्तरोद्धृत निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं, सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनमङ्गिरसोऽनुगाः॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३८।

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहोति।
ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव।

अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस, तदिदं यावत् सम्वत्सरस्य वेला, तावत्पर्य्य--प्लवत्। ततः सम्वत्सरे पुरुषः (सूर्य्यः--हिरण्यगर्भः) समभवत्। स प्रजापतिः।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

(३)—तद्यदब्रवीत्--ब्रह्म (स्वयम्भूः)—'आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि, यदिदं किञ्च' इति। तत्मादापोऽभवत्। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

--गोपथ० पू० १।२।

(४)—सोऽयं पुरुषः प्रजापतिः (स्वयम्भूः) अकामयत–भूयान्त्स्यां, प्रजायेय–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत्-त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः–'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्–यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्–तस्मादापः। यदवृणोत्–तस्माद्वाः (वारि)। सोऽकामयत–आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत् आण्डं (ब्रह्माण्डं) समवर्त्तत।

शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,९,

—*—

उक्तश्रुतिवचनानुप्राणितस्मृतिवचसंग्रहः–मानवीयः—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्–व्ययम्॥

मनुः १।१९। (मूलसूत्रमिदम् *)।

(१) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

*–स वै सप्तपुरुषो भवति (शत० ६।१।१।६)।

(२) ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

(३) योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥

(४) सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षु र्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

(५) तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

(६) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः [सूर्य्यः] ॥

(७) यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते ॥ ÷

(८) + तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् (अ) ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥

(९) ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे । (क)
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

—मनुः १।५ से १३ श्लोक पर्य्यन्त

÷—तस्मादाहुः—'ब्रह्म' अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८)।

+—तत आण्डं समवर्त्तत (शत० ६।१।१।१०)।

[अ] तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत् सम्वत्सरस्य वेला—तावत् पर्य्यप्लवत ।
(शत० ११।१।६।१)

[क] स पृथिवी—अन्तरिक्षं—द्यौरभवत (११।१।६।४,५,१) ।

(२१५)–सुवेद, और स्वेदस्वरूपपरिचय—

प्रकृतमनुसरामः । प्रासङ्गिक श्रौत–स्मार्त्तवचनसमन्वयानन्तर पुनः गोपथश्रुत्यर्थसमन्वय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । ब्रह्म के तप और श्रम, तथा उभयसमन्वयात्मक सन्तपन से क्या समुत्पन्न हुआ ?, प्रश्न का समाधान करते हुई आगे चल कर श्रुति कहती है कि—"**तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यत्–आर्द्रयं–आजायत**" इत्यादि । "**श्रान्त–तप्त–सन्तप्त ब्रह्म के ललाट-प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापना) उत्पन्न हुई, प्रजापति उससे आत्मानन्दविभोर हो पड़े, और इस आनन्दविभोरता में उनके मुख से ये उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े कि–हमनें जो अपने श्रम–तप–सन्तपन से सुवेद प्राप्त कर लिया, वह महान् यक्ष है**" । ब्रह्म के मुख से–'**सुवेदरूप महान् यक्ष हमनें प्राप्त कर लिया**' इस वाक्य के विनिर्गमनके साथ ही ब्रह्म से समुत्पन्न वह आपोमय द्वितीय देव 'सुवेद' भावमें परिणत हो गया । है यह तत्त्व वास्तव में 'सुवेद', किन्तु परोक्षप्रिय विद्वान् अपनी परोक्षात्म-निबन्धना सहज परोक्षप्रियता के कारण कहा करते हैं इस 'सुवेद' को—'**स्वेद**', जिसका लोकार्थ माना गया है **पसीना** ।

(२१६)—चतुर्द्धा विभक्त अग्निस्वरूपपरिचय—

"ललाटप्रदेश पर स्नेह–आर्द्रयं उत्पन्न हुआ, और इससे ब्रह्मस्वयम्भू आनन्दित हो पड़े," इस वाक्य के समन्वय के लिए अपनी अध्यात्मसंस्था पर दृष्टि डालिए । अध्यात्म में–'आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः' (केशलोम, एवं नखों के अग्रभागों को छोड़कर–जो कि रसमात्रा से बहिष्कृत हैं) सर्वाङ्गशरीर में रक्तप्रतिष्ठा-मूलक–मङ्गलग्रहानुप्राणित–रक्त अणुसमन्वित वैश्वानराग्नि व्याप्त है, जिस का ऊष्मा, तथा अनाहत नाद से उभयथा प्रत्यक्ष होता रहता है । जहाँ से भी शरीर का स्पर्श किया जाता है, ऊष्मा (गर्मी) प्रतीत होती है, यही वैश्वानर की प्रत्यक्षदृष्टि (स्पर्श–अनुभूति) है । कर्ण, एवं नासारन्ध्रों को अंगुलिद्वारा अवरूद्ध करने से जो धक्–धक्–शब्द सुनाई पड़ता है, वही वैश्वानर की श्रुति (शाब्दिक अनुभूति) है । यह वैश्वानरलक्षण शारीराग्नि ताप, एवं शब्दानुगत बनता हुआ भूताग्नि है, योगज अग्नि है, जो हिरण्मय ब्रह्माण्डाधिष्ठाता सूर्य्य का पार्थिव प्रवर्ग्यरूप माना गया है । यही भूताग्नि चतुर्विध अन्नपरिपाक का मूलाधिष्ठाता बन कर उक्थरूप से दक्षिणपार्श्व में प्रतिष्ठित रहता है*, इसे ही हम विज्ञानभाषा में 'क्षराग्नि' कहा करते हैं, जिसका–'**चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास**' इत्यादि आप्त्याब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है÷ । यही क्षरलक्षण भूताग्नि '**वागग्नि**' कहलाया है (क) । पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य क्षरप्रधान है, जिसके त्रिवृत्(६)—

---

* **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।**
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गीता १५।१४) ।

÷ देखिए–शतपथविज्ञानभाष्य १ वर्षात्मक प्रथमखण्ड का 'आप्त्याब्राह्मण' नामक परिच्छेद ।
—शत० १।२।३।१।—

(क)—स्मरण रहे, स्वायम्भुव यजुरग्निरूप वेदाग्निलक्षण वागग्नि इस पार्थिव वागग्नि से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है ।

पञ्चदश(१५)–एकविंश–(२१) भेदसे तीन अवान्तर पार्थिव स्तौम्यलोक माने गए हैं। इन के 'शवसोनपात्'–अतिष्ठावा (अधिष्ठाता–नामक) नर क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीन पार्थिव आग्नेय देवता ही माने गए हैं। इन तीनों पार्थिव–स्तौम्य–आग्नेय नर देवताओं के 'तानूनप्त्र' से ही त्रिमूर्त्ति वैश्वानराग्नि का उदय हुआ है, जो–'**आ यो द्यां भाति–आ पृथिवीम्**,–'**वैश्वानरो यतते सूर्य्येण**' इत्यादि रूप से भूकेन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव एकविंश अहर्गण पर प्रतिष्ठित सूर्य्यपर्य्यन्त व्याप्त है। पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी के ९–१५–२१ स्तोमात्मक पृथिवी–अन्तरिक्ष द्यौः—ये तीन '**विश्व**', तीनों विश्वों के नायक अग्नि वायु–आदित्य ये तीन '**नर**', इन तीनों विश्वनरों के समन्वय से समुत्पन्न पार्थिव योगज क्षर अग्नि ही '**वैश्वानराग्नि**' कहलाता है*।

(२१७)–सावित्राग्नि, और सुब्रह्मण्याग्निस्वरूपपरिचय—

दूसरा है–'प्राणाग्नि', जो सावित्राग्नि, सुब्रह्मण्याग्नि के भेद से दो भागों में विभक्त होकर शरीर में प्रतिष्ठित है। सौरप्राणाग्नि 'सावित्राग्नि' है, चान्द्रप्राणाग्नि 'सुब्रह्मण्याग्नि' है। दोनों का समसमन्वय हो रहा है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरप्राणाग्नि, इवं सौरप्राणाग्निगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि, इन दोनों का प्रतिष्ठास्थान हृदय है, व्याप्तिस्थान हृदय से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त व्याप्त '**महावाण**' नामक प्रदेश है। चान्द्रतत्त्व–गर्भित सौरप्राणाग्नि रूक्ष है, शुष्क है। सौरप्राणगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि स्निग्ध है, आर्द्र है। उग्राग्नि, शान्ताग्नि, इन दोनों प्राणाग्नियों का क्रमशः सूर्य्य से उत्पन्न बुद्धि के साथ, एवं चन्द्रमा से उत्पन्न प्रज्ञानमन के साथ सम्बन्ध माना गया है। दोनों की समष्टि ही विज्ञानभाषा में प्राणाग्नि–अक्षराग्नि नाम से प्रसिद्ध है।

(२१८)–गुहानुगता अग्निचतुष्टयी—

बात यों थोड़ी और भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। सूर्य्य–चन्द्रमा भूपिण्ड–तीनों की समष्टि रोदसी–त्रैलोक्य माना गया है, जो क्रमशः द्यौः (सूर्य्य)–अन्तरिक्ष (चन्द्रमा)–पृथिवी (भूः) है। इन तीनों में रोदसीत्रैलोक्य के अन्तिम पर्वस्थानीय 'भूपिण्ड' का एक स्वतन्त्र विवर्त्त माना गया है, एवं–रोदसी के सूर्य्य–चन्द्रात्मक दोनों का '**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' रूप से एक स्वतन्त्र विवर्त्त माना गया है। इन दोनों विवर्त्तों में से भूपिण्डानुगत पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाला त्रिःस्तोमानुगत पार्थिव भूताग्नि ही क्षराग्नि माना गया है, जिसे हमने पूर्व में 'वैश्वानराग्नि' कहा है। इसका प्रतिष्ठास्थान दक्षिण पार्श्व है, व्याप्ति स्थान सर्वाङ्गशरीर है। सूर्य्यचन्द्रात्मक उभयविधाग्नि प्राणाग्नि है, इसी को हम 'अक्षराग्नि' कहेंगे,

---

* **स यः स वैश्वानरः–इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं,अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः** (शत० ९।३।१।३)–**इयं वै पृथिवी–वैश्वानरः** (शत० १३।३।८।३।)॥ **अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः–पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति–यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति॥**

—शत० १४।८।१०।१।

जिसका मूलस्थान अध्यात्म में हृदय बतलाया गया है, व्याप्तिस्थान हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त व्याप्त प्रदेश बतलाया गया है। सूर्य्य–परमेष्ठी–दोनों को स्वमहिममण्डल में गर्भीभूत रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भू ही चौथा वह ब्रह्माग्नि है, जिसे हमनें वागग्नि–यजुरग्नि–वेदाग्नि कहा है, एवं जिसे शाश्वतता के अनुबन्ध से **'अव्ययाग्नि'** (आत्माग्नि) माना गया है, एवं अध्यात्मसंस्था में जो शिरोगुहानुगत सहस्रदलकमलरूप ज्ञानकोश की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इसी को हम श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन के सम्बन्ध से **'मनोऽग्नि'** भी कह सकते हैं। वेदसम्बन्धेन यह जहाँ वागग्नि है, वहाँ आत्मसम्बन्धेन यही मनोऽग्नि है। इस प्रकार परमेष्ठि–सूर्य्य को गर्भ में रखने वाले स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि (यजुर्लक्षण वागाग्नि) के ही **स्वायम्भुवाग्नि[1], सौराग्नि[2], चान्द्राग्नि[3], पार्थिवाग्नि[4]** भेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। चारों क्रमशः–**वेदाग्नि[1]–सावित्राग्नि[2]–सुब्रह्मण्याग्नि[3]–वैश्वानराग्नि[4]** नामों से प्रसिद्ध हैं। अध्यात्मसंस्था में इन चारों का क्रमशः शिरोगुहा–उरोगुहा–उदरगुहा–बस्तिगुहा से सम्बन्ध माना गया है। अध्यात्म में चारों क्रमशः ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोभाग–उरः–हृदय–जठर–स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। इस प्राकृतिक क्रम को लक्ष्य में रखकर ही हमें गोपथ के ललाट प्रदेश का समन्वय करना है।

प्रजापत्यनुगतललाट–हृदय–पादप्रदेशस्वरूपपरिलेखः—

१–स्वयम्भूः—	वेदाग्निमूर्त्तिः	—मनोऽग्निः (अव्ययाग्निः)–प्रजापतेः–ललाटप्रदेशः (१, २)
२–परमेष्ठी—	आपोमूर्त्तिः	
३–सूर्य्यः—	सावित्राग्निमूर्त्तिः	—प्राणाग्निः (अक्षराग्निः)–प्रजापतेः–हृदयप्रदेशः (३, ४)
४–चन्द्रमाः—	सुब्रह्मण्याग्निमूर्त्तिः	
५–भूपिण्डः—	वैश्वानराग्निमूर्त्तिः	—वागग्निः (क्षराग्निः)–प्रजापतेः–पादप्रदेशः *

(२१६)–प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति—

तदित्थं–मनोमय अव्ययात्मा, प्राणमय अक्षरात्मा, वाङ्मय क्षरात्मा,–के इन तीन विवर्त्तों के अनुबन्ध से अध्यात्मसंस्था में मनोऽग्नि, प्राणाग्नि, वागग्नि, इन त्रिविध अग्निभावों का समन्वय संसिद्ध हो जाता है। मनोऽग्नि वह ज्ञानाग्नि है, जिसे हमनें वह शिरोगुहानुगामी बतलाया है, जिसमें—ज्ञानघना शिवसत्ता मानी गई है, एवं जिसकी द्विजातिप्रजा अहरहः सन्ध्याकाल में उपासना किया करती हुई—**'ललाटप्रदेशे शिवं ध्यायेत्'** को अन्वर्थ प्रमाणित करती रहती है। मनोऽग्नि वह **'ज्ञानाग्नि'** है, जिसके पूर्णविकासानन्तर

---

* पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् (अध्यात्मसंस्थाव.स)

मानव कर्म्म करता हुआ भी कर्म्मबन्धन से सर्वात्मना विमुक्त बन जाता है ÷। इसका प्रधान आवासक्षेत्र ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोगुहास्थान है। प्राणाग्नि 'क्रियाग्नि' है, जो—'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोपनिषत् ४।३।) के अनुसार अध्यात्मसंस्था में अहोरात्र सदा जाग्रत रहता है। जिसकी प्रतिष्ठा हृदय माना गया है। वागाग्नि अर्थाग्नि, किंवा भूताग्नि है, जिसका आशय सर्वाङ्गशरीर माना गया है। मध्यस्थ प्राणाग्नि के सौर–चान्द्र भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार तीन के चार अग्निविवर्त्त बन जाते हैं, और यों–'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि आप्त्याश्रुति का अनुगमभाव इस दृष्टि से भी चरितार्थ हो जाता है।

(२२०)–अश्वाग्निस्वरूपपरिचय—

'अग्नेरापः' सिद्धान्त का पूर्व में समन्वय किया जा चुका है। अग्नि का चरम (अन्तिम) विशकलनपरिणाम आपः ही माना गया है। क्योंकि अध्यात्म में अग्नि चार प्रकार का है, अतएव यह आपः भी चार ही प्रकार का उत्पन्न होता है, जिसका हम अमुक भौतिक दृष्टिकोणमाध्यम से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, करते रहते हैं। अग्नि से विस्रस्त पानी का साङ्केतिक पारिभाषिक नाम है—'अश्रु', जिसका ब्राह्मणग्रन्थों की सुप्रसिद्ध 'अश्वमेधविद्या' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। जिस प्रकार 'अग्रि' तत्त्व परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहलाया है, एवमेव 'अश्रु', तत्त्व परोक्षभाषा में 'अश्व' कहलाया है *। अग्रिरूप अग्नि से उत्पन्न 'अश्रु' नामक पानी से ही 'अश्व' तत्त्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है। 'अश्रु'रूप पानी का नाम है 'मरीचि', जो सौररश्मिभुक्त सावित्राग्नि के संघर्ष से समुत्पन्न हुआ है, अतएव जो 'मरीचि' पानी अग्निप्रकृतिक (ऊष्मप्रकृतिक) माना गया है। सौररश्मिमण्डलभुक्त अग्निप्रकृतिक यही मरीचि पानी पार्थिव दर्भोत्पत्ति का मूल उपादान माना गया है। अतएव सूर्य्यप्रतिकृतिरूप हिरण्य (सुवर्ण) वत् मरीचि पानी से समुत्पन्न दर्भ (कुशा) भी पवित्र माना गया है, जिसके लिए–'पवित्रे करोति। त इमे दर्भाः' (शत१२।३।१) इत्यादि निगम प्रसिद्ध है। यही मरीचि पानी 'वेन' कहलाया है, जिसका--'अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा०'(यजुःसं०७।१६।) इत्यादि मन्त्र से उपवर्णन हुआ है। वेनात्मक मरीचि पानी ही यमुनाजल का स्वरूपनिर्म्मापक माना गया है। यही मरीचि नामक सौर वेन पानी सौर मारीच कश्यपप्रजापति का स्वरूपनिर्म्मापक घोषित हुआ है। यही मरीचि पानी 'सौर अश्व' की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादिरूप से उपनिषदों में इसी सौराग्निरूप अश्व का रहस्यात्मक स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

÷ **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !**
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

—गीता ४।३७।।

* **स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निमित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।**

—शतपथब्रा० ६।१।१।११।

(२२१)-अस्त्वरडस्वरूपमीमांसा—

यहाँ भी बात कुछ समझने जैसी है। 'वागग्नि' नामक स्वायम्भुव यजुरग्नि से 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' इत्यादि के अनुसार 'आपः' की उत्पत्ति बतलाई गई है, एवं यहां भी-'अग्नेरापः' सिद्धान्त समन्वित हो रहा है, जिसका वास्तविक तात्पर्य्य है-'आकाशाद्वायुः'। वागग्नि मर्त्याकाश है, इसी की तरलावस्था वायु है, जो पारमेष्ठ्यतत्त्व माना गया है, एवं जिसे पूर्व में भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' कहा गया है, एवं जिस 'वायु' रूप आपः को आपोमय उस परमेष्ठी का स्वरूपसमर्पक माना गया है, जो परमेष्ठी सूर्य्यपिण्ड से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परमेष्ठी' माम से व्यवहृत हुआ है। कहा गया है कि, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से अपने वागाकाशरूप वागग्निभाग से इस भृग्वङ्गिरोमय-षड्ब्रह्मलक्षण मदेव मन्मात्र द्वितीय देव (परमेष्ठी) को-आपोब्रह्मनामक सुवेद को—उत्पन्न पर त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म इसके गर्भ में प्रतिष्ठित हो जाता है, फलतः यह प्रथमदाम्पत्यरूप दशकल बन जाता है (देखिए पृ० सं०-३५०)। यहाँ एक सृष्टिधारा-क्रम समाप्त है। यहाँ से आगे इस दशावयव (ऋक्[१]-यत्[२]-जू[३]-साम[४]-आपः[५]-वायुः[६]-सोम[७]-अग्नि[८]-यम[९]-आदित्य[१०]) भेद से विराट्मूर्त्ति ब्रह्मसुब्रह्मरूप दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम जो उत्पन्न होता है, वही तत्त्व 'अग्रि' कहलाया है। सौरब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इसी उष्णतत्त्व का सर्जन होता है। अतएव 'सर्वस्याग्रम-सृज्यत' रूप से इसे 'अग्रि' कहा जाता है, जिसका परोक्ष नाम है-'अग्नि'। यह अग्नि उस मूल स्वायम्भुव वागग्नि का पुत्र माना जायगा। माता इसकी पारमेष्ठ्य आपः, पिता इसके स्वायम्भुव यजुररग्नि। दोनों के दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम इसी दशावयवविराट् पुत्र का जन्म हुआ, जो कालान्तर में केन्द्रीभूत बनकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ 'सूर्य्यनारायण' कहलाया। ब्रह्मगर्भित (वेदाग्निगर्भित) सुब्रह्म (परमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय आपः) के दाम्पत्य से समुत्पन्न यह अग्रिरूप अग्नि ही वह सावित्राग्नि है, जो आरम्भ में ऋतावस्था में परिणत रहता हुआ प्रचण्डवेग से अलातचक्रवत् उस परिधि में भ्रमण कर रहा था, जहाँ आज सम्वत्सरसीमा प्रतिष्ठित है। आरम्भ में ऋतावस्थापन्न-आपोमय पारमेष्ठ्यसमुद्र में प्रचण्डवेग से दोधूयमान-परिभ्रममाण यही ऋताग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' माना गया है, जो आगे चलकर केन्द्रानुगत पिण्डीभाव के कारण सूर्य्यगोलकरूप में परिणत होता हुआ आज भी अलातचक्रवत् उसी वेग से परिभ्रमण कर रहा है। इसी प्रथमसृष्टि को लक्ष्य बनाकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

(तत आण्डं समवर्त्तत—देखिए पृ० सं० ३५१] तदभ्यमृशत्-'अस्तु' इति, अस्तु, भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत्। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या *।

---

* यहाँ स्मरण रखने की बात है कि, इसी ब्राह्मण की पूर्व की कण्डिका में भी-**"स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत-त्रयीमेव विद्याम्। सेवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत, सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"** इत्यादि रूप से त्रयी का आविर्भाव बतलाया गया है। वह त्रयी स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित नामक अव्ययाग्निरूप वेद है। और दशमी कण्डिका से सम्बन्ध रखने वाला अग्निवेद **'गायत्रीमात्रिकवेद'** नामक सौर अश्ववेद है, जो याज्ञवल्क्य के द्वारा उपवर्णित है। वह अपौरुषेय था, एवं यह दाम्पत्यपुरुष से उद्भूत होने के कारण पौरुषेय है। दोनों वेदाग्नि सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं।

तस्मादाहुः–ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्–इति । अपि हि तस्मात् पुरुषात् (ब्रह्मनिःश्वसित–वेदाग्निगर्भित–आपोब्रह्मलक्षणदाम्पत्यमूर्त्तिपुरुषात्) ब्रह्मैव (गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरेव) पूर्वमसृज्यत । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्,–सोऽग्निरसृज्यत । स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्निः । अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवाः । अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्,–सोऽश्रुरभवत् । अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते-परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवाः ।

(२२२)–ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम्—

स्वायम्भुव अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति प्रजापति के वेदाग्निभाग से पत्नीरूप आपः का प्रादुर्भाव, उभयदाम्पत्य से आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में पुनः संघर्षद्वारा अग्निरूप गायत्रीमात्रिक वेद की उत्पत्ति, इस सौर सावित्राग्नि के संघर्ष से पुनः अग्निप्रकृतिक 'मरीचि' नामक आपः का प्रादुर्भाव–जिस इस सृष्टिधाराक्रम का उपनिषत् ने–'आकाशाद्वायुः'[१]-'वायोरग्निः'[२]-"अग्नेरापः[३]" इस रूप से वर्णन किया है, एवं ब्राह्मणश्रुति ने इसी स्थिति का-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्-वागेव सासृज्यत'[१](आकाशाद्वायुः)–'सोऽग्निरसृज्यत'[२] (वायोरग्निः)–अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्'[३](अग्नेरापः)' इत्यादिरूप से विश्लेषण किया है । अग्नेरापः, और अथ यदश्रु ०इत्यादि दोनों वचन अभिन्नार्थक हैं । वायोरग्निः, और सोऽग्निरसृज्यत, दोनों वचन समानार्थक है । आकाशाद्वायुः–और–सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्–दोनों वाक्य अभिन्नार्थ प्रतिपादक हैं । एवं–" स पुरुषःप्रजापतिः श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां–सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्" इत्यादि ब्राह्मणवचन, एवं–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि उपनिषद्वचन, दोनों अभिन्नभावसंग्राहक बने हुए हैं ।

मनुरगुनतभूतसर्गपरिलेख :—

मनःप्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिः–सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापतिर्मनुरेव आत्मा

आत्मनः—आकाशः (ब्रह्मनिःश्वसितवेदः–ऋक्सामयुक्तः–यजुरग्निः)

आकाशात्—वायुः (भृग्वङ्गिरोमय्यः–आपः–सूक्ष्माः)

वायोः—अग्निः (गायत्रीमात्रिकवेदः–सौराग्निः)

अग्नेः—आपः (सौररश्मिभुक्ता आपः मरीचयः)

(२२३)–प्रजापति की कूर्म्मसृष्टि—

गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरूप सौर सावित्राग्निःके संघर्ष से उत्पन्न वैन नामक 'अश्रु'रूप मरीचि–पानी से ही आगे चलकर सौरसंस्था द्यावापृथिवी की जननी बनती हुई कूर्म्मपशु की आकृति में परिणत होती है, और यही

सुप्रसिद्ध वह कश्यपावतार है, जिसका सूर्य्यमूलक पौराणिकसृष्टिसर्ग में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। **'कश्यपात् सकलं जगत्'–सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः'** 'एतद्वै रूवं कृत्वा प्रजापतिः-प्रजामसृजत। यदसृजत-अकरोत्त्। कश्यपो वै कूर्म्मः' इत्यादि श्रौतवचन इस कूर्म्मविद्या का ही रहस्य विश्लेषण कर रहे हैं। सृष्टिधारा का क्रमिक निरूपण करनेवाली शातपथी श्रुति अश्रु की उत्पत्ति के अनन्तर समुद्भूत इस कूर्म्मोत्पत्ति को लक्ष्य बनाती हुई आगे जाकर कहती है—**"स प्रजापतिरकामयत–आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजां प्रजनयेयमिति। तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत्"**।

क्या कूर्म्मप्रजापति पर विश्वस्वरूप का अवसान हो गया ?, नहीं। अभी विश्वसर्ग का **'पृथिवी'** नामक एक और पर्व शेष है। उपनिषत्–प्रतिपादित सृष्टिधाराक्रम के–**'अद्भ्यः पृथिवी'** वचन का समन्वय अभी शेष है! उसी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हुई शातपथी श्रुति आगे चलकर कहती है कि, उस सौर हिरण्मय कश्यपप्रजापति ने यह कामना की कि, 'मैं इन मरीचिरूप पानियों से पुनः सर्ग उत्पन्न करूँ'। इसी कामना से तप–श्रम के द्वारा प्रजापति ने अष्टावयव, अतएव–'गायत्री' नाम से प्रसिद्धवह भूपिण्ड उत्पन्न किया, जिसका संक्षिप्त स्वरूपपरिचय अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। अभी प्रकान्त गोपथवचन का शेषांश ही समन्वित कर लेना चाहिए।

(२२४)–चतुर्विध 'अश्रु' का स्वरूपपरिचय—

सौर सावित्राग्नि से उत्पन्न आपः ही 'अश्रु' कहलाया, यही परोक्षभाषा में 'अश्व' माना गया। क्योंकि प्राणात्मक इस आपोमय अश्व की अश्वपशु में प्रधानता रहती है, अतएव अश्व को तेजोलक्षण आपोमय पशु माना गया है। महिषपशु भी यद्यपि आप्यप्राणप्रधान ही है। तथापि महिषपशु का क्योंकि पार्थिव **'मर'** नामक काल्वालीकृत (कादाकीचयुक्त) मलीमस वारुण आप्यप्राण से निर्म्माण हुआ है, अतएव इसे आपोमय अश्वपशु का विरोधी पशु माना गया है। सौर इन्द्रप्राणात्मक तेजोमय आपः से समुत्पन्न अश्वपशु दिव्यपशु है, एवं वारुण मरप्राणमय मलीमस आपः से उत्पन्न महिषपशु आसुर पशु है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य का सहजवैरनिबन्धन **'अश्वमाहिष्य'** न्याय प्रसिद्ध है। अग्नि से सक्षरित आपः का ही साङ्केतिक नाम 'अश्रु' है, यही अश्वस्वरूप की प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर अश्वमेधयज्ञ व्यवस्थित हुआ है, यही वक्तव्यांश है। इस दृष्टि से हम चतुर्विध अग्नियों से उत्पन्न चतुर्विध पानियों को 'अश्रुः' इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

अध्यात्मसंस्था के माध्यम से ही इस चतुर्विध अप्तत्त्व का अग्निचतुष्टयी के साथ समसमन्वय कीजिए। **'परिश्रमाश्रु[1]—क्रोधाश्रु[2]—शोकाश्रु[3]—प्रेमाश्रु[4]—'** भेद से अध्यात्मसंस्था में हमें चार प्रकार के पानी उपलब्ध हो रहे हैं। तन्मयतापूर्वक–निष्ठापूर्वक–व्यानप्राणसंघर्षद्वारा परिश्रम करने से सर्वप्रथम ललाटप्रदेश पर ही पसीना चमकने लगता है, अनन्तर परिश्रम के आत्यन्तिक वेग से सर्वाङ्गशरीर में स्वेदकण समुद्भूत हो जाते हैं। जिसे लोक में 'स्वेद' (पसीना) कहा गया है, वही यह **'परिश्रमाश्रु'** नामक प्रथम आपः है, जिसका मूलप्रभवस्थान, किंवा मूलोक्थस्थान शिरोगुहास्थित स्वायम्भुव मनोऽग्नि ही माना गया है। यही स्वेद कर्म्मसंसिद्धि का द्वार बना करता है। कर्म्मसिद्धिजनक पसीना ही तुप्ति–तृष्टिलक्षणा शान्ति का मूलबीज माना

गया है। परिश्रमशील मानव परिश्रमाश्रु बहा कर सदा सन्तुष्ट-सन्तृप्त बने रहते हैं। यही इनकी आनन्दानुभूति है।

जब मानव क्रोधाविष्ट बन जाता है, तब भी शरीर से पसीना बह निकलता है। इसी को हम 'क्रोधाश्रु' कहेंगे। इस क्रोधाश्रुविनिर्गमन से सन्तुष्टि-तृप्ति-शान्ति की कोई अनुभूति नहीं होती। अपितु ठीक इसके विपरीत इस से अध्यात्मसंस्था क्षुब्ध-अशान्त-उद्विग्न-असन्तुष्ट बन जाती है। सर्वाङ्गशरीर विकम्पित-संत्रस्त-क्लान्त बन जाता है। ऐसे इस रुद्राग्निमूर्त्ति क्रोधाश्रु का मूलप्रभव-मूलोक्थस्थान सर्वाङ्गशरीरव्याप्त ताप-श्रु तिलक्षण-पूर्वप्रतिपादित पार्थिव वह वैश्वानराग्नि ही माना गया है, जिसे पूर्व में वागग्नि-अर्थाग्नि-भूताग्नि-क्षराग्नि-आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। भूतासक्त-अर्थैषणासक्तव्यासक्त मानव ही इस क्रोधाश्रु का मुख्य लक्ष्य बना करता है, जो कालान्तर में मानव के वैश्वानराग्नि के आत्यन्तिकरूप से विनिर्गत हो जाने के कारण मानव की भूतप्रधाना शरीरयष्टि को कृश-अशक्त-निर्बल कर देता है।

निरतिशय शोकसंविग्नमानस-मानव की आँखों से जो अश्रु प्रवाह प्रवाहित हो पड़ता है, वही-'शोकाश्रु' कहलाया है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरसावित्रप्राणाग्नि ही इन शोकाश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोक्थस्थान बना करता है। सौरसावित्राग्निप्राण ही रुद्र है। रुद्ध अग्निरूप यही रुद्राग्नि शोकात्मक संघर्ष से द्रुत होकर अश्रु रूप में परिणत हो पड़ता है, जिसका विनिर्गमन ही स्वास्थ्यकर माना गया है। क्रोधाश्रुप्रभवरूप वैश्वानर-अग्नि का संरक्षण जहाँ स्वास्थ्यकर है, वहाँ इस शोकाश्रुप्रभव रुद्राग्निरूप सावित्राग्नि का अश्रु द्वारा विनिर्गमन स्वास्थ्यकर है। दोनों में यह महान् अन्तर है। क्रोध का निगरण ही कर जाना चाहिए, तभी स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है। शोक को अश्रु द्वारा बहिर्भूत ही कर देना चाहिए। शोकाश्रु के स्तम्भन से चित्तव्यामोहनलक्षणा स्तब्धता-जड़ता का उदय हो जाता है। यह ठीक है कि, वैश्वानरविनिर्गमनवत् इस सावित्राग्निजनित शोकाश्रु के अत्यधिक मात्रा में विनिर्गत हो जाने से भी जीवनीय रस पर अनुचित प्रभाव पड़ता है। फलतः शरीर निर्बल बन जाता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, गात्र शिथिल बन जाते हैं। तथापि इनका विनिर्गमन ही भावी स्थिरता की दृष्टि से माङ्गलिक ही माना गया है।

निःसीम प्रेमसंविग्नमानस-मानव के नेत्रपटलों से विनिर्गत अश्रु ही 'प्रेमाश्रु' कहलाए हैं। सौरसावित्रप्राणाग्निगर्भित चान्द्रसुब्रह्मण्य सौम्यप्राणाग्नि ही इन अश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोक्थस्थान माना गया है। परिश्रमाश्रुवत् ये प्रेमाश्रु भी सौम्यभावानुबन्ध से शान्तिकर-तुष्टिकर ही मानें गए हैं। निरतिशय भावावेश से चलित प्रज्ञानमनोरस ही इस प्रेमाश्रु के जनक हैं, जिसके **श्रद्धा-वात्सल्य-काम-स्नेह-रति**-नामक पाँच विवर्त्त प्रसिद्ध हैं। चान्द्रमन की इन पाँच रसप्रस्नवणवृत्तियों के अनुबन्ध से प्रेमाश्रु के पाँच ही जातिविभाग प्राकृतिक बन जाते हैं। इन पाँचों का '१-४' के अनुपात से द्विधा वर्गीकरण किया जायगा प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध के माध्यम से। नितान्त नैष्ठिक आर्षमानव वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-इन चारों मानस भावों में कभी आसक्त नहीं होते। रहतीं ये चारों वृत्तियाँ इनमें भी हैं। किन्तु सर्वथा सहजरूप से, शान्तरूप से। हाँ, केवल श्रद्धात्मक मानसभाव ही इन आर्षनैष्ठिक मानवों को यदाकदा आत्मविभोर बनाता हुआ प्रेमाश्रु जनक बन जाता है। उधर यथाजात-लौकिक-कामभोगपरायण-वित्तपुत्रलोकैषणालिप्त-भावुकमानव सर्वात्मना मनोवशवर्त्ती बनते हुए मानस वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-क्षेत्रों के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए

विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि की सहजनिष्ठा के सहज अनुग्रह से वञ्चित बने रह जाते हैं। ऐसे **लौकिक** मानवों को ही भावुकमानव माना गया है। ऐसे ही भावुकमानव क्षणे क्षणे हँसते और रोते रहते हैं। यही इनका परमपुरुषार्थ बना रहता है सर्वथा अबोध बालवृन्दवत्, तथा सौम्यनारीवृन्दवत्। इस प्रकार हमें अध्यात्मसंस्था में चारों जलीय तत्त्व उपलब्ध हो रहे हैं—

चतुर्विध-'अश्रु' स्वरूपपरिलेखः—

१—परिश्रमसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	परिश्रमाश्रुः	(स्वेदभावाः)	नैष्ठिकमानवानुगताः
२—वैश्वानरसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	क्रोधाश्रुः	(क्लेदभावाः)	भावुकमानवानुगताः
३—सावित्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	शोकाश्रुः	(क्लेशभावाः)	
४—चान्द्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः —	आपः	प्रेमाश्रुः	(मोहभावाः)	

—*—

उक्त अध्यात्मसंस्था—गाथा को लक्ष्य में रखते हुए ही अत्र अधिदैवतलक्षण प्राकृतिक विश्वसंस्था के साथ अश्रुचतुष्टयी का समसमन्वय कीजिए। वेदाग्नि से उत्पन्न आपः को ही **'परिश्रमाश्रु'** कहा जायगा,-जो 'पारमेष्ठ्य आपः' कहलाया है, एवं जिस का प्रातिस्विक नाम वह **'अम्भ'** माना गया है, जो गाङ्गेय तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव जो परमपावन अहरहरनुध्यानानुगत भागीरथी—तोय 'ब्रह्मद्रवी' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसकी उत्पत्ति मूलप्रभव—उक्थस्थान—स्वयम्भूब्रह्मरूप प्रजापति के शिरोभागोपलक्षित ललाटप्रदेशस्थ वेदाग्नि से हुई है। सौरसावित्राग्नि से उत्पन्न आपः को **'शोकाश्रु'** ही कहा जायगा, जो 'सौरआपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम **'मरीचिः'** माना गया है, जो यामुनेय-तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। चान्द्र सौम्याग्नि से उत्पन्न आपः को ही **'प्रेमाश्रु'** कहा जायगा, जो 'चान्द्रआपः' कहलाया है। एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'श्रद्धा' माना गया है, जो प्रत्येक संकल्पित भौतिक पानी को श्रद्धापूत बना दिया करता है। पार्थिवभूताग्निरूप वैश्वानराग्नि से उत्पन्न आपः को ही **'क्रोधाश्रु'** कहा जायगा, जो 'पार्थिव आपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम—**'मरः'** माना गया है, जो वापी-कूप तड़ाग—सर—समुद्र—नद—नदी—खर्व—आदि स्थानस्थित पानी माना गया है। इस प्रकार **स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौरसावित्राग्नि, चान्द्रसुब्रह्मण्याग्नि, पार्थिववैश्वानराग्नि,** इन चार अग्नियों से समुत्पन्न **पारमेष्ठ्य अम्भः, सौर मरीचि, चान्द्र श्रद्धा, पार्थिव मर,** ये चार प्रकार के आपः ही सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वरप्रजापति के क्रमशः **परिश्रमाश्रु—शोकाश्रु—प्रेमाश्रु—क्रोधाश्रु** माने जायँगे। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति इसी अश्रुचतुष्टयीरूप अप्चतुष्टयी का स्पष्टीकरण कर रही है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत—'लोकान्नु सृजा' इति। स इमांल्लोकानसृजत—अम्भः, मरीची, मरः, आपः। अदोऽम्भःपरेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। या अधस्तात्—ता आपः—श्रद्धा"।

—ऐतरेयोपनिषत् २।

(२२५) 'महद्वै यक्षं' लक्षण महान् आश्चर्य्य का समन्वय—

गोपथश्रुति के सभी भावों के समन्वय का प्रयास किया गया। अब केवल शेष रह जाता है–महद्वै–यक्षं' यह भाव। गोपथश्रुतिसन्दर्भ के उपक्रम में पठित–'तदैक्षत-महद्वै यक्षं–तदेकमेवास्मि' इस वाक्य के 'महद्वै यक्षम्' का अर्थ था–'महान् आश्चर्य'। एवं उपसंहार के 'महद्वै यक्षं सुवेदमविदामहे' के 'महद्वै यक्षम्' का तात्पर्य है–'यक्षात्मक महानात्मा'। गंधर्वप्राण ही यक्ष की प्रतिष्ठा माना गया है, जिसका सौम्य अथर्वाप्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'चन्द्रमा वै गन्धर्वः' (शत० ६।४।१।१।१६।) के अनुसार सौम्यप्राण ही गन्धर्वप्राण है, तदभिन्न यक्ष ही महान्यक्ष है। महानात्मा ही आकृति–प्रकृति–अहंकृति के द्वारा चिदात्मा का गर्भस्थान बनता हुआ सर्वविधभूतसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है *। पारमेष्ठ्य सौम्य आत्मा ही वह 'महानात्मा' नामक खण्डात्मविवर्त्त है, जिसका सौम्य चान्द्र पितरप्राणद्वारा मानवीय शुक्र में सापिण्ड्य-सम्बन्ध से प्रतिष्ठान माना गया है। यही महानात्मा÷'महद्यक्ष', किंवा 'महान् यक्ष' है, जिसका मौलिक स्वरूप पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय आपोलक्षण 'सुवेद' पर प्रतिष्ठित है। इसी को लक्ष्य बनाकर गोपथश्रुति ने 'महद्वै यक्षं, सुवेदमविदामहे' कहा है। तात्पर्य्य यही है कि, ब्रह्म ने–किंवा मनःप्राणवाङ्मय मनु ने भूतभौतिक सर्ग की कामना से अपने तप–श्रम द्वारा के अपने वागग्निभाग से आपोमय–सोममय–उस द्वितीय देव को उत्पन्न किया, जो 'महानात्मा' के रूप से विश्वपदार्थों की आकृति–प्रकृति–अहंकृति–भावों का जनक बनने वाला है। गुणत्रयात्मक सत्त्वमूर्ति महद्ब्रह्म ही ब्रह्म का (स्वयम्भूब्रह्म का–मनुप्रजापति का) मदेवमन्मात्र वह द्वितीय देव है, जिसे आपोमय होने से 'स्वेद' कहा गया है। नाम है वस्तुतः इसका 'सुवेद' (सुशान्त सौम्य–अथर्ववेद), किन्तु परोक्षभाषा में कहा जाता है इसे–'स्वेद'। प्रकृति के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य्य प्राणमूलक हैं। प्राणतत्त्व क्योंकि तन्मात्रातीत बनता हुआ अपने सुसूक्ष्म धर्म्म के कारण इन्द्रियों से अग्राह्य है। अतएव सृष्टिविद्यात्मक सम्पूर्ण निबन्धों, तदनुरूप सम्पूर्ण कर्म्मकलापों में आर्ष महर्षियोंने प्राणमूलक परोक्षभावों को ही प्रधानता दी है। प्रदर्शनरूप प्रत्यक्ष से कर्म्म का मौलिक–प्राणात्मक स्वरूप नग्न बन जाता है, जो प्राणनग्नता कर्म्म की यातयामता का कारण बन जाया करती है। इसी आधार पर श्रुति का–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इस दृष्टिकोण की वैज्ञानिक मीमांसा को थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए हम शातपथी श्रुति से अनुप्राणित सृष्टिस्वरूपमीमांसा के समन्वय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहें हैं।

---

* मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥
—गीता

÷ इस महानात्मा का, तथा महानात्मा से सम्बद्ध सप्तपौरुषसापिण्ड्य का विशद वैज्ञानिक विवेचन खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानग्रन्थ के प्रथम–तृतीय खण्डों में देखना चाहिए।

(२२६)–विद्युत्–ताप–प्रकाश–त्रयी—

संश्लिष्टलक्षणा 'सृष्टि' ही विश्वस्वरूप की मीमांसा है, जिसका प्रभवस्थान माना है वैज्ञानिकोंनें पारमेष्ठ्य स्वयम्भुगर्भित महान्प्रजापति (महानात्मा) को, एवं उपक्रम स्थान माना है हिरण्यगर्भ सूर्य्य को। अतएव विश्वस्वरूपमीमांसा का मुख्य आलम्बन सौरब्रह्माण्डात्मक सौरसम्वत्सर ही बन रहा है, जिसके गर्भ में चान्द्रसम्वत्सर, एवं पार्थिव सम्वत्सर, ये दोनों मर्त्यसम्वत्सर प्रतिष्ठित हैं। कालगणनात्मिका मर्य्यादा का एकमात्र सम्वत्सरचक्र से ही सम्बन्ध है, जिस कालचक्र के साथ सहजभाव से दिग्–देश भाव भी समाविष्ट हैं। दिक्–देश–कालानुगता विश्वस्वरूपमीमांसा ही विज्ञानजगत् में प्रतिष्ठित मानी गई है, जिसका एकमात्र द्रष्टा है दिग्देशकालातीत सर्वज्येष्ठ श्रेष्ठ आर्ष नैष्ठिक ऋषिमानव। इस ऋषिमानव के द्वारा दृष्ट विश्वमीमांसा ही वेदविज्ञानमीमांसा है, जिसे मूल बनाकर हमनें गोपथश्रुति के द्वारा पूर्व में सृष्टि के मूलाधारभूत प्रभवस्थान, एवं उपक्रमस्थानस्थानीय स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की है, जो दोनों विवर्त्त वर्त्तमान क्षणिक भूतविज्ञानवादियों की दृष्टि में अद्यावधि परोक्ष ही बने हुए हैं, एवं सम्भवतः यावच्चन्द्र-दिवाकरौ परोक्ष ही प्रमाणित होते रहेंगे, इसलिए कि उनकी स्थूला भूतदृष्टि सौरब्रह्माण्ड पर, इसके भी केवल विद्युत्–ताप–प्रकाश (इलेक्ट्री–हीट–लाइट), इन भौतिक स्वरूपों पर ही विश्रान्त है। सौरमण्डल के सुसूक्ष्म वास्तविक सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूपबोध से आज के वैज्ञानिकों का अन्तर्जगत् सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही है, असंस्पृष्ट ही रहेगा। इसी सौर सम्वत्सरचक्र को मूलाधार मानकर अब हम भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा अनुप्राणित सृष्टिस्वरूपमीमांसा के समन्वय में प्रवृत्त हो रहे हैं, जो स्वरूपमीमांसा ही मानवस्वरूपमीमांसा का मुख्य केन्द्र मानी गई है, एवं जिसे विस्मृत कर मानव ने अपना दिग्देशकालातीत परिपूर्ण स्वरूप विस्मृत कर अपने आपको सर्वात्मना पशुसमानधर्म्मा प्रमाणित कर लिया है।

(२२७)–सर्वत्सर, और सम्वत्सर—

अपौरुषेयवेदत्रयीमूर्त्ति चतुष्कल (ऋक्[१]-साम[२]–यत्[३]–जू[४]–रूप) स्वयम्भूप्रजापति, एवं आपः[१]–वायुः[२]—सोमः[३]–अग्निः[४]–यमः[५]–आदित्यः[६]–लक्षण षट्कल भृग्वङ्गिरोमय अथर्ववेदमूर्त्ति परमेष्ठीप्रजापति, दोनों इन ब्रह्म–सुब्रह्मों की समष्टिरूप पति–पत्नीलक्षण दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम सौरहिरण्मयात्मक उस गायत्रीमात्रिक वेदाग्नि का ऋतरूप से आविर्भाव हुआ, जो पारमेष्ठ्यसमुद्र में अण्डरूप से इतस्ततः उस सीमा पर्य्यन्त परिचंक्रमण करता रहा, जिस सीमापर्य्यन्त आज सम्वत्सरचक्र की वेला मानी जा रही है। यही ऋत सौराग्नि पारमेष्ठ्य सोमाहुति से क्रम-क्रमशः उद्बुद्ध–विकसित–पुञ्जीभूत बनता हुआ कालान्तर में पिण्डरूप में परिणत हो गया। यही पिण्डीभूत सत्यसकेन्द्रमूर्त्ति अग्निपुञ्ज सूर्य्यबिम्बरूप में परिणत हो गया, जिसका अग्नीषोमात्मक मण्डल ही आगे चलकर 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। सर्वत्सरता ही इस सम्वत्सर की मूलप्रतिष्ठा बनी। 'सर्वत्सर' भाव ही परोक्षभाषा में 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे आधार बना कर भूपिण्ड का जन्म यों हो पड़ा—

(२२८)–कृष्णमृग, और त्रयीविद्या—

स्वयम्भुगर्भित भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी ही क्योंकि इस सूर्य्यपिण्डोपलक्षित दशावयव, अतएव 'विराट्' नामक हिरण्यगर्भप्रजापति का जनक बना, अतएव इसमें परमेष्ठी के सौम्य भार्गव, आग्नेय आङ्गिरस, दोनों

भाव प्रवर्ग्यरूप से समन्वित हो गए। आग्नेय आङ्गिरसभाव दाहक अग्नि कहलाया, जो 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ, एवं जो अग्रजन्मा ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मणवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बना। सौम्य भार्गवभाव ही दाह्य सोम कहलाया, जो संक्षरित-'अश्रु' कहलाया, जिसे हमनें पूर्व में **'मरीचि'** नामक सौर आपः कहा है, एवं जिसे यमुनाजल की मूलप्रकृति घोषित किया है। दाह्यसोमसम्बन्ध से ही दाहक सौरसावित्राग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होता हुआ प्रकाश का सर्जक बन रहा है। सौराग्नि तो अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा कृष्णवर्ण ही है, जो कृष्णमृग की मूलप्रकृति माना गया है, अतएव जो कृष्णमृगचर्म्म आर्षमानव की दिव्यदृष्टि में **'त्रयीविद्या की प्रतिकृति'** (शिल्प) बना हुआ है (देखिए-शतपथब्राह्मण-हविर्ब्राह्मण १।१।४।३।) इसी आधार पर मानवधर्मशास्त्र का **'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर कृष्णमृग के स्वच्छन्द विचरण से अनुप्राणित भूप्रदेश ही आर्ष-धर्मभूमि घोषित हुई है। **'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च'** (यजुःसं० ३४।३१।)इत्यादिरूपेण स्वस्वरूप से नितान्त कृष्णवर्ण भी सूर्य्याग्नि सोमाहुतिप्रभाव से ही ज्योतिष्मान् बना हुआ है, जैसा कि-**'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ'** (ऋक् सं० १।६।१।२२) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

(२२६)-अष्टाक्षर भूपिण्ड--

सौर सावित्राग्निरूप अग्नितत्त्व, सौररश्मिमण्डलभुक्त सौम्य 'अश्रु' नामक जलतत्त्व, दोनों को अपने मण्डल में भुक्त रखते हुए सूर्य्यनारायण अलातचक्रवत् प्रबलवेग से घूमने लगे, घूम रहे हैं, प्रलयपर्य्यन्त घूमते रहेंगे। इन सूर्य्यनारायण के परिभ्रमणरूप संघर्ष से-चापलक्षणात्मक दबाव से-अग्निगर्भित सौर जलतत्त्व प्रवर्ग्यरूप से सौरमण्डल से पृथक्वत् बन गया। यही पार्थिव अर्णवसमुद्र कहलाया। इसमें आन्तरिक्ष्य वायु के समावेश से अर्बुद-खर्बुद-न्युर्बुद-परमपरार्द्ध बुदबुद् समुत्पन्न हो पड़े। इन बुद्बुदों के पारस्परिक संघर्ष से कालान्तर में अर्णवसमुद्र **फेनमय** (झागयुक्त) बन गया। पुनः वही ताप-वायु-पानी के पारस्परिक संघर्षात्मक चाप, इससे फेन की कालान्तर में **'मृत्'** रूप में परिणति, जो 'क्षार भाग' कहलाया है। मृत् की कालान्तर में **'सिकता'** रूप में परिणति, जो स्निग्ध-मसृणमृत्तिका (ग्रन्थिबन्धनयुक्त परमाणु-संघरूपा चिकनी मिट्टी) कहलाई है। इसकी कालान्तर में **'शर्करा'** रूप में परिणति, जो श्लथकणलक्षणा बालुका (बालू रेत) कहलाई है। इसकी कालान्तर में **'अश्मा'** (पाषाण) रूप में परिणति, कालान्तर में इसकी **'अयः'** (अपरिपक्व धातुमात्र, जिसे आजकल कच्चा लोहा माना जाता है) रूप में परिणति। इस अयः की कालान्तर में **'हिरण्य'** (लौह-ताम्र-रजत-सुवर्ण-कांस्य-पित्तल-आदि धातुमात्र) रूप में परिणति। तदित्थं-अग्नि-आपः-वायुः-इन तीनों के बलग्रन्थितारतम्य से सौरद्रवतत्त्व ही प्रवर्ग्यरूप से क्रमशः **"आपः—फेन—मृत्-सिकता—शर्करा—अश्मा-अयः—हिरण्य—"** इन आठ पर्वों में विभक्त होता हुआ हिरण्यपर्व पर विश्रान्त हो गया, यही अष्टावय भूपिण्ड कहलाया, जो सूर्य्य का उपग्रह माना गया है। जिसके केन्द्र में प्रचण्ड अग्नि *, अग्निवेगनिरोध के लिए सुविशाल पाषाणस्तरपरम्परा, समिद्ध-प्रज्वलित अग्नि से पाषाणस्तरविस्फोटन के निरोध के लिए पाषाणस्तरों पर इतस्ततः-सर्वदिशाओं में प्रचण्डवेग से

* **यथाग्निगर्भा पृथिवी, यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी, वायुर्दिशां यथा गर्भः।**
—शत० ब्रा० १४।६।४।२०।

भू के आभ्यन्तर स्तरों में प्रवाहित आपोधाराएँ, तदुपरि ओषधि–वनस्पति वर्ग, यही माता धरित्री का प्राकृतिक स्वरूप है, जिसकी आर्षवैज्ञानिक अष्टावयवसम्पत् के सम्बन्ध से 'गायत्री' रूप से उपासना किया करते हैं। इसी सूर्य्यमूला, किंवा सौराग्निगर्भित–आपोमूला भूसृष्टि को लक्ष्य बनाकर उपनिषच्छ्रुति ने–'अद्भ्यः पृथिवी' कहा है, जो औपनिषद कथन निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति के द्वारा यों उपबृंहित हुआ है—

"सोऽकामयत-'आभ्यः-अद्भ्यः-अधि–इमां [पृथिवीं] प्रजनयेयम्' इति। तां-संक्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्। अथ यत् ऊर्ध्वमुदोक्ष्यत-इदं तत्–यत्–इदमूर्ध्वमद्भ्योऽधिजायते [पुष्करपर्णात्मिका आपः–शैवालरूपाः-घनभावाः-शरात्मकाः;÷ घनात्मिकाः–आपः-इति यावत्]। सेयं सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेव रूपं समदृश्यत-"आप':" एव+। सोऽकामयत–भूय एव स्यात्–प्रजायेत--इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः 'फेन' मसृजत। सोऽवेत्–अप एतद्रूपं भूयो वै भवति। श्रामाण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानो 'मृदं'–शुष्कापमूष–'सिकतं'–'शर्कराम्'–'अश्मानं'–'अय'–'हिरण्यम्'–[ओषधि–वनस्पतिवर्गश्च] असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नवसृष्टयः [तूलसृष्टयः–८, मूलसृष्टिः,–१] इयमसृज्यत, तस्मादाहुः–'त्रिवृदग्नि'रिति। इयं ह्यग्निः। अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति, तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्। सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना उदगायत्। यदगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः [अष्टावयवः] इति। अथोऽआहुः–अग्निरेवास्यै [अन्नमाध्यमेन] पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्। तस्मादग्निर्गायत्रः–इति। तस्माद् हैतत्–यः सर्वो कृत्स्नो मन्यते–गायति [उपवर्णयति पृथिविस्वरूपं], वैव गीते-वा रमते।"

—शतपथब्रा० ६।१।१।१२,१३,१४,१५, कण्डिका।

(१३०)–ग्रहोपग्रहभावमीमांसा––

क्या पृथिवी (भूपिण्ड) पर विश्वनिर्म्माणप्रक्रिया समाप्त है ?, नहीं अभी ब्रह्माण्ड का अन्तिम, अतएव–'निधन' नाम से प्रसिद्ध 'चन्द्रमा' पर्व शेष है, जिसका निर्म्माण अभी तक असंसृष्ट ही रहा है।

÷ तद्यत्-अपां शर आसीत्-तत् समहन्यत, तत् पृथिव्यभवत् (शत०ब्रा० १०।६।५।२।)–आपो वै पुष्पकरपर्णम्। (शत० ६।४।२।२।)

+ न तर्हि पृथिव्यास–न द्यौरास। काल्वालीकृता ह वै तर्हि पृथिव्यास, नौषधयः आसुः, न वनस्पतयः।

—शत० ब्रा० २।२।४।३।

—[काल्वालीकृता–घनापोभावरूपा–शरभावानुगता–आपोमयी पृथिवी–पृथिव्याः–प्रारम्भावस्था इति निष्कर्षः]।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू **'महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः'** के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित कामः–तपः–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजाः' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सन्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर **'आत्मा[1]–पदं[2]–पुनःपदम्'[3]** इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोतात्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है **'अण्ड'**। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि **'अण्डसृष्टि'** नाम से ही उपवर्णित हुई है। **'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा'** यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो **'विरजा'**-परोरजा **'विश्वकर्मा'** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वर्त्तुलवृत्तात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। **'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'वियस्तस्तम्भ षड्मिा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वर्त्तुलवृत्ताकाराकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका **'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सप्तर्षिप्राणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–**'असद्वा इदमग्र आसीत्'** (शत० ६।१।१।१।) रूप से 'असद्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञान 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥

—पञ्चदशी

(२३१)–जाया–धारा–आपः–बलत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–**'इदमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमाः'** इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश-करते रहते हैं, वह भूतदृष्टि–स्पृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंसृष्ट ही था, और आज भी असंसृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–भूतदृष्टि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से **'जाया'** बल के द्वारा-**'जायते'** यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित **'अस्ति'–'विपरिणमते' 'वर्द्धते'** इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध **'जाया'** बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व **'जायायां जायते'** रूप से **'जाया'** नाम से प्रसिद्ध है। **'धारा–जाया–आप'**: तीनों हीं भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (सुवेद–सुब्रह्म-

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

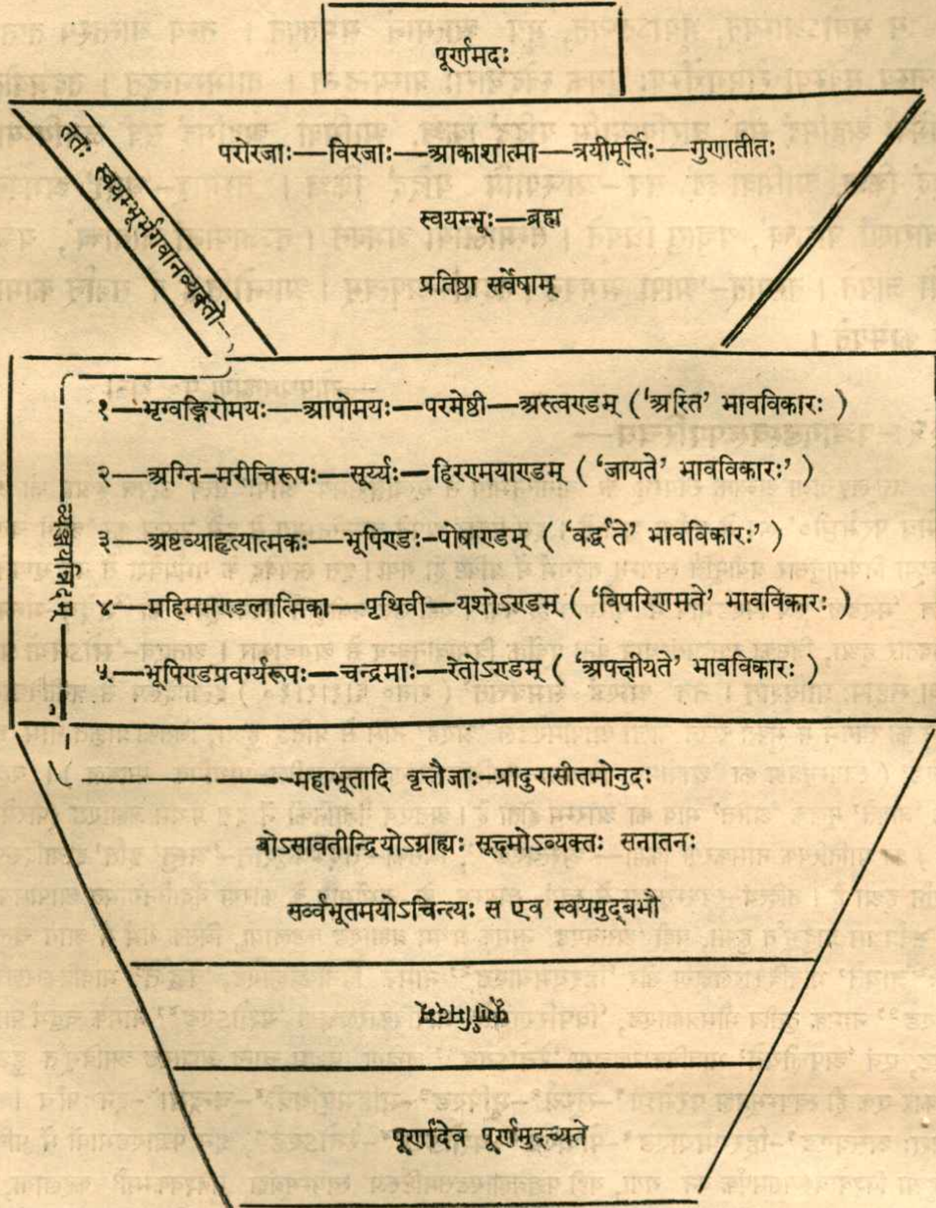
स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तुलवृत्तौजा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आपः '**ऋतमेव परमेष्ठी०**' रूप से सर्वथा ऋत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का '**मदेव–मन्मात्र**' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'**सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत**' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिब्दमान–सलिललक्षण–स्रवणशील–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों नें इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'**अस्त्वण्ड**'', जिसका–'**तदभ्यमृशत्–'अस्तु' इति**' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही 'अस्त्वण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर '**हिरण्मयाण्ड**[२]' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, '**वर्द्धते**' भावविकारलक्षण '**पोषाण्ड**[३]' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, '**विपरिणमते**' भावविकारलक्षण '**यशोऽण्ड**[४]' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं '**अपक्षीयते**' भावविकारलक्षण '**रेतोऽण्ड**[५]' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म **परमेष्ठी**[१]**–सूर्य्य**[२]**–भूपिण्ड**[३]**–महिमपृथिवी**[४]**–चन्द्रमा**[५]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः **अस्त्वण्ड**[१]**–हिरण्मयाण्ड**[२]**–पोषाण्ड**[३]**–यशोऽण्ड**[४]**–रेतोऽण्ड**[५], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म '**विश्वकर्म्मा**' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व '**विशत्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म**' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

पञ्चाण्डसर्गस्वरूपपरिलेखः—



(२३३)–दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त—

अग्निचयनरहस्यस्वरूपविश्लेषिका शातपथी श्रुति के विश्वस्वरूपमीमांसानुगत अण्डसृष्टिप्रकरण में यद्यपि साक्षात्रूप से सौर 'हिरण्मयाण्ड' नामक दूसरे अण्ड का उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल अस्त्वण्ड–पोषाण्ड–यशोऽण्ड–रेतोऽण्ड, इन चार अण्डों का ही कमिक स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तथापि इस अण्डसृष्टिप्रकरण में क्योंकि 'अस्त्वण्ड' रूप पारमेष्ठ्य अण्ड के अनन्तर ही-'**ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या। मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म**' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण सौरपुरुषाग्नि का क्रमिक निरूपण हुआ है, जो कि निश्चयेन क्रमसिद्ध हिरण्मयाण्ड ही है। अतएव हमनें समन्वयदृष्ट्या अस्त्वण्ड के अनन्तर, तथा पोषाण्ड के पूर्व अनुक्त भी सौर जगत् का 'हिरण्मयाण्ड' नाम से समावेश मान लिया है। अवश्य ही यहाँ हिरण्मयाण्ड अनुक्त है, किन्तु अन्यत्र इसका इसी क्रम से समावेश हुआ है। केवल प्रमाणभक्ताविष्टों को शतपथ के एकादशकाण्ड में प्रतिपादित 'दर्शपौर्णमासविज्ञान' ब्राह्मण का ही अवलोकन करना चाहिए, जहाँ विस्पष्ट शब्दों में आपोमय परमेष्ठी के अनन्तर ही आपोमय समुद्र के गर्भ में सम्वत्सराधिष्ठाता 'हिरण्मयाण्ड' सर्ग का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निदर्शन निम्नलिखित ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा—

आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास (सरित्–इरा–इति सलिलम्- द्रवभावापन्नाः–आपः–एव सरिराः–सलिलाः- तदेव सलिलम्)। ता अकामयन्त, कथं नु प्रजायेमहीति, ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु–'हिरण्मयाण्डं'–सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला (इदानीम्), तावत् पर्य्यप्लवत। ततः सम्वत्सरे * (दिव्यवर्षसहस्रावधि–अनन्तरं) पुरुषः (सूर्य्य-पिण्डात्मकः) समभवत्। स प्रजापतिः (सौरहिरण्यगर्भप्रजापतिः) अजायत।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

---

* अण्डात्मक पिण्डों के निर्म्माण में कितना समय लगा?, इस प्रश्न का समाधान कालानुगत एकमात्र वह 'सम्वत्सर' शब्द ही है, जिसको शास्त्रकारोंनें सर्गस्वरूपभेदतारतम्य से विचाली माना है। एक बिन्दु से आरम्भ कर पुनः उसी बिन्दु पर परिभ्रममाण चक्र का आ जाना ही सम्वत्सरकाल का पारिभाषिक समन्वय है। अपने अक्षपरिभ्रमण के अनुपात से भूपिण्डानुगत दैनंदिनगतिलक्षण परिभ्रमण चतुर्विंशतिहोराकाल (२४ घण्टों) में हो जाता है। अतः भूपिण्डदृष्ट्या एक अहोरात्र भी एक सम्वत्सर मान लिया जायगा। अमुक महर्षि ने ३६००० वर्ष तप किया, इसका अर्थ होगा ३६००० दिन, अर्थात् सौ वर्ष, अर्थात् यावज्जीवन। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध '**दीर्घसत्र**' नामक सहस्रसमसत्र (एक हजार वर्षात्मक यज्ञ) के सम्बन्ध में भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में इसी पार्थिवस्वाक्षपरिभ्रमणनिबन्धन एक अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से वहाँ 'वर्ष' से 'अहः' का संग्रह करते हुए-'**अहर्वाविसंख्यानात्**' सिद्धान्त ही स्थापित किया है, जिसका निष्कर्षार्थ होता है केवल एक हजार दिन। चान्द्रकक्षा हमारे (पार्थिव) २७ दिन तथा कुछ समय से अनुप्राणित है। अतः वह पितरों का एक अहोरात्र, हमारा एक मास माना गया है, जो चक्रानुपात से वर्ष भी है। सौर-

(शेष पृष्ठ ३७० पर देखिए)

(२३४)–भावविकारानुगत अण्डवृत्त—

षड्भावविकारों में से अस्ति[1]–जायते[2]–वर्द्धते[3]–विपरिणमते[4]–अपक्षीयते[5], इन पाँचों का क्रमिक सम्बन्ध पाँचों अण्डविवर्तों के साथ बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में भी एक विशेषता का समन्वय कर लेना प्रासङ्गिक बन जाता है। प्राकृतिक महासर्गात्मक विश्वपर्वसर्गों में प्रथम 'अस्ति' है, अनन्तर 'जायते' है। सत्तापूर्विका भाति ही अस्ति, और जायते का तात्पर्य्य है। सत्तापूर्वक ज्ञान, ज्ञानपूर्विका सत्ता, ये सुप्रसिद्ध दो दार्शनिक दृष्टिकोण हैं। प्रश्न है कि, वस्तुओं की स्वरूपसत्ता है, इसलिए हम उन्हें जानते हैं !, अथवा तो हम वस्तुस्वरूप जानते हैं, इसलिए वे हैं ?। अन्तर्जगत्–बहिर्जगत् भेद से दोनों प्रश्न समाहित हैं। ईश्वरीय जगत्–रूप आधिदैविक जगत् की दृष्टि से सत्तापूर्विका ही भाति है, सत्तापूर्वक ही ज्ञान है। अतएव तद्रूप बहिर्जगत् की दृष्टि से हमें–**'वह है, इसलिए हम उसे जानते हैं'**, इस **'सत्तापूर्वक ज्ञान'** को ही प्रधानता देनी पड़ेगी। जैवजगत्रूप–आध्यात्मिक जगत् ही दृष्टि से भातिपूर्विका ही सत्ता है, ज्ञानपूर्वक ही सत्ता है। अतएव तद्रूप अन्तर्जगत् की दृष्टि से हमें **'हम जानते हैं, इसलिए वह है'** इस **'ज्ञानपूर्विका-सत्ता'** को ही प्रधानता देनी पड़ेगी, जिसके आधार पर वैदिकदर्शनशास्त्रियों का सुप्रसिद्ध–**'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्'**÷ नामक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, हमें जो कुछ भी (परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-चर–अचर–आदि) प्रतीत हो रहे हैं; उन सब का निर्म्माण हमारे प्रज्ञानज्ञान से हो हुआ है। हमारे ही ज्ञान ने सम्पूर्ण भातियों–प्रतीतियों का स्वरूपनिर्म्माण किया है, जैसा कि **'अहं मनुरभवम्–अहं सूर्य्य इवाजनि०'** इत्यादि राद्धान्तों से प्रमाणित है। 'है' इसलिए 'उत्पन्न' होता है, जो उत्पन्न वस्तुजात भाति-प्रतीति का कारण बनता है, इस ईश्वरीय दृष्टिकोण के अनुसार भावविकारों का–**'अस्ति–जायते–वर्द्धते०'** इत्यादि क्रम माना जायगा। 'जानते हैं' इसलिए है, उत्पन्न हो गया–इसलिए है, इस जैव दृष्टिकोण के माध्यम से भावविकारों का–**'जायते-अस्ति-वर्द्धते०'** इत्यादि क्रम माना जायगा, जो कि क्रम नैगमिक विज्ञानव्याख्या से सर्वथा शून्यं-शून्यं दर्शनाभासलक्षण आचारमीमांसाबहिष्कृत, अतएव सर्वात्मना अनुपादेय-उपेक्षणीय वर्त्तमान दार्शनिक सम्प्रदाय में माना जा रहा है।

(पृष्ठ ३६६ का शेष)

सम्वत्सरवेला का भोग ३६५ अहोरात्र, तथा कुछ समय से अनुप्राणित है। अतएव वह देवताओं का एक अहोरात्र, हमारा एक वर्ष माना गया है, जो सौरानुपात से वर्ष भी है। ऐसे देवताओं के एक अहोरात्र के ३० तीस विभागों की समष्टि एक देवमास (अर्थात् हमारे सौर ३० वर्षों का देवताओं का एक मास), ऐसे द्वादश देवमासों की समष्टि देवताओं का एक वर्ष, ऐसे १०० वर्षों की समष्टि पारमेष्ठ्य पितरों का एक अहः, और यही पारमेष्ठ्य अहःरूप सम्वत्सरसौरपिण्डनिर्म्माण की अवधि है, जो मानवकालानुपात से अर्बों-खर्बों पर ठहरती है। यही व्यवस्था पृथिवी–चन्द्रमा आदि के स्वरूपनिर्म्माण के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। श्राद्ध-विज्ञान तृतीय खण्ड में, तथा प्रथम खण्ड में सर्वविध अहोरात्रों की स्वरूपदिशा प्रतिपादित है। विशेष जिज्ञासुओं को तन्निबन्ध ही देखने चाहिए।

÷ इस वैदिक दृष्टिकोण का निरूपण खण्डद्वयात्मक **'हमारे संशय, और उनका निराकरण'** नामक **'संशयतदुच्छेदवाद'** ग्रन्थ में **'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्'** नामक अवान्तर प्रकरण में द्रष्टव्य है।

(२३५)—भावविकारों के साथ अण्डस्वरूपसमतुलन—

क्या मूल है भावविकारों का अण्डसर्गों के साथ समन्वय बतलाने में ?, प्रश्न की मीमांसा का उत्तरदायित्व हम पाठकों की प्रज्ञा पर ही छोड़ते हैं। जब वे स्वयं श्रौत सर्गमीमांसा का क्रमिक अवलोकन करेंगे, तो एवंविध सामान्य प्रश्नाभास स्वतः ही समाहित हो जायँगे। अभी अपना कुतूहल उपशान्त करने के लिए इतना जान लेना ही पर्य्याप्त होगा कि, श्रुति का **'अस्त्विति'** भाव ही÷ 'अस्ति' इस प्रथम भावविकार का मूल है। **'सर्वस्याग्रमसृज्यत'** वचन ही **'जायते'** इस द्वितीय भावविकार का मूल है, जिसका **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** इत्यादि हिरण्यगर्भप्रजापतिप्रतिपादक मन्त्र से भी समर्थन हुआ है। मन्त्रोपात्त **'जातः'** 'जायते' का स्पष्ट ही संग्रह कर रहा है। **'इयं वै पृथिवी पूषा-पुष्टिर्वै पूषा-तमभ्यमृशत्-पुष्यतु-इति''** इत्यादि वचन तीसरे पोषणात्मक 'वर्द्धते' भावविकार का मूल प्रमाणित हो रहा है। पार्थिव महिममण्डलरूप सम्वत्सरचक्र अपने सहज परिभ्रमण से प्रतिक्षण विपरिणामी है। अतएव **'तद् भूमिं व्यवर्त्तयत्'** इत्यादि पार्थिव परिभ्रमणप्रतिपादक श्रौतवचनानुसार चौथे 'विपरिणमते' भावविकार का संग्रह हो रहा है। **'अपक्षयभाजो वै पितरः-चन्द्रमाः पितरः-मन इव हि पितरः'** इत्यादि श्रौतवचन पाँचवें 'अपक्षीयते' नामक भावविकार के संग्राहक बने हुए हैं। और इस प्रकार पाँचों भावविकार पाँचों अण्डों से समतुलित हो रहे हैं, जिन पाँचों अण्डों की मूलप्रतिष्ठा ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषयवेदमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म माने गए हैं।

पारमेष्ठ्य **अस्त्वण्ड**, सौर **हिरण्मयाण्ड**, भौम **पोषाण्ड**, इन अण्डों के स्वरूप का पूर्व की गोपथश्रुति के द्वारा, तथा चयनरहस्यान्तर्गत षष्ठ काण्ड के प्रथम ब्राह्मण के द्वारा संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब शेष रह गए भूमहिमारूप यशोऽण्ड, तथा चन्द्रमारूप रेतोऽण्ड, ये दो अण्डसर्ग। इनका स्वरूप कथं निष्पन्न हुआ ?, दो शब्दों में शातपथीश्रुति के आधार पर इन दोनों का भी संक्षिप्त स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वयम्भू के वागग्नि से आपोमय भृग्वङ्गिरोलक्षण परमेष्ठीरूप अस्त्वण्ड का आविर्भाव हुआ। इसके आपः भाग के अग्नि, तथा मरीचि नामक आपः के समन्वय से सौरसंस्थारूप हिरण्मयाण्ड का सर्जन हुआ। इसके आन्तरिक्ष्य अग्नि से संक्षरित आपः की घनता के द्वारा वायुसहयोग से अष्टावयव भूपिण्डात्मक पोषाण्ड का स्वरूपनिर्म्माण हुआ, जिसके गर्भ में—**'यथाग्निगर्भा पृथिवी'** इस यजुःश्रुति के अनुसार गर्भ में अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अग्निगर्भा जो भूपिण्ड 'अर्णवसमुद्र' नामक 'मर' नामक आपः के गर्भ में समाविष्ट रहता हुआ कालान्तर में भूपिण्ड को इसके महिमामण्डल के माध्यम से इसे **'सागराम्बरा'** उपाधि से समलंकृत करने वाला है। पोषाण्डलक्षण भूपिण्ड के इसी अग्न्यापोमय स्वरूप को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें पार्थिव यशोऽण्ड, एवं चान्द्ररेतोऽण्ड, दोनों का स्वरूपसमन्वय करना है।

अष्टावयवभूपिण्ड को उत्पन्न कर अपने इस पोषाण्ड के आधार पर तद्गर्भीभूत हृदयस्थ पार्थिव प्रजापति ने आगे जाकर यह कामना की कि, "मेरे गर्भ में पिण्डस्वरूपसम्पादक चित्य-क्षर-अग्नि का आधारभूत जो चितेनिधेय-अक्षररूप-प्राणाग्नि है, उससे 'वायु' उत्पन्न हो, इस वायु से अन्ततोगत्वा प्राणात्मक आदित्य का आविर्भाव हो, एवं इस प्रकार प्राणाग्नि-प्राणवायु-प्राणादित्यरूप देवसमष्टि से मैं पार्थिव महिमामण्डलरूप में परिणत होता हुआ 'यशोऽण्ड' रूप में परिणत हो जाऊँ"। **तथैवाभूत्। तथैव समजायत प्रजापतिः। ततो यशोऽण्डसर्गः समजायत।**

(२३५)-भूमिण्ड, और पृथिवी—

भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि का हृन्द-यम्-लक्षण हृत्प्रतिष्ठ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-मूर्त्ति अन्तर्य्यामी के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा के आधार पर आगति-गतिरूप-इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से तथाकथित पार्थिव आपः के आधार पर ऊर्ध्व वितान होता है, जिस वितान को साङ्केतिक भाषा में 'प्रथन' कर्म्म कहा गया है, जिसका लौकिक अर्थ है—'फैलाव-विस्तार'। इस प्रथनभाव के कारण ही यह वितत भौमाग्निमण्डल **'यदप्रथयत्-तस्मात् पृथिवी'** इत्यादि नैगमिक निर्वचन के अनुसार **'पृथिवी'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिस प्रकार किसी महामानव की महिमा ही उसका 'यश' कहलाता है, तथैव यह महिमामण्डल भौमप्रजापति का क्योंकि यशः-स्थानीय ही है। अतएव इसे वैज्ञानिकों नें **'यशोऽण्ड'** नाम से व्यवहृत किया है। **'इन्द्रश्च विष्णू यदप-स्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्'** के अनुसार यह पार्थिववितानलक्षण प्रथनभाव स्तोमभेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो जाता है। त्रिवृत्-पञ्चदश,-एकविंश, इन तीन स्तोमों से अनुप्राणित पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-नामक तीन पार्थिव लोकों में अग्नि के क्रमशः अग्नि (घनाग्नि)-वायु-(तरलाग्नि) आदित्य (विरलाग्नि), ये तीन स्वरूप व्याप्त हो जाते हैं, यही भौम अग्नि का त्रिधा वितान है, जिसका स्वरूपविश्लेषण पूर्व में 'वैश्वानर' स्वरूप के प्रसङ्ग में भी किया जा चुका है, एवं पूर्व परिच्छेदों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञसंज्ञक ससंज्ञ जीवात्मा के स्वरूपप्रसङ्ग में भी विश्लेषण किया जा चुका है। भूकेन्द्र से २१वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त ९-१५-२१ स्तोमात्मक पृ० अ० द्यौः-इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टिरूपा महिमालक्षणा यह पृथिवी ही भूपिण्ड का वह यशोऽण्ड है, जिसके अन्त में आदित्य प्रतिष्ठित है, अतएव **'आदित्यो वै यशः'** रूप से अन्त के आदित्यसम्बन्ध से भी इस मण्डलमात्र को 'यशोऽण्ड' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

(२३६)-युग्म-अयुग्म-स्तोमस्वरूपपरिचय—

'किं तत् सहस्रमिति?, इमे लोकाः इमे वेदाः, **अथो वागिति ब्रूयात्'** इत्यादि पूरकश्रुत्युक्त वाक्-तत्त्व के साथ ही उस सुप्रसिद्धा **'वाक्षट्काररूपा' 'वषट्कारविद्या'** का सम्बन्ध है, जिसके आधार पर **अयुग्म-स्तोम-युग्मस्तोम,** रूप से पार्थिव महिमामण्डल का द्विधा वितान हुआ करता है। **त्रिवृत्[1] -पञ्चदश[2]-एक-विंश[3]- त्रिणव[4]-त्रयस्त्रिंश[5]-चतुस्त्रिंश[6]** (९-१५-२१-२७-३३-३४) ये अयुग्मस्तोम हैं, इन्हीं वाङ्मय षट्स्तोमों से वाङ्मय विवर्त्त 'वषट्कार' (वाक् का षट्कार) कहलाया है। गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्र **चतुर्विंश स्तोम,** त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित त्रैष्टुभ **चतुश्चत्त्वारिंशस्तोम,** एवं जगतीछन्द से छन्दित जागत **अष्टाचत्त्वारिंश-स्तोम,** (२४[1]-४४[2]-४[3] स्तोम) इन तीन स्तोमों की समष्टि हीं युग्मस्तोम कहलाए हैं, जो छन्दःसम्बन्ध से **'छन्दोमास्तोम'** नाम से व्यवहृत हुए हैं, एवं जिनके आधार पर प्रतिष्ठित वैध छन्दोमायज्ञ से शतायुर्मानव की आयु में ४८ वर्ष की वृद्धि हो जाया करती है। तात्पर्य, पार्थिवतत्त्वों के वितान की अन्तिम सीमा ४८वाँ अहर्गण माना गया है, जो अन्तिम पृष्ठ **'ब्रह्मपृष्ठ'-'पारावतपृष्ठ'** आदि पारिभाषिक नामों से व्यवहृत हुआ है। २१ पर्य्यन्त अग्नि, २७ पर्य्यन्त पार्थिव भास्वर सोम, ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम, इस प्रकार ३३ पर्य्यन्त व्याप्त अयुग्मस्तोमों में पार्थिव अग्नीषोम वितत रहते हैं, जो एक स्वतन्त्र पार्थिवमण्डल है। ३४वाँ स्तोम अग्नीषोमसंग्रहात्मक प्राजापत्यस्तोम है, जिसे **'सर्वस्तोम'** भी कहा गया है। इसी के लिए—**'चतुस्त्रिंशः-प्रजापतिः'** यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। और यही अग्नि, सोम, नामक हृच अक्षरों का अयुग्मस्तोमानुगत-

चाक्षुषट्कारलक्षण–स्वतन्त्र पार्थिव विवर्त्त है, जिसमें महाविश्वानुगता त्रैलोक्यत्रिलोकी का उपभोग सुसमन्वित हो रहा है, जो पार्थिव स्वरूप से सम्बन्धित एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। दुर्भाग्य है यह इस राष्ट्र का कि, अपनी मौलिक निगमरहस्यपरम्परा को विस्तृत कर आज इसने अपना सर्वस्व विस्मृत कर दिया है, जिसके फलस्वरूप वर्त्तमान उन जडविज्ञानवादियों की आपातरमणीया सर्वथा भ्रान्तदृष्टि में निगमयुग का वह जगद्गुरु भी भारतवर्ष आज आलोच्य प्रमाणित हो रहा है।

(२३७) आदर्शोदरसन्निभा भगवती, और आलोचक—

कुछ समय पूर्व अमुक स्थान से अमुक भारतीयों के ही प्रयास से **'विश्वभारती'** नामक एक खण्ड–चतुष्टयात्मक महान् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि, भारतीय मौलिक संस्कृति के गच्छतःस्खलन-रूप आचारमीमांसाशून्य (नैगमिक व्याख्याशून्य) केवल वर्त्तमान दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुप्राणित कुछ एक परिमित लेखों को छोड़ कर उस विश्वभारती में वर्त्तमान क्षणिक विज्ञानवादियों के उच्छिष्ट का ही समावेश था, जिन में स्थान स्थान पर उनकी काल्पनिक मान्यता के आधार पर पूर्वजों को पाषाणयुग लौहयुग–आदि काल्पनिक युगों से समतुलित करते हुए तत्सम्पादकों तल्लेखकोंनें पश्चिम के विज्ञान का ही यशोगान किया है। यशोगान का हम समादर करते हैं। किन्तु इसके साथ उन्होंनें जो अपनी कहानियों में (पृथिवी कीकहानी, सूर्य्य की कहानी, आदि में) भारतीय निगमागममान्यताओं की उपहासात्मिका आलोचना की है, उसे देखते हुए अच्छा था वे उस निम्बन्ध का **'विश्वभारती'** नामकरण न कर– **'प्रतीच्योच्छिष्टगुणगाथा'** ही नाम स्थापित कर 'भारती' नाम के तो गौरव को अक्षुण्ण बचाए रखने का महत्पुण्यार्जन कर लेते। आस्तां तावत्। अपनी कहानियों में तन्निबन्धों के मान्य लेखकोंनें पौराणिक मान्यताओं का नग्न उपहास किया है। उदाहरण के लिए —**"पृथिवी कछुए की पीठ पर है, चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है, आदि पौराणिक मान्यताओं से प्रभावित मानव जब वर्त्तमान प्रत्यक्ष विज्ञानों के आधार पर वास्तविक स्थिति पर पहुँचता है, तो उसे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है, और अपनी मान्यताओं के प्रति स्वयं ही उसकी अश्रद्धा हो जाती है"** इत्यादि भावाभिव्यक्ति ही पर्य्याप्त मान ली जायेगी।

कहते हैं, जब बनारस के क्विंस कालेज में किसी भारतीय के द्वारा यह प्रस्ताव उपस्थित हुआ कि "यहां पौराणिक भूगोल का भी शिक्षापद्धति में समावेश होना चाहिए", तो किसी तत्रत्य पाश्चात्य विद्वान् ने उपहासपूर्वक मन्दहास करते हुए ये उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया था कि "जो पुराण पृथिवी पर सात समुद्र मानता है, जिस पुराण के पार्थिव द्वीपोपद्वीपों का परिमाण असंख्य क्रोशात्मक है, जो पुराण समुद्रों को दूध–दही–शहद–आदि से परिपूर्ण मानने की कल्पना में विभोर है, जो कभी सर्प के फण पर, तो कभी कछुए की पीठ पर पृथिवी को प्रतिष्ठित मानता है, जो पुराण चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर मानता है, जिसकी दृष्टि में पृथिवी आदर्शोदरसन्निभा है*, जो पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य्य मानता है, इत्यादि इत्यादिरूपेण जो पुराण सर्वात्मना कल्पनाप्रधान प्रमाणित होता हुआ प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान के सर्वथा

---

* **'आदर्शोदरसन्निभा भगवती' [पृथिवी]**

विरुद्ध हैं, उस पौराणिक भूगोल को शिक्षापद्धति में समाविष्ट करके क्या आज के इस सभ्यता के युग में मानव के परिष्कृत मस्तिष्क को विकृत करना है"। प्रस्ताव उपस्थित करने वाले किसी उस अज्ञात पुराणभक्त भारतीय के द्वारा प्रतीच्यविद्वान् के इस काल्पनिक आक्रमण का उस समय कोई अवरोध नहीं हो सका। निगम-शास्त्रसिद्ध सृष्टिरहस्यविज्ञानशून्य, केवल व्याकरण–नव्यन्याय–साहित्यादि परिशीलन में हीं अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने वाले तद्भारतीय के कोश में आक्रोशनिरोध के लिए शेष रह भी क्या गया था ?, सिवाय इसके कि वे मौनरूप से वहाँ से पलायित ही हो जाते।

एकमात्र निगमनिष्ठा के माध्यम से हमें इन अप्रासङ्गिक उद्गारों का अनुगामी बनना पड़ा। पौराणिक सर्गक्रम, उसकी **'भुवनकोशविद्या'** (भूगोलविद्या), **ज्योतिश्चक्रविद्या'** (खगोल), **दगार्गलविद्या**, आदि आदि का उन निगमविद्याओं के साथ समसमन्वय है, जिस पर कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता। हम जानते नहीं, एतावता ही निगमविद्यामूलिका पौराणिकविद्या उपहास, किंवा आलोचना का क्षेत्र बन जाय, तब तो हमें भी अपने नैगमिक दृष्टिकोण के आधार पर यह कह देने की धृष्टता कर ही लेनी चाहिए, निःसंकोच रूपेण कर ही लेनी चाहिए कि, जिसे वर्त्तमान विज्ञानवादी 'पृथिवी' 'पृथिवी' नाम से घोषित करता है, वह वस्तुतः है–'भूपिण्ड'। उनकी कल्पित कहानियाँ पृथिवी की कहानियाँ नहीं हैं, अपितु भूपिण्ड की कहानियाँ है। पृथिवी का वास्तविक स्वरूप क्या है ?, उसकी पावनगाथा क्या है !, यह तात्त्विक दृष्टिकोण उन प्रत्यक्षवादियों की भूतदृष्टि के लिए तदवधिपर्य्यन्त सर्वथा असमाधेय प्रश्न ही बना रहेगा, यदवधिपर्य्यन्त वे निगमानुमोदित सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व ही प्रतिच्छाया से उपकृत नहीं हो जायँगे। तब उन्हें अवश्य ही उन यच्चयावत् पौराणिकसर्गों के प्रति अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ेगा, जिन्हें वे अभी अपनी भूताविष्टदृष्टि के निग्रह से काल्पनिक मानने, मनवाने की अक्षम्या भ्रान्ति कर रहे हैं। निगमपुरुष से यही कामना है कि, 'मानव' मात्र के अभ्युदय की माङ्गलिक कामना का विधान करने वाले उस वेदपुरुष के अनुग्रह से शीघ्र से शीघ्र वर्त्तमान मानव निगमनिष्ठा का अनुगामी बने, एवं तदाधारेण वह इस रहस्य को हृदयङ्गम करता हुआ प्रत्यवायमूला अपनी भ्रान्तियों का उन्मूलन करता हुआ पृथिवी की कहानी का वास्तविक मर्म्मज्ञ उपासक बने, जिसकी उपासना में ही मानव का अभ्युदय–निःश्रेयस् सुरक्षित है। वह कूर्म्मप्रजापति अवश्य ही वास्तविक जिज्ञासु मानव की तथाविधा सात्त्विक कामना पूर्ण कर सकता है, जिसके कठोर अश्माखण्ड पृष्ठ पर पार्थिव विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं।

'यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्' (शत० ६।१।१।१२)–**'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत'**–इत्यादि श्रौतवचनानुसार सौर ज्योतिर्म्मय वह द्यावापृथिव्य पश्यककर्म्मा 'कश्यप नाम से प्रसिद्ध–अर्णवसमुद्रस्थ अग्निरापोमय तत्त्व ही तो वह कूर्म्म है, जिसके आधार पर सूर्य्य का प्रवर्ग्यभूत भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। भूपिण्ड का महिमालक्षण रूप ही पृथिवी है, जिसमें त्रैलोक्य–त्रिलोकी का उपभोग बतलाया गया है। इस पृथिवी के महामहिमारूप विशाल स्वरूप का कुछ अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि, इसके आदित्य-प्राणात्मक एकविंश (इक्कीसवें) अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है, जैसा कि—**'एकविंशो वा इत आदित्यः'** इत्यादि वचन से प्रमाणित है। यह एकविंशस्तोम ही प्राणात्मिका पृथिवी का पुराणभाषानुगत पुरुकर नामक आपोमय द्वीप का उपक्रमस्थान है, जिसे पुरकरत्वात् परोक्षभाषा में 'पुष्करद्वीप' कहा गया है। अवश्य ही प्राणपृथिवी के इस पुष्करद्वीप में हीं सूर्य्य प्रतिष्ठित है। प्राणपृथिवी के त्रिणव (२७) स्तोम पर वह भास्कर-सोम प्रतिष्ठित है, जिसका अत्रिप्राणात्मक पिण्डरूप ही चन्द्रमा कहलाया है, जिसका रेतोऽण्ड से सम्बन्ध

है। एकविंशस्थ सूर्य्य से परे २७वें स्तोम में क्योंकि पार्थिव सोम का साम्राज्य है, यही–भूउपग्रहात्मक चन्द्रपिण्ड का उपादान बनता है। इसी सजातीयानुबन्ध से पुराणने चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर प्रतिष्ठित मान लिया है। महापृथिवी के आग्नेयविवर्त्त की दृष्टि से ही **'आदर्शोदरसन्निभा भगवती'** यह पौराणिक सिद्धान्त समन्वित है। दधि–मधु–घृत–क्षीरादि सुसूक्ष्म रसमात्राओं से समन्वित परिपूर्ण आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्र के वायुभेदनिबन्धन सप्त अवान्तर स्तर ही सप्त समुद्र हैं, जो भूपिण्ड को ही पृथिवी मान बैठने वाले प्रत्यक्षवादियों की जड़विज्ञान-दृष्टि से सदा परोक्ष–अज्ञात ही बने रहेंगे। इन सब पौराणिक रहस्यों का स्वरूपदिग्दर्शन एक स्वतन्त्र निबन्ध-सापेक्ष है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत करते हुए पुनः हम प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं।

(२३८)–यावद्ब्रह्मविष्ठितं, तावती वाक्—

जैसाकि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम, इन पञ्चाक्षरों की समष्टि से भूतपिण्ड का स्वरूप प्रतिष्ठित रहा करता है। पाँचों में से अग्नि–सोम से सम्बन्धित अयुग्म-स्तोमानुगत पृथिवीविवर्त्त एक स्वतन्त्र विभाग है। एवं ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–इन तीन अक्षरों से अनुप्राणित पार्थिव महिमविवर्त्त का एक स्वतन्त्र विभाग है, जिसके आधार पर 'विष्टप्स्वर्गव्यवस्था' व्यवस्थित हुई है। २४ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का प्राधान्य, ४४ पर्य्यन्त विष्णवक्षर का प्राधान्य, एवं ४८ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का प्राधान्य है, जिसके लिए-**'यावद्ब्रह्मविष्ठितं–तावती वाक्'** प्रसिद्ध है। ये ही सुप्रसिद्ध **'इन्द्रविष्टप्–विष्णुविष्टप्–ब्रह्मविष्टप्'** नामक तीन स्वतन्त्र विष्टप् हैं, जो क्रमशः त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महाविश्व के रोदसी–क्रन्दसी–संयती नामक त्रिलोकियों से समतुलित हैं। केवल महापार्थिव विश्व में ही–**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** सिद्धान्तानुसार २४–४४–४८ भेद से रोदसी–क्रन्दसी–संयती लोकों का उपभोग हो रहा है। वैसे तो **पृथिवी, गयात्री, जगती, मही, सागराम्बरा, मेदिनी, धरा, धरित्री, धरिणी उर्वी,** आदि सभी पृथिवी के ही पर्य्याय मानें जा सकते हैं। किन्तु सुसूक्ष्मदृष्ट्या ये शब्द महापृथिवी के तत्तद्विशेषस्तौम्यप्राणों के विभेद से विभिन्न पार्थिवसंस्थानों के ही वाचक मानें जायँगे। यही पोषाण्डरूप भूपिण्ड के आधार पर प्राणाक्षरपञ्चक के वितान के कारण वितत महिमलक्षण यशोऽण्डरूप चतुर्थ सर्ग का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है, जिसके साथ ही पञ्चम रेतोऽण्डरूप चन्द्रसर्ग भी गतार्थ बन जाता है। शतपथब्राह्मण षष्ठकाण्ड–१ प्रपाठक–१ अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण ही इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है, जिसकी व्याख्या विस्तारभिया अत्र अशक्य मान ली गई है। यही है विश्व के स्वरूप की वह तत्त्वपूर्ण मीमांसा, जिसके भूपिण्डरूप तृतीय पर्व, पृथिवीरूप चतुर्थपर्व, चन्द्रमारूप पञ्चमपर्व से सम्बद्ध पोषाण्ड–यशोऽण्ड–रेतोऽण्ड–भावों का यही संक्षिप्त स्वरूपप्रदर्शन है, जो परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण–पृथिवी–स्वरूपपरिलेखः—

९–	१	अष्टाचत्त्वारिंशस्तोमः–	(४८)	ब्रह्माक्षरप्रधानः	—हृदयस्तोमत्रयी३ (संयतीपृथिवी)
८–	२	चतुश्चत्त्वारिंशस्तमः–	(४४)	विष्ण्वक्षरप्रधानः	
७–	३	चतुशर्विंस्तोमः	(२४)	इन्द्राक्षरप्रधानः	
६–	१	चतुस्त्रिंशस्तोमः	(३४)	दिक्सोमाक्षरप्रधानौ	—सोमस्तोमत्रयी२ (क्रन्दसीपृथिवी)
५–	२	त्रयस्त्रिंशस्तोमः	(३३)		
४–	३	त्रिणवस्तोमः	(२७)	भास्वरसोमाक्षरप्रधानः	
३–	४	एकविंशस्तोमः	(२१)	अग्न्यक्षरप्रधानाः	] अग्निस्तोमत्रयी३ (रोदसीपृथिवी)
२–	५	पञ्चदशस्तोमः	(१५)		
१–	६	त्रिणवस्तोमः	(९)		

—— ** ——

स्तोमानुगत–महापृथिवी–स्वरूपपरिलेखः—

१	(१)	४८ स्तोमः द्यौः (ब्रह्मलोकः)	संयती–त्रैलोक्याधिष्ठाता ब्रह्मा (ब्राह्मी पृथिवी) —मनोमयी पृथिवी— अत्र स्वयम्भूमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	४४ स्तोमः अन्तिरक्षम् (विष्णुलोकः)	
	(३)	२४ स्तोमः पृथिवी (इन्द्रलोकः)	
२	(१)	३४ स्तोमः द्यौः (प्रजापतिलोकः)	क्रन्दसी–त्रैलोक्याधिष्ठाता विष्णुः (वैष्णवी पृथिवी)—प्राणमयी पृथिवी— अत्र हिरण्यगर्भमनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	३३ स्तोमः अन्तरिक्षम् [दिक्लोकः)	
	(३)	२७ स्तोमः पृथिवी (चन्द्रलोकः)	
३	(१)	२१ स्तोमः द्यौः (आदित्यलोकः)	रोदसी–त्रैलोक्याधिष्ठाता इन्द्रः (ऐन्द्रीपृथिवी) —वाङ्मयी पृथिवी— अत्र विराट्मनुः प्रतिष्ठितः
	(२)	१५ स्तोमः अन्तरिक्षम् (वायुलोकः)	
	(३)	९ स्तोमः पृथिवी (अग्निलोकः)	

प्रकारान्तरेण—भूः-भुवः-स्वः-व्याहृतिलक्षणा-महापृथिवीस्वरूपपरिलेखः—

१–स्वः (४८ स्तोमः–ब्राह्मः)–द्यौः
२–भुवः (४४ स्तोमः-वैष्णवः)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (२४ स्तोमः–ऐन्द्रः)–पृथिवी
ब्रह्मत्रिलोकी —

१ स्वः (द्यौः) .... संयतीत्रैलोक्यम् ३

१–स्वः (३४ स्तोमः प्राजापत्यः)–द्यौः
२–भुवः (३३-२७ स्तोमौ सोम्यौ)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (२१ स्तोमः-आदित्यः)–पृथिवी
विष्णुत्रिलोकी —

२ भुवः (अन्तरिक्षम्) .... क्रन्दसीत्रैलोक्यम् २

१–स्वः (२१ स्तोमः-आदित्य)–द्यौः
२–भुवः (१५ स्तोमः-वायव्यः)–अन्तरिक्षम्
३–भूः (९ स्तोमः-आग्नेयः)–पृथिवी
इन्द्रत्रिलोकी

भूः (पृथिवी ३) रोदसी-त्रैलोक्यम् १

भू — आस्त्वण्ड —
म — हिरण्मयाण्ड —
हि — रैतोऽण्ड —
मा — यशोऽण्डलक्षणा सर्वरूपा महापृथिवी

भूपिण्डः— पोषाण्डरूपः

सर्वलोकसंग्राह्यात्मकः–परिलेखः— मनोताभावानुगतसंग्रहस्वरूपपरिलेखः—

१	१–वेदाः सत्यम्	(वेदाः)—३	स्वायम्भुवमनोतात्रयी	३	स्वयम्भूः–ब्रह्म–अण्डाधिष्ठाता सत्यम्	(७)
	२–सूत्रं सत्यम्	(सूत्रम्)—२				
	३–नियतिः सत्यम्	(नियतिः)—१				
						तपः (६)
२	१–इडा–भावः	(इट्)—३	पारमेष्ठ्यमनोतात्रयी	३	परमेष्ठी (अप्स्वण्डम्)	जनत् (५)
	२–ऊर्क्–भावः	(ऊर्क्)—२				
	३–भोगभावः—	(भोगाः)—१				
						महः (४)
३	१–ज्योतिष्टोमः	(ज्योतिः३३)—३	सौरमनोतात्रयी	३	सूर्य्यः (यशोऽण्डम्)	स्वः (३)
	२–गोष्टोमः	(गौः१०००)—२				
	३–आयुष्टोमः	(आयुः३६०००)१				
४	१–यशोभावः	(यशः)—३	चान्द्रमनोतात्रयी	३	चन्द्रमाः (रेतोऽण्डम्)	भुवः (२)
	२–श्रद्धाभावः	(श्रद्धा)—२				
	३–रेतोभावः	(रेतः)—१				
५	१–द्यौर्भावः	(द्यौः)—३	भौममनोतात्रयी	३	भूपिण्डः (पोषाण्डम्)	भूः (१)
	२–गौर्भावः	(गौः)—२				
	३–वाग्भावः	(वाक्)—१				

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि, तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

—छान्दोग्योपनिषत् २ अ० २० खण्ड ३,४ कं० ।

प्रकारान्तरेण—विश्वस्वरूपमीमांसानुगतमहाविश्वस्वरूपपरिलेखः—

तेतजोऽन्नभावानां त्रिवृद्भावेन निष्पन्ना सर्वलोकात्मिका त्रैलोक्यत्रिलोकी—

१
१—स्वयम्भू—स्वः (द्यौः)——सत्यलोकः १
२—अन्तःप्रदेशः-भुवः (अन्तरिक्षम्)—तपोलोकः २
३—परमेष्ठी—भूः (पृथिवी)——जनल्लोकः ३

२
१—अन्तःप्रदेशः-स्वः (द्यौः)—महर्लोकः ४
२—सूर्य्यः—भुवः (अन्तरिक्षम्)—स्वर्लोकः ५
३—चन्द्रमाः—भूः (पृथिवी)—भुवर्लोकः ६

३
१-आदित्या पृथिवी (२१)—स्वः (द्यौः)
२-वायव्या पृथिवी (१५) भुवः (अन्तरिक्षम्)
३-आग्नेयी पृथिवी (६) भूः (पृथिवी
} भूलोकः ७

भूपिण्डः—

१-तेजः—
- तेजः .... सत्यम् (७)—स्वयम्भूः—आकाशः (५)
- आपः .... तपः (६)—सूत्रात्मा——×
- अन्नम् ......

२-आपः— ......
- तेजः .... जनत् (५)—परमेष्ठी—वायुः (४)
- आपः .... महत् (४)—शिवः—×
- अन्नम् ......

-अन्नम्- ......
- तेजः स्वः (३) - सूर्य्यः—तेजः (३)
- आपः भुवः (२)—महादेवश्चन्द्रः—जलम् (२)
- अन्नम् भूः (१)—भूः—पृथिवी (१)

३-स्वः —
- ३-स्वः ...... १-सत्यम् (७)
- २-भुवः ...... २-तपः (६)
- १-भूः
  - ३-स्वः ... ३-जनत् (५)
  - २-भुवः ... ४-महः (४)
  - १-भूः—

२-भुवः — ......

१-भूः — ......
- ३-स्वः-५-स्वः (३)
- २-भुवः-६-भुवः (२)
- १-भूः-७-भूः (१)

संयतीत्रैलोक्यमिदम् १ स्वः

क्रन्दसीत्रैलोक्यमिदम् २ भुवः

रोदसीत्रैलोक्यमिदम् ३ भूः

('त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः')

सर्वलोकपर्व-संग्राहकश्रौतवचनानि——

(१)——पञ्चाण्डसर्गप्रतिष्ठा-प्रभव-परायणमूलं-पञ्चाण्डाधिष्ठातृ-ब्रह्मत्रयीमूर्त्तिः—स्वयम्भूः[1] ।

(१)—सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत—'भूयान्त्स्यां, प्रजायेय', इति । सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत,—त्रयीमेव विद्याम् (ब्रह्मनिःश्वसितरूपामपौरुषेयाम्) । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्मादाहुः—'ब्रह्म' (स्वयम्भूः) अस्य सर्वस्य (अण्डात्मकविश्वस्य) प्रतिष्ठा' इति । प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (स्वयम्भूः) । (शत० ६।१।१।८) ।

——१——

(२)—अण्डचतुष्टयजनकः-जनल्लोकात्मकः-आपोमयः-'अस्त्वण्ड'[1]-रूपः परमेष्ठी[2] (स्वयम्भुरुपग्रहरूपः)

(२)—तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्—यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्—तस्मादापः । यदवृणोत्, तस्याद्वाः [वारिः] । सोऽकामयत—'आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय' इति । सोऽनया-त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तमभ्यमृशत्—'अस्तु'' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (शत० ६।१।१।६, १०) ।

——२——

(३)—अण्डत्रयीजनकः-स्वर्लोकात्मकः—अग्निमयः-'हिरण्यमाण्ड-रूपः'[2]'सूर्य्यः'[3] (परमेष्ठ्युपग्रहरूपः)

(३)—ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या [गायत्रीकमात्रिकसौरवेदविद्या×] । तस्मादाहुः—ब्रह्म (गायत्रीमात्रिकवेदात्मकसौरप्रजापतिः) अस्य सर्व्वस्य (रोदसी-

---

× यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । अथ यदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः—सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः । सैषां त्रय्येव विद्या तपति (गायत्रीमात्रिकरूपा) । (शत० १०।५।२।१,२)

ब्रह्माण्डस्य) प्रथमजम्, इति ÷ । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म । (शत० ६।१।१।१०) आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त–'कथं नु प्रजायेमहि' इति । ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु 'हिरण्मयाण्डं[२]' सम्बभूव । (शत० ११।६।१।१)

——३——

(४)––अण्डद्वयीजनकः––भूलोकात्मकः सर्वभूतमयः–'पोषाण्डरूपः[३]' 'भूपिण्डः[४]' (सूर्य्योपग्रहरूपः)

(४)—अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति, तद् भूमिरभवत् । सोऽकामयत प्रजापतिः (पार्थिवः)–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । सोऽग्निना मिथुनं समभवत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तमभ्यमृशत्–'पुष्यतु[३]' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (शत० ६।१।२।१)

——४——

(५)–'यशोऽण्डरूपा[१]' आग्नेयी–'पृथिवी[२]'

(५)—सोऽकामयत–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । सः (अग्निमूर्त्तिर्मौम-प्रजापतिः केन्द्रस्थः)–वायुना मिथुनं समभवत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'यशो[४]' बिभृहि– इति । ततोऽसावादित्योऽसृज्यत । एष वै यशः । (सैषा अग्नि–वायु–आदित्यरूपा–यशोऽण्डलक्षणा पृथिवी वषट्कारात्मिका) (शत० ६।१।२।३।) ।

——५——

(६)–'रेतोऽण्डरूपः[५]'–सौम्यश्चन्द्रमा[६]:–(भूमेरूपग्रहरूपः)

(६)–सोऽकामयत–'भूय एव स्यात् प्रजायेय' इति । स आदित्येन मिथुनं समभवत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'रेतो[५]' बिभृहि– इति । ततश्चन्द्रमा असृज्यत । एष वै रेतः * । (शत० ६।१।२।४।) ।

——६——

÷ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुःसं० २५।१०।) ।

* विचक्षणात् [चन्द्रमसः] ऋतवो रेत आभृतम् ।

—कौ० ब्रा० उप० १।२।

(२३९)–न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः—

पूर्वोद्धृत **"ओंब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्तु-एकमेव"** (गो० पू० ११) इत्यादि गोपथ-ब्राह्मण-वचन के रहस्यार्थसमन्वय के लिए (देखिए पृ० सं० ३३७) हमें शातपथी श्रुति के प्रासङ्गिक समन्वय के माध्यम से आपोमयी सृष्टि से अनुप्राणित पञ्चाण्डसृष्टि का संक्षिप्त इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा, जिस सृष्टि का मूल बना स्वयम्भूमनु। अव्ययात्मनिबन्धन काममय-मनोमय मनु से कैसे विश्वोत्पत्ति हुई ?, कामना का क्या स्वरूप है ?, अव्ययाक्षरात्मक्षरादि आत्मविवर्त्तों का मौलिक रूप क्या है ?, किन-किन साधन-परिग्रहों से कामना के द्वारा मनुप्रजापति विश्वसर्ग में समर्थ बनते हैं ?, स्तम्भ के आरम्भ से (पृ० सं० १३६ से) अबतक 'विश्वस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों के समाधान-समन्वय की चेष्टा हुई है। मानव जिस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित है, उस विश्व के स्वरूपबोध के बिना क्योंकि मानव की प्रातिस्विक मौलिक प्राकृतिक समस्याओं का समन्वय असम्भव है। अतएव प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध में हमें विश्व की स्वरूपमीमांसा का अनुगमन करना पड़ा, एवं इसी प्रसङ्ग से मानव की मूलप्रतिष्ठालक्षण 'मनु' के मौलिकस्वरूप का इतिवृत्त भी पाठकों के सुम्मुख उपस्थित हुआ। अब इस सम्बन्ध में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) सनातनधर्म्मनिष्ठ आस्थाश्रद्धापरायण भारतीय हिन्दू मानव की **'चतुर्धामयात्रा'** के पावन संस्मरण के आधार पर हम **'विश्वधामचतुष्टयी'** रूप से इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करते हुए इस विश्वमूर्त्ति के प्रति अपनी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं कि–**'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'**।

(२४०)–धामचतुष्टयी-स्वरूपपरिचय—

सनातनप्रजा में **'चारो धामों की यात्रा'** सुप्रसिद्ध है। आस्तिक भावुक मानव इन धामों की यात्रा से जहाँ मनस्तुष्टि का अनुभव करता है, वहाँ आस्तिक नैष्ठिक मानव इन मान्यतानुबन्धी धामों के माध्यम से आस्था-विश्वासानुप्राणित **'विश्वधामचतुष्टयी'** के प्रति अपना आत्मार्पणभाव अभिव्यक्त करता हुआ बुद्धितृप्ति-आत्मशान्ति का अनुगामी बन रहा है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाइए, एवं 'धाम' रूप से इनकी संकल्परूपा यात्रा कर मानवजीवन को निष्ठासमन्वित कीजिए, जिन-विश्वधामचतुष्टयीरूप चारों धामों को हम **'अनन्तधाम[1], परमधाम[2], मध्यमधाम[3], अवमधाम[4]'**, इन अभिधाओं से समन्वित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म को 'अनन्तधाम' माना जायगा, जिसे **'विरज-परोरजा-ब्रह्मलोक'** कहा गया है। परमेष्ठी को 'परमधाम' कहा जायगा, सूर्य्य को 'मध्यमधाम' माना जायगा, एवं सचन्द्र पार्थिव विवर्त्त को 'अवमधाम' घोषित किया जायगा। इन धामों की प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित निगमवचनों की ओर धामयात्राश्रद्धालु-मानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा—

(१)–य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥

(२)–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

(३)–विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥
(४)–किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥
(५)-या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
(६)–विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥
(७)–वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा ॥
—ऋक्संहिता १० मं० । ८१ सूक्त—१ से ७ मन्त्रपर्य्यन्त ।
(८)–यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(९)–परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥
(१०)–तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥
(११)–न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
--ऋक्संहिता १० मण्डल । ८२ सूक्त । ३, ५, ६, ७ मन्त्र ।
१२–अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षड़िमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
१३–तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
—ऋक्सं० १ मण्डल १६४ अस्यवामीयसूक्त–६,१०, मन्त्र ।
१४–तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ॥
—ऋक्सं० २ मण्डल २७ सूक्त ८ मन्त्र ।

विश्वस्वरूपप्रतिपादक उक्त ऋङ्मन्त्रों के रहस्यार्थविश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत निबन्ध का आकार भी बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव प्रकृत में मन्त्र के अक्षरार्थमात्र पर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा। मन्त्र मननीय हुआ करते हैं। न तो अक्षरार्थ से ही ऋषिवाणी का तत्त्व हृदयङ्गम बना करता, नाहीं भाष्य-व्याख्या-सहस्रों से इस आत्मानुगता वाणी का वास्तविक तथ्य आत्मानुगामी बना करता। इसके लिए तो सत्य-अजिह्म-श्रद्धा-अनसूया-आदि भावों के माध्यम से अनन्यनिष्ठापूर्वक विहित दीर्घकालिक स्वाध्याय, तदनुगत ऐकान्तिक मनन ही एकमात्र आर्षपथ माना गया है। वैसे इतर सभी उपाय-साधन केवल तात्कालिक 'कण्डूशान्ति' के अतिरिक्त और कोई स्थिर संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते।

(२४१) 'य इमा विश्वा भुवनानि०' मन्त्रार्थसमन्वय—(१)

(१) (अपने आपकी सृष्टिकर्म्म-सम्पादन के लिए आहुति देने से) होता (नाम से प्रसिद्ध) ऋषि (प्राणमूर्ति) जो हमारा (सम्पूर्ण चर अचर का) पिता (सर्वप्रभव प्रजापति, इन सम्पूर्ण भुवनों को अपने आप में आहुत कर रहा है, वही प्राणमूर्ति पिता प्रजापति (मेरा यह सर्ग समृद्ध बने, इस सहज कामनारूप) आशीः से विश्ववैभव की कामना के लिए, स्वयं प्रथमस्थानीय बनता हुआ अपने अवर सर्गों के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

सर्वश्री सायणाचार्य्य ने मन्त्र का जो भाष्य किया है, उसकी आलोचना इसलिए उपेक्षणीय है कि, उस आलोचना से नैष्ठिक मानव की कोई प्रयोजनसिद्धि नहीं है। **"यो विश्वकर्म्मा-एतन्नामकः ऋषिः-होमं कुर्वन्-सूक्तवाकादिना स्वर्गमिच्छमानः"** इत्यादिरूप से मन्त्रव्याख्यान करते हुए सायण अपनी यह मान्यता व्यक्त कर रहे हैं कि, विश्वकर्म्मा नामक किसी महर्षि ने [मानवने] सर्वमेदस् नामक सर्वहुतयज्ञ से स्वर्गगति प्राप्ति कर ली'। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! पारम्परिक परिभाषाविलुप्ति से वेदार्थसमन्वय के सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति से एकान्ततः विरुद्ध सर्वथा काल्पनिक-निर्म्मूल इस प्रकार का व्याख्यान-भाष्य न होता, तो अधिक श्रेयस्कर था। **'प्राणा वा ऋषयः। ते सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषं-स्तस्माद्दृषयः'** (शत० ६।१।१।१) **'पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य०'** (ईशोपनिषत्)-इत्यादि वचनानुसार मौलिक सन्मूर्त्ति अतएव 'असत्' नामक स्वायम्भुव उस सप्तर्षिप्राण का ही नाम 'ऋषि' है, जो अपने सप्तपुरुष-पुरुषात्मक प्राजापत्यरूप से सर्वसर्गप्रभव बनता हुआ 'विश्वकर्म्मा-स्वयम्भू' आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। जिसके आदान-प्रदानात्मक सर्वाहुतिलक्षण सर्वहुतयज्ञ का-**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत'** (यजुःसं० ३१।७।) इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है, प्रकृत प्रथम मन्त्र ऋषिप्राणमूर्ति-सर्वहुतयज्ञाधिष्ठाता त्रयीवेदलक्षण सप्तपुरुषपुरुषात्मक इसी स्वयम्भू के सर्ग की रूपरेखा व्यक्त कर रहा है, जिसके इस आम्नायसिद्ध क्रम के विस्मृत हो जाने से ही व्याख्याताओंनें भावुकता के आवेश में आकर **'मामयं प्रहरिष्यति'** को ही अन्वर्थ बना डाला है। सम्पूर्ण भूतों को अपने आप में आहुत कर लेना, अपने आप को 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सम्पूर्ण भूतों में आहुत कर देना, सृष्टि का त्रिवृत्करणात्मक, तथा पञ्चीकरणात्मक सहज क्रम ही तो उस 'सर्वहुत' नामक यज्ञक्रतु का स्वरूपसम्पादक बना करता है, जिसके आधार पर **'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'प्रजापतिरेवेदं**

सर्वं यदिदं किञ्च, सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः, इत्यादि सञ्चर (सर्ग)-प्रतिसञ्चर (प्रतिसर्ग) भावद्वयी के समर्थक वचन प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित ब्राह्मणवचन के द्वारा सर्वाहुतिलक्षण जिस स्वायम्भुव यज्ञ का स्वरूप-व्याख्यान हुआ है, प्रस्तुत-'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः' इत्यादि प्रथम मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्त—'अहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि [हुत्वा] सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं-स्वाराज्यं-आधिपत्यं-पर्यैत्। परमो वा एष यज्ञक्रतूनां, यत्सर्वमेधः [सर्वहुतः]।"

—शत० १३,७,१,१,२।

(२४२) किंस्विदासीदधिष्ठानम्० मन्त्रार्थसमन्वय—(२)

(२) (सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक-यज्ञाधिष्ठाता ऋषिप्राणमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा प्रजापति ने भुवन उत्पन्न किए, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार इन अवर भुवनों में वह प्रथमच्छत् स्वयम्भू ब्रह्म प्रविष्ट हो गए, इस प्रकार से सर्वात्मना 'विश्वकर्म्मा'– 'विश्वेश्वर' उपाधि से अन्वर्थ प्रमाणित हो गए। इनके सम्बन्ध में इस प्रकार की सहज प्रश्नपरम्परा उपस्थित होती है कि)–"इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का अधिष्ठान (आधार) तो क्या था ? (क्या स्वरूप था उस आलम्बन कारण का ?), आरम्भण (उपादानकारण) क्या और कैसा था ?, इस प्रकार कैसे उससे सर्ग हुआ (अर्थात् निमित्तकारण क्या था ?,) जिस आलम्बन-उपादान–निमित्तकारणत्रयी की समष्टि से विश्वकर्म्मा प्रजापति ने 'भूमि' को उत्पन्न करते हुए अपनी महिमा से इस विश्वद्रष्टाने द्यौर्म्मण्डल का भी वितान कर दिया।

प्रश्नोपस्थिति का मूल यह बना कि, लोकसर्गों के लौकिक उपादानों में हम आलम्बन–उपादान-निमित्त आदि कारणों का पार्थक्य उपलब्ध कर रहे हैं। आधार कुछ और होता है, उपादानकारण अन्य ही होता है, निमित कोई दूसरा ही बना करता है। घटनिर्म्माणप्रक्रिया में पार्थिवधरातल से अनुप्राणित कुलालचक्र आधार है, मृत्तिका उपादान है, कुम्भकार निमित्त है। जबकि विश्वकर्म्मा स्वयम्भू एक ही रूप हैं, तो उनके साथ विभिन्न नामगुणकर्म्मसमन्वित विभिन्न तीन कारणों का सम्बन्ध कैसे समन्वित हो गया !, एक विश्व–कर्म्मात्मा विभिन्न तीन कारणात्मा कैसे बन गए ?, यही प्रश्न है, जिसका पूर्व परिच्छेदों में अधिष्ठानरूप अव्ययात्मा, आरम्भणरूप क्षरात्मा, निमित्तरूप अक्षरात्मा–रूप से 'षोडशीपुरुषप्रजापति' माध्यम से अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य रह जाता है मन्त्र का 'यतो भूमिं जनयन्०' इत्यादि उत्तर भाग। यहाँ न तो 'भूमिम्' से भूपिण्ड अभिप्रेत है, न 'द्यौः' से सुप्रसिद्ध 'द्युलोक' ही अभिप्रेत है। साङ्केतिक 'पदम्'-'पुनःपदम्' इन दो तत्त्वों के लिए ही यहाँ मन्त्र में 'भूमिम्'–'द्याम्' शब्द उपात्त हुए हैं। पिण्ड, और पिण्डमहिमा (जो पिण्डमहिमा 'वैश्वरूप्य'–'साहस्री'–'वषट्कार' आदि नामों से व्यवहृत हुई है),

दोनों के पारिभाषिक नाम हैं क्रमशः 'भूमिः' और 'द्यौः'। प्रत्येक अण्डसृष्टि इन दो भावों में परिणत रहती है, जिसका मूल बना रहता है पिण्डलक्षण भूकेन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति, जो 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध है। एवं जो अपने मनःप्रधान अव्ययभाग से सृष्टि का अन्तर्य्यामी 'आत्मा' [1] बनता है, अपने वाक्-प्रधान क्षरभाग से सृष्टि का मूर्त्तभावापन्न 'पदम्' [2] (पिण्ड-भूमि) बनता है, एवं अपने प्राणमय अक्षरभाग से सृष्टि का अमूर्त्तभावापन्न प्राणमय 'पुनःपदम्' (महिमा–द्यौः) बनता है। इसप्रकार एक ही विश्वकर्म्मा स्वयम्भूप्रजापति अपने मनः–प्राण–वाङ्मय अव्यय–अक्षर–क्षरभावों से कामतपःश्रमात्मक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों के माध्यम से क्रमशः अधिष्ठान–निमित्त–आरम्भणरूपेण कारणत्रयीरूप में परिणत होता हुआ अपने इन्हीं तीनों रूपों से क्रमशः–'आत्मा–पदम्–पुनःपदम्–रूप से हृदय–पिण्ड–पिण्डमहिमा–इन सर्गस्वरूपों के सर्वस्व बने रहते हैं, जिनका **'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्, त्रयं सदेकमयमात्मा'** इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। स्वयम्भू-परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा, महाविश्व के ये पाँचों पर्व 'आत्मा–पदम्–पुनःपदम्' रूप से त्रिविवर्त्तभावापन्न हैं। चन्द्रकेन्द्र, चन्द्रपिण्ड, चन्द्रिकामण्डलात्मक चन्द्रमहिमा, चन्द्रमा में तीनों उपभुक्त हैं। चन्द्रपिण्ड 'भूमि' है, चन्द्रमहिमा 'द्यौः' है, चन्द्रकेन्द्र आत्मा है। यही क्रम शेष चारों में समन्वित है। प्रत्येक मूर्त्तपदार्थ में यही त्रयीव्यवस्था समन्वित है। और इन्ही सर्वमूर्त्तसर्गानुगत पिण्ड, तथा पिण्डमहिमाभावों के लक्ष्य से ही प्रकृतमन्त्र में **'भूमिं जनयन्–द्यामौर्णोत्'** यह कहा गया है। आत्मदृष्ट्या पाँचों महापर्व क्रमशः **विश्वकर्म्मा [1], प्रजापति [2], हिरण्यगर्भ [3], सर्वभूतान्तरात्मा [4], भूतात्मा [5]**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मूर्त्तपिण्डलक्षण 'भूमिं' दृष्ट्या (पदं दृष्ट्या) ये पाँचों क्रमशः **स्वयम्भू [1]–परमेष्ठी [2]–सूर्य्य [3]–पृथिवी [4]–चन्द्रमा [5]**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं अमूर्त्तलक्षण 'द्यौः' दृष्ट्या (पुनःपदं दृष्ट्या–वैश्वरूप्यनामक महिम-मण्डलदृष्ट्या) ये ही पाँचों क्रमशः–**परमाकाशः [1]–महासमुद्रः [2]–सम्वत्सरः [3]–आन्दम् [4]–नक्षत्रम् [5]**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

काम–तपः–श्रमलक्षणविश्वकर्म्मा–स्वरूपपरिलेखः —

(क)—मन्त्रपूर्वभागनिष्कर्षः—(किंस्विदासीदधिष्ठानम्०–इत्यादि)।

१–परात्परात्पराभिन्नः–पञ्चकलोऽव्ययात्मा–मनःप्रधानः काममयः—	अधिष्ठानम्	विश्वकर्म्मा
२–तदभिन्नः————पञ्चकलोऽक्षरात्मा–प्राणप्रधानः–तपोमयः—	कथंस्वित् (निमित्तः)	
३–तदभिन्नः————पञ्चकलः क्षरात्मा–वाक्प्रधानः–श्रममयः—	आरम्भणम्	

—**—

पञ्चविध वैश्वरूप्यस्वरूपपरिलेखः—

(ख)—मन्त्रोत्तरभागनिष्कर्षः (यतो भूमिं जनयन्० इत्यादि)—

मनोमयो विश्वकर्म्मा अधिष्ठानात्मा	प्राणमयो विश्वकर्म्मा निमित्तात्मा	वाङ्मयोविश्वकर्म्माउपा०
हृद्यात्मस्वरूपप्रवर्त्तकः	पुनःपदस्वरूपप्रवर्त्तकः	पदस्वरूपप्रवर्त्तकः
आत्माधिष्ठाता	पुनःपदाधिष्ठाता	पदाधिष्ठाता
१—विश्वकर्म्मा—	(१)—परमाकाशः	स्वयम्भूः
२ —प्रजापतिः—	(२)—महासमुद्रः—	परमेष्ठी
३—हिरण्यगर्भः—	(३)—सम्वत्सरः—	सूर्य्यः
४—सर्वभूतान्तरात्मा—	(४)—आन्दम्—	पृथिवी
५—भूतात्मा—	(५)—नक्षत्रम्—	चन्द्रमाः
आत्मा	पुनःपदम्	पदम्
हृदयम्	द्यौः—	भूमिः
आत्मसर्गः पञ्चविधः	महिमसर्गः पञ्चविधः	पिण्डसर्गः पञ्चविधः
सोऽयं विश्वात्मसर्गः	सोऽयं द्यु सर्गः—	सोऽयं 'भूमि'सर्गः

आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् । त्रयं सदेकमयमात्मा

(२४३) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः– (३) मन्त्रार्थसमन्वय–

(३) जो रहस्यार्थ 'सर्वतः पाणिपादं तत्–सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति का है, वही रहस्यार्थ तृतीयमन्त्र का है । दीर्घवृत्तात्मिका पञ्चविधा आण्डसृष्टि का मूलाधार–मूलप्रभव विश्वकर्म्मा स्वयंभू स्वयं 'वर्त्तुलवृत्तौजाः' है (गोलाकार है), जिसका स्वरूप पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है । वर्त्तुलवृत्तौजा स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि अप्स्वण्ड–हिरण्मयाण्ड–पोषाण्ड–यशोऽण्ड–

रेतोऽण्ड–ये पाँचों ही आण्डसर्ग अपने मौलिक स्वरूप से 'वर्त्तुलवृत्तौजा' ही हैं। सर्गदशानुगत सुप्रसिद्ध दर्शपौर्णमासात्मक परिभ्रमण से ही ये वृत्त अण्डरूपात्मक दीर्घवृत्तौजारूप में परिणत होते हैं। समहिम चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर भूपिण्डमहिमा के गर्भ में, समहिम भूपिण्ड सूर्य्यपिण्ड के चारों ओर सूर्य्यमहिमा के गर्भ में, समहिम सूर्य्यपिण्ड परमेष्ठिपिण्ड के चारों ओर परमेष्ठिमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। एवं समिहम चन्द्र–भूः–सूर्य्य को स्वमहिमगर्भ में युक्त रखता हुआ समहिम परमेष्ठिपिण्ड स्वयम्भूपिण्ड के चारों ओर स्वयम्भूमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा–भूः–सूर्य्य–परमेष्ठी–अलातचक्रवत् परिभ्रममाण-परिक्रममाण इन चारों पिण्डों (चारों भूमियों) में केवल चन्द्रपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। शेष तीनों अपने अक्ष पर घूमते हुए रथचक्रवत् महावृत्तों के आधार पर परिक्रमा लगा रहे हैं। यही परिभ्रमण-प्रक्रिया प्राकृतिक नित्य वह 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ है, जिसके द्वारा दिति–अदितिभावों का आविर्भाव होता है। इस परिभ्रमणजनित त्रिकेन्द्रभाव से ही इनकी प्राकृतिक वर्त्तुलवृत्तता दीर्घवृत्ततारूप में परिणत प्रतीत हो रही है। अतएव इन्हें **'अण्ड'** नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः अपने प्रातिस्विक मौलिकरूप से पिण्डमात्र एककेन्द्रानुगत बनते हुए 'वर्त्तुलवृत्तौजा' ही हैं, जिस वर्त्तुलवृत्तता के आधार पर–**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** इत्यादि वचनों का समन्वय सम्भव बना करता है। इसी समानैककेन्द्रानुबन्धित्वनिबन्धन वर्त्तुलवृत्तता को लक्ष्य बनाकर हमें तृतीयमन्त्र के अक्षरार्थ का समन्वय करना है।

वृत्त यदि वर्त्तुल (गोलाकार) है, तो उसमें एक 'केन्द्र' है, जिससे यह वृत्त 'समानकेन्द्र' कहलाता है। एककेन्द्रावच्छिन्न वर्त्तुलवृत्त के हृदय (केन्द्र) से विनिर्गत होकर वृत्त की परिधिपर्य्यन्त व्याप्त रहनें वाली सम्पूर्ण केन्द्रशक्तियाँ समसमानधर्म्मा ही रहा करतीं हैं। चारों ओर परिपूर्णरूप से–समानरूप से–एकरूप से ही केन्द्रशक्ति वितत होती है। मन्त्रोपात्त 'विश्व' शब्द इसी परिपूर्णतालक्षणा सर्वता का संग्राहक बना हुआ है। जिस परमाकाशलक्षण स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के महिमामण्डल में परमेष्ठ्यादि शेष चारों समहिमपिण्ड बुद्बुद्वत् गर्भीभूत हैं, वह महामहिम अनन्ताकाशमूर्त्ति स्वयम्भू ही विश्वकर्म्मा **विश्वमूर्त्ति** प्रजापति है, जिसे आर्य्यसर्वस्वशास्त्र (पुराण) ने 'सप्तवितस्तिकाय' * कहा है। इस विश्वमूर्त्ति का शिरोपलक्षित मुखप्रदेश स्वयं 'स्वयम्भू' है। हृदयोपलक्षित चक्षुःप्रदेश विश्वकेन्द्रस्थ 'सूर्य्य' है। पादप्रदेश 'भूपिण्ड' है। तीनों क्रमशः वेदाग्नि–सावित्राग्नि–भूताग्निप्रधान बनते हुए सत्यप्रधान हैं। सूर्य्य से उपरि प्रतिष्ठित आपोमय-परमेष्ठी, तथा सूर्य्य से अधः प्रतिष्ठित सोममय चन्द्रमा, दोनों ऋतप्रधान हैं। सत्यतत्त्व अविचाली माना गया है, ऋततत्त्व विचाली माना गया है। शरीर वैसे तो सर्वात्मना ही विचाली है। किन्तु दोनों हस्त विशेषरूप से विचाली प्रसिद्ध हैं। 'हाथ हिलाना' सहज विचाली भाव है। स्वयम्भू–सूर्य्य–भूपिण्ड, तीनों अग्निप्रधान होंने से अविचाली बन रहे हैं, एवं ऋतपरमेष्ठी–ऋतचन्द्रमा, दोनों बाहुसमतुलित विचाली भाव हैं। इस प्रकार विश्वमूर्त्ति में इन पाँच पर्वों के मुख–(शिर)–चक्षु–(हृदय)–पाद–हस्तद्वय, ये चार विवर्त्त कल्पित हो जाते हैं। पूर्वोक्त समानकेन्द्रनिबन्धन वर्त्तुलभाव के कारण पाँचों हीं पर्व सर्वात्मक बन रहे हैं। 'विश्वतश्चक्षुः' इत्यादि मन्त्र इसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ कह रहा है कि–

---

* **क्वाहं तमो महदहं ख-चराग्निवाभू–संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या–वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्त्वम्॥
—श्रीमद्भागवत १० स्कं०।१४ अ० ११ श्लोक।

"वह विश्वकर्म्मा अपने चक्षुरूप से (हृदयस्थानीय सूर्य्यरूप से) सर्वतः समानशक्तिरूप से व्याप्त है, मुखरूप से (तदुपलक्षित शिरःस्थानीय स्वयम्भूरूप से) सर्वतः व्याप्त है, बाहुरूप से (ऋतभावात्मक परमेष्ठी, तथा चन्द्ररूप से) सर्वतः व्याप्त है, एवं पादरूप से (भूपिण्डरूप से) सर्वतः व्याप्त है । (ऋत-सोमात्मक परमेष्ठी तथा चन्द्रमा इन दोनों) बाहुओं से, तथा भूताग्नि एवं प्राणाग्नि (भूपिण्डात्मक भूताग्नि, भूमिहमारूप प्राणाग्नि–जो क्रमशः चित्याग्नि-चितेनिधेयाग्नि नामों से प्रसिद्ध है) रूप पार्थिव पादों से (अग्नीसोमरूप बाहु–पादों से) ही यह विश्वकर्म्मा अग्नीसोमात्मक विश्व की प्रेरणा का कारण बन रहा है । द्यावापृथिवीरूप (पिण्ड एवं महिमारूप) ऐसे महाविश्व को उत्पन्न करता हुआ सहस्रशीर्षः–सहस्राक्षः–सहस्रपात् लक्षण विश्वकर्म्माप्रजापति 'एक' रूप से सर्वत्र विराजमान है । अपनी इसी एकरूपता से अनेकभावापन्न विश्व को उत्पन्न कर यह–**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** इस राद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है ।

(२४४)–'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०' (४)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(४)—'किंस्विद्वनं'–इत्यादि का रहस्यार्थ पूर्व में विस्तार से प्रतिपादित है, जिस उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक इस मन्त्रार्थ की प्रासङ्गिक सन्दर्भसमन्वयस्मृति यही है कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पररूप 'ब्रह्मवन' के महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शमूर्त्ति अश्वत्थ नामक षोड़शीपुरुषरूप 'ब्रह्मवृक्ष' के क्षरभाग के तक्षण से ही द्यावापृथिवीरूप पिण्डमहिमात्मक इस महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, जिसका रहस्यात्मक स्वरूपबोध मानव की मननशीला प्रज्ञानमयोमयी बुद्ध्यनुगृहीता नैष्ठिकी अन्तःप्रज्ञा पर ही अविलम्बित है। (देखिए १४१पृष्ठ)।

(२४५)–'या ते धामानि परमाणि०' (५)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(५)—हे विश्वकर्म्मन् ! आपके जो परम–अवम–मध्यम धाम हैं, उन तीनों धामों की (सहज) शिक्षा से अपने सखाओं को आप अनुग्रहीत करें (कर रहे हैं), जो कि सखा आपके 'हविः' (भोग्य, स्थानीय बनें हुए हैं । हे स्वधावन् ! आप स्वयं ही इस स्वधारूप हवि से अपने शरीर को महिमारूप से वितत करते हुए (फैलाते हुए) यजन में (आदानप्रदानात्मक सर्वहुतयज्ञसत्र में) प्रवृत्त रहें (प्रवृत्त हैं) ।

मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू प्रजापति ही विश्वकर्म्मा सर्व्वकर्म्मा प्रजापति है, जिसके अव्यय–अक्षर–क्षर नामक संस्थान का, एवं इन तीनों संस्थानों के मूलभूत अमात्रिक अर्द्धमात्रिक परात्परसंस्थान का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है । **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** इत्यादि निगमानुसार इस सर्वप्रजापति के इस प्रकार **मायातीतअनन्तपरात्पर––महामायावच्छिन्नअव्यय––योगमायावच्छिन्न अक्षर–भूतमायावच्छिन्न क्षर,** भेद से चार संस्थान हो जाते हैं । ये ही विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रातिस्विक **अनन्तधाम–परमधाम[१]–मध्यमधाम[२]–अवमधाम[३] (परात्परधाम[४]-अव्ययधाम[१]–अक्षरधाम[२] – क्षरधाम[३])** रूप चार धाम हैं, जिनमें परात्पररूप अनन्तधाम तो इनका ब्रह्मौदन ही बना रहता है । शेष तीनों परम–मध्यम-अवमधाम प्रवर्ग्यरूप से–**'अवरान् आविवेश'** रूप से अन्य परमेष्ठीसर्गादि के साथ भी सुसमन्वित रहते हैं दो प्रकार से ।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से जो कुछ वस्तुतत्त्व-पदार्थस्वरूपसत्ता है, सब का तत्प्रत्येक सर्ग में अवतरण प्राकृतिक है, यही प्रथम प्रकार है, जिससे प्रत्येक सर्ग धामत्रयात्मक बना हुआ है, जिस धामत्रयी के माध्यम से ही परमेष्ठयादि प्रत्येक अण्डसर्गों के साथ परमधामरूप अव्ययात्मा नामक **'आत्मा'**, मध्यमधामरूप अक्षरात्मा नामक **'पुनःपदम्'** (महिमामण्डल), एवं अवमधामरूप क्षरात्मा नामक **'पदम्'** (भूमिपिण्डलक्षण मूर्त्तपिण्ड), इन तीनों का सम्बन्ध रहता है, जैसा कि प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है । इस प्रथम प्रकारात्मक धामत्रय-समन्वय को हम **'व्यष्टयात्मक धामप्रकार'** कहेंगे ।

दूसरा प्रकार समष्टयात्मक है । स्वयं स्वयम्भू, तद्गर्भीभूत परमेष्ठी, दोनों की अमृतप्रधाना समष्टि अव्ययप्रधान परमधाम मानी जायगी । विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य ÷ अमृतमृत्यूभयमूर्त्ति अक्षरप्रधान मध्यमधाम माना जायगा । एवं पृथिवीचन्द्ररूपा* मर्त्यप्रधाना समष्टि क्षरप्रधान अवमधाम माना जायगा, यही द्वितीय प्रकार होगा । स्वयं स्वयम्भू प्रजापति को **परमप्रजापति** माना जायगा, एवं तत्प्रतिकृतिभूत परमेष्ठी आदि चारों को **'प्रतिमाप्रजापति'** कहा जायगा + । ये चारों प्रतिमाभाव स्वयम्भू के स्वरूप से सर्वात्मना समतुलित होते हुए क्योंकि इसके साथ आदानप्रदानात्मक समानधर्म्म-शील-व्यसन से नित्य समन्वित हैं । अतएव इन्हें **'सखा'** अभिधा से व्यवहृत किया जायगा । स्वयम्भूप्रजापति के वैश्वरूप्य महिममण्डल में समुत्पन्न होने के कारण सूर्य्यादि चारों प्रतिमाप्रजापति जहाँ स्वयम्भू के अपत्य हैं, वहाँ स्वयम्भू के शील-व्यसन-स्वरूप-संस्थान से आत्मा-पदं-पुनःपदं-भावमाध्यम से सर्वात्मना समतुलित रहते हुए इन्हें स्वयम्भू के 'सखा' भी माना जा सकता है । इसी समानशीलव्यसनभावानुप्राणित पारस्परिक स्वरूपसमतुलन की दृष्टि से **'शिक्षा सखिभ्यः'** कहा गया है ।

परमप्रजापति के साथ इन प्रतिमाप्रजापतियों का परस्पर आदान-प्रदानात्मक **'अन्नान्नाद'** सम्बन्ध है । स्वयम्भू में ये सब आहुत हैं, इन में स्वयम्भू आहुत हैं । सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च स्वयम्भू में हुत हो रहा है, सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्चों में स्वयम्भू हुत हो रहे हैं, जैसा कि-**'सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि हुत्वा'** इत्यादि रूप से पूर्व के प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट किया जा चुका है । वह इनका स्वधा (अन्नात्मक हविर्द्रव्य) बन रहा है, तो ये उसके स्वधा बन रहे हैं । **'प्रहितां संयोगः-प्रयुतां संयोगः'** लक्षण पारस्परिक स्वधान्नरूप-अन्नादरूप इसी नैसर्गिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए ऋषि ने

÷ निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च, हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ।

*** तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽप्तम् ।**

+ "स ऐक्षत प्रजापतिः (स्वयम्भूः)—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि । आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत । ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-(१)-अग्निः (तद्गर्भितो भूपिण्डश्च), (२) इन्द्रः (तद्गर्भितः सूर्य्यश्च, (३) सोमः-(तद्गर्भितश्चन्द्रश्च), (४) परमेष्ठी प्राजापत्यः (स्वायम्भुवः)" । (शत० ११।६।१।१२,१३,।) ।

'हविषि स्वधावः' इत्यादि कहा है, जिस अन्नान्नाद सम्बन्ध का निम्नलिखित एक अन्य मन्त्रश्रुति से बड़ा ही रोचक स्वरूपविश्लेषण हुआ है---

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
—सामसं०पू०६।३।

(२४६) 'विश्वकर्म्मन् हविषा वावृधानः' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)—हे विश्वकर्म्मन् ? (प्रतिमाप्रजापतिरूप परमेष्ठी–सूर्य्यादि हविःप्रदाताओं के द्वारा प्रदत्त स्वधारूप) हवि से अपने महिमस्वरूप से प्रवृद्ध बनते हुए ही आप स्वयं ही द्यावापृथिवीरूप (महिमा तथा पिण्डरूप) सर्गों का यजन करें (कर रहे हैं)। अर्थात् परस्परादान–प्रदानलक्षण आहुतियज्ञ से आप स्वयं भी महिमाशाली हैं, एवं आपके प्रतिमा स्थानीय परमेष्ठी सूर्य्यादि भी द्यौः--भूमिरूप से महिमामय बन रहे हैं। जो प्रजा (मानव) आप के इस परस्परादान--प्रदानलक्षण सत्र के स्वरूप से अपरिचित रहती हुई **'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋक्सं०१०म०११७सू०६मं०)के अनुसार केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन में लिप्त है, वह सदा मोहपाश में आबद्ध रहती है। कभी उसे आत्मस्वरूपबोध नहीं होता। हम अपने हृदयस्थ मनःप्रतिष्ठित विज्ञानबुद्धिरूप इन्द्र से ही यह कामना करते हैं कि, वही हमारे सहज जीवन का सूरि–प्रेरक बनें। उसी की प्रेरणा–नोदना से हम अपने मूलप्रभवप्रजापति के साथ सख्य सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ बनते हुए परस्परादान-प्रदानलक्षण स्वधायज्ञ के माध्यम से आत्मपरिपूर्णता प्राप्त करें।

(२४७) 'वाचस्पतिं' विश्वकर्म्माणमूतये' (७) मन्त्रार्थसमन्वय—

(७)-हम यजुर्व्वाङ्मय, अतएव 'वाचस्पति' नाम से प्रसिद्ध उस विश्वकर्म्मा को, जो अपने अव्ययरूप से मनोजुव (मनोजव–मनोमय) है, आहुत कर रहे हैं। विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए, विश्वप्रजा के अभ्यु–दय निःश्रेयस् के लिए ऋजुकर्म्मा (साधुकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारी इस तत्स्वरूपवर्णनात्मिका प्रार्थना को लक्ष्य बनावे, जिस वाङ्मय आहुतिकर्म्म (स्वरूपवर्णनात्मक स्तुतिकर्म्म) के माध्यम से हम (सूक्तद्रष्टा महर्षि) सदा उनका यजन करते रहते हैं।

(२४८) 'यो नः पिता जनिता०' (८) मन्त्रार्थसमन्वय—

(८)–जो विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारा **'पिता'** है, **'जनिता'** है, जो **'विधाता'** है, सम्पूर्ण धामों का परिज्ञाता है, जो देवताओं का एकमात्र अभिन्न आधार है, ऐसे इस विश्वकर्म्मा स्वयम्भू प्रजापति को–एकेश्वर को--ही अन्यान्य भुवनप्रश्नोत्थानपूर्वक अपना लक्ष्य (समाधानलक्ष्य) बनाया करते हैं।

अधिष्ठानात्मक आलम्बनकारण ही सर्ग का मूलसंरक्षक माना गया है। मौलिक सत्ताप्रतिष्ठा ही मूर्त्त-सर्ग की प्रधान संरक्षिका है। संरक्षक ही परिभाषा में 'पिता' है। अपने मनोमय अव्ययात्मस्वरूप से मूला-धिष्ठान–आलम्बन–बनता हुआ विश्वकर्म्मा **'पिता'** प्रमाणित हो रहा है। **'तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते'** इत्याद्यनुसार अपने प्राणमय अक्षरात्मस्वरूप से वही विश्वकर्म्मा सर्ग का जनक बनता

हुआ 'जनिता उपाधि से विभूषित हो रहा है। मृत्तिका से उत्पन्न घट का विधर्त्ता-स्थान मृत्तिका ही माना गया है, जैसा कि '**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं**, **मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। उपादानकारण ही अपने कार्य का विधर्त्ता (धारक-उक्थब्रह्मसामलक्षण आत्मा) बनता है। अतएव अपने वाङ्मय क्षरात्मस्वरूप से वही विश्वकर्म्मा सर्ग का उपादान बनता हुआ '**विधाता**' प्रमाणित हो रहा है। इस प्रकार अपने अव्यय-अक्षर-क्षररूपों से सर्ग का अधिष्ठान-निमित्त, एवं आरम्भण बनता हुआ यही विश्वकर्म्मा क्रमशः * '**पिता-जनिता-विधाता**' नामों से प्रसिद्ध हो रहा है।

भूः-भुवः-स्वः-भावों से समतुलित, रोदसी-क्रन्दसी-संयती नामों से उपवर्णित पृथिवी-सूर्य्य-स्वयम्भू अभिधा से उपश्रुत अवम-मध्यम-परमधामरूप सप्त अवान्तर धामों की समष्टि स्वयम्भू के परमाकाश ÷लक्षण वैश्वरूप्य मण्डल में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि एक मानव के ज्ञानमण्डल में उसका भावना-वासनात्मक अन्तर्जगत् प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्म्मजनित वासनासंस्कार ही मानव का अन्तर्जगत् है जो मानव के ज्ञानात्मक महिमामण्डल में उसीप्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि सौरज्येतिर्मण्डलात्मक सम्वत्सर महिमामण्डलमें सममिचन्द्रगर्भिता महापृथिवी प्रतिष्ठित है। अपने अन्तर्जगत् का वह अन्तर्य्यामी द्रष्टा वेत्ता माना गया है। विश्व में एकमात्र स्वायम्भुव वैश्वरूप्य (महिमामण्डल) ही ऐसा बृहन्मण्डल है, जिसमें समहिमसम्पूर्ण धाम अन्तर्जगत्‌रूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव उसे सर्ववित्-सर्वज्ञ माना गया है +। विश्वकर्म्मा की इसी सर्वव्याप्ति का-'**यो धामानि वेद भुवनानि विश्वा**' इत्यादि वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

'**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**'-'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**'-'**तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास**'-'**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**'-'**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च**' इत्यादि वचनों के अनुसार वह मनः-प्राणवाङ्मय-ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति-कामतपःश्रमलक्षण-अव्ययाक्षरात्मक्षरसमष्टिरूप 'एक' स्वयम्भू-ब्रह्म-प्रजापति-विश्वकर्म्मा ही परमेष्ठी (वरुण)-सूर्य्य-(इन्द्र)-चन्द्रमा-(सोम)-पृथिवी-(अग्नि)-आदि आदि देव-भूतसर्गों का अधिष्ठान-निमित्त-आरम्भण बना हुआ है। बलग्रन्थितारतम्य से वह एक ही इन नाना विभूतिभावों में परिणत हो रहा है। अतएव इन सब का उस एक '**स्वयम्भूब्रह्म प्रजापति विश्वकर्म्मा**' नाम से संग्रह किया

---

* मनोमय अव्ययात्मा ज्ञानप्रधान है, यही अधिष्ठानात्मक 'पिता' है। अतएव लोकव्यवहार में ज्ञानप्रदाता आचार्य्य को '**पिता**' माना जा सकता है। प्राणमय अक्षरात्मा क्रियाप्रधान है, यही निमित्तात्मक 'जनिता' है, अतएव प्रजननक्रियाप्रवर्त्तक जनक को लौकिक '**जनिता**' कहा जा सकता है। वाङ्मय क्षरात्मा अर्थप्रधान है। यही आरम्भणात्मक 'विधाता' है। अतएव प्रजननफलभूत गर्भलक्षण अर्थ (भूतपिण्ड) की अधिष्ठात्री माता को लौकिक '**विधाता**' कहा जा सकता है। '**यो नः पिता जनिता, यो विधाता**' का यही व्यावहारिक समन्वय है।

÷ **योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।** (ऋक्सं०)।

+ **यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते॥ (मुण्डकोपनिषत् १।९।)।

जा सकता है, किया गया है। प्रजापति की इसी सर्वदेवव्याप्ति का–**'यो देवानां नामधा एक एव'** वचन से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके रहस्यज्ञान से सर्वात्मना असंस्पृष्ट अज्ञजन इस सम्बन्ध में अग्नि–मित्र–वरुण–सोम–इन्द्र–परमेष्ठी–आदि तत्त्वों का भी परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध मानने–मनवाने की भ्रान्ति कर रहे हैं।

अवश्य ही ये सब उस एक ही के नानारूप हैं। अतएव इन सब के लिए अग्निब्रह्म–मित्रब्रह्म–वरुणब्रह्म-आदि ब्रह्मनाम व्यवहृत हो सकता है, ब्राह्मणोपनिषदों में हुआ है। एतावता अग्नि को मित्रका, मित्र को इन्द्र का पर्य्याय मानकर इन देवतत्त्वों को सर्वत्र 'ब्रह्म' नाम से समन्वित करने का चेष्टाकरण सर्वथा निगमविरुद्ध, अतएव सर्वात्मना उपेक्षणीय ही है। **'गुणानां च परार्थत्वात्–असम्बन्धः समत्त्वात्'** के मर्म्मज्ञ यह जानते ही हैं कि, आँख–कान–नाक–मुख–उदर–आदि सभी 'अहं' रूप आत्मा की दृष्टि से जहाँ अभिन्न हैं, वहाँ अपने वैय्यक्तिकरूप से सब विभिन्न अवयव हैं। चक्षुः–श्रोत्र–कर्णादि अवश्य ही 'अहं' हैं, किन्तु चक्षु तो श्रोत्र कर्णादि नहीं हैं, कर्ण तो चक्षुःश्रोत्रादि नहीं हैं। अवश्य ही इन्द्र–मित्र–वरुणादि ब्रह्म हैं। किन्तु इन्द्र तो मित्र–वरुणादि नहीं हैं, मित्र तो इन्द्र–वरुणादि, एवं वरुण तो इन्द्र–मित्रादि नहीं हैं। इन सर्वथा विभिन्न देवतत्त्वों के स्वरूपज्ञान की उपेक्षा कर सर्वत्र 'ईश्वराय-ईश्वराय' की घोषणा करने वाले वेदभक्तों से आर्षसंस्कृति का जैसा अनिष्ट हुआ है, परसंस्कृतिप्रधान यवन–म्लेच्छादि आक्रान्ताओं से भी उतना अनिष्ट नहीं हुआ।

स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पञ्चपर्वा विश्व ही क्या विश्वकर्म्माप्रजापति की व्याप्ति–इयत्ता है ?, क्या इन पर्वों पर ही विश्वस्वरूपमीमांसा विश्रान्त है ?, इसी प्रश्न का 'सम्प्रश्न' रूप से * समाधान करती हुई मन्त्र-श्रुति अन्त में कहती है कि–**'तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या' (अन्यानि भुवनानि तं विश्वकर्म्मप्रजापतिमेव सम्प्रश्नरूपेण यन्ति–अनुगता भवन्ति)। "प्रश्न का एकीभावात्मक 'सम्प्रश्न' आप ही समाधान है",** यही वचनशेष का अक्षरार्थ है। पञ्चपर्वा विश्व तो उस अश्वत्थमूर्त्ति सहस्रबलशेश्वर प्रजापति का–**'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्या बल्शा'** रूप एक शाखारूप मात्र है। महामायावच्छिन्न एक मायीमहेश्वरात्मक विश्वकर्म्मा के गर्भ में ऐसे ६६६ भुक्त और प्रतिष्ठित हैं, जिनसे सम्बन्ध रखनेवाली वैज्ञानिक प्रश्नपरम्परा इस एक बल्शेश्वर से सम्बन्धित प्रश्नपरम्परा से समतुलित रहती हुई 'सम्प्रश्नात्मिका' बन रही है। एवं इस एक प्रश्न के समाधान से ही उन सब सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों का भी समाधान गतार्थ बन जाता है। यही वचनतात्पर्य्य है।

(२४६)–'परो दिवा पर एना पृथिव्याः' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)–जो विश्वकर्म्मा–प्रजापति इस द्यु लोक से भी परे है, पृथिवी से भी परे है, देवों और असुरों से भी परे है, उस विश्वकर्म्मा प्रजापति के आपोभाग (रूप सुवेद नामक स्वेदवेद) ने किसे सर्वप्रथम अपने गर्भ में धारण किया ?, जिस (गर्भीभूत तत्त्व) को सम्पूर्ण देवदेवता × अपना लक्ष्य बनाए रहते हैं।

---

* एक लक्ष्य से समतुलित अन्य प्रश्न की पारिभाषिक संज्ञा ही **'सम्प्रश्न'** माना गया है।

× प्राणतत्त्व का पारिभाषिक सामान्य नाम है 'देवता'। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–देव–पशु–आदि यचयावत् प्राणतत्त्व 'देवता' नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर–'ऋषि-देवत्य–पितृदेवत्य–असुरदेवत्य–देवदेवत्य–पशुदेवत्य-आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। ज्योतिर्म्मय ३३ संख्या में विभक्त अग्निप्राणात्मक तत्त्व ही 'देव' नामक देवता हैं, अतएव इस आग्नेय प्राण को हम 'देवदेवता' कहेंगे। जहाँ भी श्रुति में केवल 'देव' शब्द पठित होगा, सर्वत्र आग्नेय 'देवदेवताओं' का ही ग्रहण होगा।

योगमायावच्छिन्न सप्तभुवनात्मक-पञ्चपर्वा विश्व में यद्यपि स्वयम्भूविश्वकर्म्मा प्रजापति भी संयती-त्रैलोक्य में द्यु लोकरूप से समाविष्ट हैं। अतएव इस भु वनदृष्टिकोण से परमेष्ठी-सूर्य्यादिवत् यद्यपि स्वयम्भू विश्वकर्म्मा भी द्यावापृथिवीनिबन्धना भु वनमर्य्यादा-सीमा-में ही अन्तभु क्त है, इसीलिए इसे पूर्व में द्यु रूप 'परमधाम' कहना मानना अन्वर्थ भी बनता है। तथापि सहस्रवल्शेश्वर-महामायावाच्छिन्न मायी महेश्वरात्मक परात्परपुरुष (षोडशीपुरुष) निबन्धन **'आभूप्रजापति'** (आसमन्तात् भाति-भवति-व्याप्तो-भवति) रूप महामायी स्वयम्भूप्रजापति को सप्तभु वनात्मक-त्रिधामलक्षण द्यावापृथिवी की सीमित परिधि से बहिर्भू त ही माना जायगा। सहस्रवल्शाओं के अनुपात से सहस्रभागों में ही विभक्त त्रिधामात्मक द्यावापृथिव्य सप्तभु वनों की अपेक्षा से सहस्रवल्शेश्वर 'आभू' नामक महामायी स्वयम्भू प्रजापति विश्वकर्म्मा (मायी महेश्वर) को 'पर' ही माना जायगा, एवं इसी दृष्टिकोणमाध्यम से यह कहा और माना जा सकेगा कि, **'विश्वकर्म्मा आभू स्वयम्भू द्यु से भी परे हैं, एव पृथिवी से भी परे हैं'**। **'परो दिवा पर एना पृथिव्याः'** का यही तत्त्वार्थ है।

प्रत्येक वल्शेश्वर में आपोमय परमेष्ठीमण्डल, एवं अग्निमय सौरमण्डल, ये दो ही मुख्य संस्थान हैं। भू पिण्ड सूर्य्यसजातीय (आग्नेय) है, चन्द्रपिण्ड परमेष्ठिसजातीय (आपोमय) है। अतएव ये दोनों पिण्ड आपोमय परमेष्ठी, एवं अग्निमय सूर्य्य से संगृहीत हैं। फलतः वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में परमेष्ठी एवं सूर्य्य, इन दो संस्थाओं का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। अप्तत्त्व ही वरुण है, यह वारुण आप्यप्राण ही **'असुर'** है। एवं सौर आग्नेय प्राण ही **'देव'** नामक देवता है, जैसा कि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार परमेष्ठी-सूर्य्यवत् वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में आपोमय पारमेष्ठ्य असुरप्राण, तथा अग्निमय सौर देवप्राण, इन दो प्राजापत्य (स्वायम्भु व) प्राणों का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। इसी आधार पर प्राकृतिक प्राणसंघर्षात्मक आख्यानोपख्यानों में-**'देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे'** (शतब्रा०) इत्यादि रूप से सौर देव, तथा पारमेष्ठ्य असुरों की प्रतिद्वन्द्विता का ही उल्लेख रहता है। स्वायम्भु वप्राण **'ऋषिप्राण'** कहलाया है। वल्शात्मक पञ्चपर्वा योगमायावच्छिन्न स्वयम्भू तो अवश्य ही परमेष्ठी-सूर्य्यवत् इनके असुर-देवप्राणों का प्रवर्त्त क-प्रतिष्ठाब्रह्म बनता हुआ तत्सृष्ट्वा न्याय से इन असुर-देवप्राणों की सीमा में ही अन्तर्भु क्त है। किन्तु सहस्रवल्शाधिष्ठाता महामायी आभू स्वयम्भू विश्वकर्म्मा इन दोनों प्राणों से भी परमेष्ठी-सूर्य्यवत् पर ही माना जायगा। इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—**"परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति"**।

'कंस्विद्गर्भं दध्र आपः०' इत्यादि मन्त्रोत्तरभाग हिरण्यगर्भात्मक सौरमण्डल का ही स्वरूपनिरूपण कर रहा है, जिसके द्वारा त्रिधामात्मक सप्तभुवनलक्षण पञ्चपर्वा विश्व के स्वरूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति) होता है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों नें-**'शिरोमूलासृष्टि, हृदयमूलासृष्टि'**, **पादमूलासृष्टि**, ये तीन विभिन्न प्रकार माने हैं। इसका तात्पर्य्य है **'स्वयम्भूमूलासृष्टि-सूर्य्यमूलासृष्टि, भूमूलासृष्टि'**। क्योंकि **'स्वयम्भू-सूर्य्य-भूपिण्ड'** ये तीन ही पर्व सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वर (वल्शेश्वर) के क्रमशः 'सहस्र-शीर्षः उपलक्षित **'शिर'**, 'सहस्राक्षः' उपलक्षित **'हृदय'**, एवं 'सहस्रपात्' उपलक्षित **'पाद'** हैं। इन तीनों विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल विभिन्न तीन भाव हैं, जो क्रमशः **"सृष्टिमूलासृष्टि-स्थितिमूलासृष्टि, दृष्टिमूला-सृष्टि'** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक उत्पत्तिक्रम ही 'सृष्टि' नामक प्रथम भाव है। प्रकृत्या स्वयम्भू से

ही सृष्टि का आरम्भ होता है। इस दृष्टि से सृष्टिको **'शिरोमूला-स्वयम्भूमूलासृष्टि'** कहा जायगा। उत्पात्यनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के आदानप्रदानात्मक यज्ञ के द्वारा ही उत्पन्न विश्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित-स्थित रहता है। सूर्य्यसत्ताकाल ही विश्वसत्ताकाल माना गया है, जो स्वस्त्ययनात्मक पुण्याहवाचन कर्म्म में **'पुण्याह'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस का भारतीय माङ्गलिक ब्राह्मण **'पुण्याहं-पुण्याहम्'** रूपसे यशोगान किया करते हैं। सूर्य्य का अभाव ही सृष्टिस्थिति का अभाव है। अतएव इस स्थितिमूलक दृष्टिकोण की अपेक्षा से विश्वसर्ग को सूर्य्यमूलक मान लिया गया है। इसी दृष्टि से सृष्टि को **'हृदयमूला'-सूर्य्यमूला' सृष्टि** माना जायगा। सृष्टि-सर्ग का द्रष्टा-व्याख्याता-श्रोता है पार्थिव ऋषि विद्वान्-लौकिक मानव। ऋषिमानव है इस रहस्य का द्रष्टा, विद्वान् द्विजातिमानव है इस ऋषिदृष्ट श्रौतरहस्य का स्मृतिरूप से व्याख्याता, एवं अस्मदादि लौकिक मानव हैं इस व्याख्या के श्रोता-अनुगन्ता गृहमेधी। इस तीनों मानवों का आधार है भौमजगत् (पार्थिवजगत्)। इन की दृष्टि में प्रथमस्थान 'भूः' है, द्वितीय स्थान सूर्य्य है, अन्तिमस्थान स्वयम्भू है। इस दृष्टिप्राधान्य से विश्वसर्ग का व्याख्याक्रम बन जाता है भूः-सूर्य्य-स्वयम्भू। यही तीसरा दृष्टिकोण है। इसी दृष्टि से सृष्टिको **'पादमूलाः-पृथिवीमूला'** सृष्टि घोषित किया जायगा। सृष्टिरहस्यप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों हीं प्रकार यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित हैं, जिनका उक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय न करने के कारण ही व्याख्याता-श्रोताओं में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का उद्गम हो पड़ा है।

तात्पर्य्य पूर्व सन्दर्भ का यही है कि, सृष्टिस्वरूप के उपवर्णन में वैज्ञानिक महर्षियोंनें **'सृष्टि-स्थिति-दृष्टि'**-इन तीन दृष्टिकोणों से तीन प्रकारों का माध्यम स्वीकार किया है। **सृष्टि बनी कैसे, किस से?,** इस प्रश्न की मीमांसा में उन्होंनें स्वयम्भू को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा की है, जिस का सृष्टिमूलक प्राकृतिक क्रम रहा है-**'स्वयम्भू¹-परमेष्ठी²-सूर्य्य³-भू⁴:-चन्द्रमा⁵'** यह। **सृष्टि का 'स्वरूप कैसे किससे सुरक्षित है ?,** इस प्रश्न की मीमांसा में विश्वमध्यस्थ सूर्य्य को मूल मान कर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिसका स्थितिमूलक क्रम रहा है-**'सूर्य्य¹, चन्द्रमा², भू³:, परमेष्ठी⁴, स्वयम्भू⁵'** यह। **सृष्टि का स्थूलरूप क्या है ?, कौनसा सृष्टिरूप सर्वप्रथम मानव की दृष्टि का विषय बनता है ?,** इस प्रश्न की मीमांसा में विश्व के अन्त में प्रतिष्ठित भूपिण्ड को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिस का दृष्टिमूलक क्रम रहा है-**भू¹:-चन्द्रमा²-सूर्य्य³-परमेष्ठी⁴-स्वयम्भू⁵'** यह। इन तीनों क्रमों के माध्यम से ही विभिन्नरूप से तीन प्रकार से विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है, जो प्रजास्वरूपमीमांसा से अंशतः समतुलित है*।

---

* गर्भस्थ शिशु के किस अङ्ग का सर्वप्रथम स्वरूपनिर्म्माण होता है ?, प्रश्न के समाधान में विभिन्न भिषग्वरों के विभिन्न तीन मत हैं। प्रथम मस्तक का निर्म्माण होता है, यह एक मत है। प्रथम पैर बनने लगते हैं, यह एक मत है। प्रथम हृदय का निर्म्माण होता है, यह एक मत हैं। भगवान् चरक इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय अभिव्यक्त कर रहे हैं कि,-**'सर्वं-सहैव'**। अर्थात् शिर-हृदय-पादादि सब अङ्गों का निर्म्माण एक साथ ही होता है। स्पष्ट है कि मतत्रयनिबन्धना यह निर्म्माणभावना नैगमिक दृष्टिकोणत्रय को ही मूल बना कर प्रवृत्त हुई है। देखिए-चरकसंहिता शा० स्था०।

द्यावापृथिवी-स्वरूपपरिलेख :—

सहस्रवल्शेश्वरः-आभूः-स्वयम्भूर्महामायी

परो दिवः—पर एना पृथिव्या, परो देवैरसुरैर्यदस्ति

१ २
१—वल्शेश्वरस्वयम्भुगर्भितः—परमेष्ठी मनोमयः (असुरप्राणप्रधानः)—द्यौः

४ ५ ३
२—भूचन्द्रगर्भितः——————सूर्य्यः-अग्निमयः (देवप्राणप्रधानः)—पृथिवी

१-स्वयम्भुमूलासृष्टिः—शिरोमूला (सृष्टिमूलासृष्टिः)-स्वयम्भूः[1], परमेष्ठी[2], सूर्य्यः[3], भूः[4], चन्द्रः[5]

२-सूर्य्यमूलासृष्टिः—हृदयमूला (स्थितिमूलासृष्टिः)-सूर्य्यः[1], चन्द्रमा[2], भूः[3], परमेष्ठी[4], स्वयम्भूः[5]

३-पृथिवीमूलासृष्टिः—पादमूला (दृष्टिमूलासृष्टिः)-भूः[1], चन्द्रमाः[2], सूर्य्यः[3], परमेष्ठी[4], स्वयम्भूः[5]

उक्त तीनों दृष्टिकोणों में से प्रकृतमन्त्रोत्तरार्द्ध मध्यस्थ सूर्य्यमूलक-स्थितिभावप्रधान-दृष्टिकोण को ही प्रधानता देता हुआ कर रहा है कि-**'कंस्विद्गर्भं दध्र आपः०'** । आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में भृगुसन्वित आङ्गिरस ऋताग्नि के गर्भीभूत हो जाने से अग्नीषोमात्मक जो प्रचण्ड अग्निगोलक त्रैलोक्य तम का निवारण करता हुआ अभिव्यक्त हो पड़ता है, वही अप्गर्भस्थ हिरण्मयाण्डमूर्त्ति सौरब्रह्माण्ड है, जिसमें-**'चित्रं देवानामुदगात्'** (यजुःसंहिता) इत्यादिरूप से देवदेवतात्मक सम्पूर्ण प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। **'कंस्विद्गर्भं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे'** इस उत्तर मन्त्रभाग का यही रहस्यार्थ है ।

(२५०) 'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्रे०' (१०) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१०)—(९ नवम मन्त्र में प्रतिज्ञात सूर्य्यमूला-स्थितिभावप्रधाना विश्वस्वरूपमीमांसा का ही विस्तार से स्वरूपविश्लेषण करती हुई दशम मन्त्रश्रुति कहती है कि)-"उस (आपोमय परमेष्ठीसमुद्र) में भृग्वङ्गिरोमूर्ति (स्नेहतेजोमय) आपः तत्त्व ने सर्वप्रथम (सूर्य्याण्डनामक हिरण्मयाण्डलक्षण) गर्भ को धारण किया, जिस गर्भीभूत हिरण्मयाण्डमण्डल में सम्पूर्ण प्राणदेवता समाविष्ट हो गए । अज (अव्ययपुरुष) की नाभि (केन्द्र) रूप इस सूर्य्य में ही सम्पूर्ण विश्व समर्पित है, जिस सूर्य्य में कि सम्पूर्ण भुवन प्रतिष्ठित हैं" ।

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (गीता ४।६।)—**'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'** (कठोप० २।१८।)-**'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** (ऋक्सं०) इत्यादि आर्षवचनानुसार मनोमय कामात्मा अव्ययपुरुष ही **'अज'** कहलाया है । सृष्टिक्रमानुसार यद्यपि स्वायम्भुवी संयतीत्रिलोकी में मनोमय अव्ययात्मा का, सौरी क्रन्दसीत्रिलोकी में प्राणमय अक्षरात्मा का, एवं पार्थिवी रोदसीत्रिलोकी में वाङ्मय

क्षरात्मा का प्राधान्य बतलाया गया है। इस दृष्टिकोण से यद्यपि विश्वमध्यस्थ–अन्नगर्भस्थ सौर हिरण्यगर्भ-प्रजापति का अक्षरमयत्त्व ही प्रमाणित हो रहा है। तथापि एक विशेष औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मध्यस्थ सौरप्रजापति को 'अज' नामक 'पर' अव्यय से, साथ ही 'ब्रह्म' नामक अवर क्षर से भी समन्वित मानते हुए इसे अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति, विश्वकर्म्मा–षोडशीप्रजापति की उपाधि से भी समलङ्कृत माना जा सकता है। अपने प्रातिस्विक स्वरूप से महामायी अव्ययपुरुष निष्कल है, निरञ्जन है, निर्गुण है*। प्रश्न उपस्थित होता है कि, किसने बलचिति के द्वारा इस निष्कल अज को पञ्चकलरूप में परिणत करते हुए 'षोडशीसकलपुरुष' रूप में परिणत कर दिया ?। इस प्रश्न का एकमात्र समाधान महामायी अव्ययपुरुष के रसबलोभयमूर्त्ति हृदयस्थ हृ–द–य–लक्षण–उसका रसानुबन्धी बल ही है, जिसे 'प्रकृति' कहा गया है, दर्शनभाषा में जो' चेतना' नाम से प्रसिद्ध है, उपनिषदों में जो 'अक्षर' (अक्षरमूर्त्ति हृदयस्थ अन्तर्य्यामी) नाम से उपवर्णित हुआ है। इस प्रकृतिरूप अक्षर के व्यापार से ही अव्ययपुरुष बलचिति के द्वारा आनन्दविज्ञानादि पञ्चकलभावों में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति (अक्षर) ही इस अजपुरुष को (अव्यय को) बलचिति के द्वारा 'चिदात्मा' रूप में परिणत कर इसे सम्भूति का अनुगामी बनाकर इसे विश्वेश्वर–विश्वकर्म्मा–विश्वात्मा–विश्वचर-उपाधियों से अलङ्कृत कर देती है। यही प्रकृतिरूप अक्षर अपने मर्त्यभाग से बलचिति के द्वारा पञ्चक्षरचिति का प्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार मध्यस्थ (हृदयस्थ) अक्षर ही परस्थ, अतएव 'पर' नामक अधिष्ठान-आलम्बनकारणात्मक अज अव्यय के कलात्मक स्वरूपनिर्म्माण का, एवं अवरस्थ, अतएव 'अवर' नाम से प्रसिद्ध आरम्भण–उपादानात्मक–अतएव–'ब्रह्म' नाम के क्षर के स्वरूपनिर्म्माण का निमित्त बनता है। यही कारण है कि, उपनिषत् ने मध्यस्थ मध्यमधामात्मक अक्षर को ही परधामामात्मक पराव्यय का, अवरधामात्मक ब्रह्माक्षर का संग्राहक मानते हुए दोनों को भी अक्षर नाम से ही व्यवहृत करते हुए इसे ही सर्वमूर्त्ति घोषित कर दिया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—

[१]—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि—'ओम्' इत्येतत् ।

[२]—एतद्ध्येवाक्षरं 'ब्रह्म' एतद्ध्येवाक्षरं 'परम्' ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

—कठोपनिषत १।२।१५,१६,।

मध्यस्थता ही अक्षर की हृन्मूलता है, हृन्मूलता ही अक्षर की सर्वरूपसंग्राहकता है, यही श्रुतिवचनों का निष्कर्षार्थ है। इसी विशेष दृष्टिकोण से मध्यस्थ अक्षरमूर्त्ति–अक्षरप्रधान सौरहिरण्यगर्भप्रजापति को 'अज' नामक उस अव्ययात्मपुरुष (षोडशी) से अभिन्न मान लिया जाता है, जो विश्वकर्म्मा बन रहा है। मानव

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता१३।३१

की अध्यात्मसंस्था का सर्वस्व यही सौरप्रजापति बन रहा है, जैसा कि--'**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्**' इत्यादि अन्य वचनों से प्रमाणित है। सौरप्रजापति ही विश्वसर्ग का सर्वेसर्वा बना हुआ है। यही सर्ग-सलयाधिष्ठाता बना हुआ है। सूर्य्यसत्ता ही विश्वसत्ता है, सूर्य्य का अभाव ही विश्व का अभाव है। आर्षनैगमिक सनातनवर्णाश्रमधर्म्म-सर्वविधप्रजासर्ग-मोक्षस्वर्ग-आदि आदि यच्चयावत् विधि-विधानों की मूलप्रतिष्ठा यही सौरप्रजापति है। इसी अजरूप (षोडशीपुरुषाव्ययरूप) सौरप्रजापति के आधार पर उसीप्रकार विश्व की जीवनसत्ता सुरक्षित है, जैसा कि-हृच्छक्ति के आधार पर ही मानव की जीवनसत्ता सुरक्षित रहती है। हृच्छक्ति की उत्क्रान्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही जैसे मानव का भौतिक स्वरूप निःशेष बन जाता है, तथैव हृच्छक्तिरूप सौरप्रजापति के अव्यक्तरूप में परिणत होते ही विश्व का भौतिक व्यक्त स्वरूप स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता है। अतएव इसे हम अवश्य ही 'अज*' (षोडशीपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा) मान सकते हैं, इस नाभि (केन्द्र) रूप सौरप्रजापति में ही सम्पूर्ण भुवनों को अर्पित-समर्पित मान सकते हैं। '**अजस्य नाभावध्येकमर्पितं, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः,**' इत्यादि मन्त्र इसी स्थितिमूलक दृष्टिकोण को प्रधानता देता हुआ सृष्टि का सूर्य्यमूलत्त्व, किंवा हृदयमूलत्त्व घोषित कर रहा है।

(२५१) 'न तं विदाथ य इमा जजान०' (११) मन्त्रार्थसमन्वय—

(११)—"जिस (विश्वकर्म्मा प्रजापति) ने इन सम्पूर्ण भुवनों को उत्पन्न किया है, उसे आप-हम (वास्तविकरूप से-इदमित्थमेवरूप से) नहीं जानते। (विश्वस्वरूपमीमांसक व्याख्याकार) आप लोगो के मस्तिष्क में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) कुछ और ही प्रकार के (कल्पित) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। (जिन्हें निर्णयात्मक नहीं कहा जा सकता)। नीहार से आवृत केवल वाक्जल्पनापरायण, उदरमात्रपरायण उक्थशास (उक्थरूप सृष्टि के मूलकारण का शासन-व्याख्यान करने वाले) ऐसे मानव इतस्ततः विचरण कर रहे हैं।"

प्रकृत मन्त्र विश्वस्वरूपमीमांसा की रहस्यपूर्ण दुरधिगम्यता-दुर्बोध्यता-दुर्विज्ञेयता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता हुआ हमें यह उद्बोधनसूत्र प्रदान कर रहा है कि, अपनी चलित-स्खलित-आपातरमणीया भावुकतापूर्णा-प्रज्ञा के बल पर हम सहसा जिस प्रकार विश्वस्वरूपमीमांसानुगत पृथिवी-चन्द्रमा-नक्षत्र-सूर्य्य-धूमकेतु-पार्थिव-चन्द्र-सौर-आदि विभिन्न शक्तियाँ, आदि आदि के मौलिक कारणों के अन्वेषण में, इनके व्याख्यान-स्वरूप प्रकार-प्रदर्शन आदि में प्रवृत्त होते हुए-'**पृथिवी का ऐसा स्वरूप है-वैसा स्वरूप है-चन्द्रमा यों घूमता है-नक्षत्रों का एवंविधरूप है-**' इत्यादिरूपेण घोषणा के द्वारा अपनी अभिज्ञता-पाडित्य प्रदर्शित करते रहते हैं, ऐसा यह चलित-स्खलितप्रज्ञा प्रकार, ऐसी यह कारणघोषणा कदापि विश्वस्वरूपमीमांसा का यथावत् समन्वय नहीं कर सकती। इसके लिए तो सामान्यप्रज्ञा-अस्मदादि सामान्य मानवों के लिए एकमात्र आप्तवचनप्रामाण्य ही शरणीकरणीय है। आर्षदृष्टिसमन्वित आर्षऋषिमानव ही इस

---

* **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

—गीता ४।६।

दुरधिगम्य विश्वस्वरूपमीमांसा का वास्तविक स्वरूपव्याख्यान कर सकते हैं। मानवीय प्रज्ञा का अनुमान, अनुमानानुगता भूतदृष्टि, भूतदृष्टिप्रधाना आनुमानिकी सर्गप्रभवकारणमीमांसाएँ कदापि इस दिशा में सफल नहीं बन सकतीं। जिस विश्वकारणस्वरूप 'उक्थ' के सम्बन्ध में तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंनें भी–**"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद"** इत्यादिरूप से दुर्विज्ञेयता अभिव्यक्त करते हुये इसे सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि का लक्ष्य घोषित किया है, उस 'उक्थ' का एकहेलया केवल अपनी भूतदृष्टि के माध्यम से, प्रत्यक्षकारणों के बल पर, भौतिक प्रत्यक्ष परीक्षणों के आधार पर यथेच्छ कल्पनाओं का सर्जन कर लेना, एवं उनकी यथेच्छरूप से कल्पानप्रधाना व्याख्याएँ करने लग जाना, यह सभी कुछ आपातरमणीय है, अमान्य है। **'मनसा पृच्छतेदु–यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्–मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्'** इत्यादिरूपा अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली मननप्रधाना सुसूक्ष्मा अन्तर्व्याख्या ही इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समाधान कर सकती है। सर्वसामान्य मानव इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत ही माने जायँगे। उनका अभ्युदय–निःश्रेयस् तो एकमात्र **'यच्छ्चद् आह–तदस्माकं प्रमाणम्'** के अनुगमन पर ही अवलम्बित है। जो भावुक मानव इस तथ्य को न जान कर कल्पना के द्वारा विश्व की यथेच्छ मीमांसा करते हुए यथेच्छ उक्थों का व्याख्यानोपव्याख्यान करने की भ्रान्ति करते रहते हैं, उनके सम्बन्ध में हमें यही कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार घने कोहरे (नीहार) से ढँका हुआ मनुष्य केवल कल्पना के आधार पर–"मैं यह देख रहा हूँ–यह देख लिया–यह देख लूंगा, उसका यह स्वरूप है–वह स्वरूप **है–**" इत्यादि जल्पना करता हुआ, केवल अपने मन में ही अपने आप को सन्तुष्ट मानता हुआ इतस्ततः लक्ष्यहीनरूप से विचरण करता रहता है, ठीक इसीप्रकार कल्पनाप्रधाना प्रत्यक्षमूला भूतदृष्टिरूप नीहार से सर्वात्मना आवृत्त समावृत अभिभूत व्याख्याता लोग कल्पना के द्वारा यथेच्छ कारणपरम्पराओं की घोषणा करते हुए, केवल अपने मनोराज्य में ही सृष्टितत्त्वमर्म्मज्ञ–कुशलव्याख्यता (असुतृप) मानने मनवाने की भयावह भ्रान्ति करते हुए **'इतस्ततो दंद्रम्यमाणा परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** को अन्वर्थ बनाते रहते हैं।

किस उद्देश्य से श्रुति को मानव के सम्मुख–आस्तिक भावुक मानव के सम्मुख–यह उद्बोधनसूत्र उपस्थित करने की आवश्यकता हुई?, एक अनिवार्य प्रश्न उपस्थित हो जाता है –**'न तं विदाथ इमा जजान०'** ! इत्यादि मन्त्रश्रुति के सम्बन्ध में। विश्वस्वरूपमीमांसात्मक महान् तात्त्विक सन्दर्भ के अन्त में सहसा उपस्थित हो जाने वाला ऐसा उद्बोधनात्मक प्रसङ्ग अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होने लगता है। वर्त्तमान युग के भूतदृष्टिपरायण प्रत्यक्षवादी विश्वस्वरूपव्याख्याताओंने जिस नीहारप्रावृत्ता स्थिति के माध्यम से विश्व की स्वरूपमीमांसा की है, जिस प्रकार इन्होंनें भूस्तर–चन्द्रमा–नक्षत्रकक्षा–सूर्य्यगोलक–ग्रहसंस्थान–केतुस्वरूप-आदि की विवेचना की है, वैसा ही कुछ उस आदियुगात्मक वेदयुग में प्रचलित होता, तब तो फिर भी यथाकथंचित् हम इस उद्बोधनसूत्र को प्रासङ्गिक मान सकते थे। किन्तु उस युग में ऐसी अनर्गल आपात–रमणीय कल्पनाप्रधान कहानियों का कोई अस्तित्त्व ही नहीं था। हाँ, उस युग के प्रत्यक्षवादी सर्वसामान्य यथाजात मानव–**"तद्धैतद्–अविद्वांस अप्याहुः–त्रयी वा एषा विद्या तपति"** (शत० १०।५।२।२।) इत्यादिरूप से सूर्य्य–चन्द्रादि के प्रति अपना मौखिक श्रद्धान अवश्य प्रकट कर दिया करते थी, जिस के लिए एवंविध उद्बोधनसूत्र अनपेक्षित ही कहा जायगा। अतएव यह प्रश्न दृढ़मूल बन जाता है कि, **सृष्टिस्वरूपविज्ञानप्रसङ्ग में यह अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों ?।**

प्रश्न के समाधानके लिए हमें उस '**दशवाद**' को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसका आदियुगात्मक वेदयुग से भी पूर्व के परम वैज्ञानिक '**साध्ययुग**' से सम्बन्ध है, एवं जिसका ऋक्संहिता के ही सुप्रसिद्ध '**नासदीय सूक्त**' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तत्त्वविज्ञानकर्म्मान्वेषण में सतत प्रवृत्त ज्ञान-विज्ञानिष्ठ '**साध्य**', अद्भुत अस्त्रशस्त्रविद्यानिष्णात '**महाराजिक**', कृषिगोरक्षवाणिज्यकुशल '**आभास्वर**', एवं शिल्पकलानिष्णात '**तुषित**', इन चार वर्गों में विभक्त तत्कालीन मानवसमाज में साध्यवर्ग ही प्रमुख माना जाता था, जिसने अपने सुसूक्ष्मेक्षण के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वविमर्शन में अभुत क्षमता प्राप्त करते हुए भौतिक विज्ञानदिशा में महती सफलता अर्जित करली थी। "**प्रकृति ही सब कुछ है, एवं इसके रहस्यज्ञान से मानव सब कुछ कर सकता है, नवीन विश्वनिर्माण भी कर सकता है यदि कामना करे तो**" इस प्रकार प्राकृतिक तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक यज्ञों का अन्य विजातीय यज्ञों (विजातीय यौगिक तत्त्वों) के समन्वय के आधार पर नाकमहिमा (स्वर्गमहिमा) का भी उपहास करने वाले साध्योंने * सृष्टिमूल के सम्बन्ध में केवल प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर जो सिद्धान्त स्थापित किए थे वे, ही सुप्रसिद्ध १० सिद्धान्त '**दशवाद**' नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन का एकमात्र लक्ष्य था '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त**'। 'प्रकृतिमूलक यज्ञ (प्राकृतिक तत्त्वसम्मिश्रणात्मक यागात्मक योग) से यज्ञ का सम्बन्ध' ही इनकी दृष्टि में सर्वस्व था। प्रकृति-सञ्चालक पुरुषसत्ता-ब्रह्मसत्ता से साध्य सर्वात्मना उसीप्रकार पराङ्मुख थे, जैसे कि वर्त्तमान जड़वादी केवल प्रकृतिवादी (वस्तुतः विकारवादी) बनता हुआ ब्रह्मसत्ताबोध से सर्वात्मना असंस्पृष्ट है। साध्यों के सृष्टि-मूलात्मक उक्थ (कारण) ही '**अम्भोवाद**[१], **व्योमवाद**[२], **आवरणवाद**[३], **सद्वाद**,[४] **असद्वाद**[५], **अहोरात्र-वाद**[६], **रजोवाद**[७], **मृत्युवाद**[८], **अमृतवाद**[९], **अमृतमृत्युवाद**[१०]' इन 'वाद' नामों से प्रसिद्ध हुए, जो तत्त्वदृष्ट्या अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं ÷। ये दसों ही उक्थवाद उस युग में प्रचण्ड तर्क-युक्ति-प्रत्यक्षदृष्टि-परम्परा के माध्यम से प्रचार-प्रसार के अनुगामी बनते हुए तद्युगानुगत भावुक महाराजिक-आभास्वरादि मानवप्रजा के स्वरूपविमोहन के कारण बने हुए थे। आगे चलकर स्वयम्भूब्रह्मसत्ता के प्रथम द्रष्टा, अतएव तद्युगीया व्यवस्था के अनुसार '**स्वयम्भूब्रह्म**' नाम से ही प्रसिद्ध अतिमानव के द्वारा उस ब्रह्मवाद की स्थापना हुई, जिसके आधार पर सर्वथा विभक्त दसों वाद एक अभिन्नसत्ता पर समन्वित किए गए। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**' के स्थान में '**यज्ञेन प्रजापतिमयजन्त**' घोषणा व्यवस्थित हुई। प्रकृति के साथ साथ पुरुषब्रह्मसत्ता का अनुगमन आरम्भ हुआ। और यों विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में '**नाहोरेण प्रावृताः जल्प्याः असुतृपः-उक्थशासः**'-साध्यों के प्रकृतिवाद का उन्मूलन कर ब्रह्मा ने ब्रह्सत्तात्मक कारणवाद प्रतिष्ठित किया, जिस एककारणतावाद की निम्नलिखितरूप से घोषणा हुई—

---

* **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यसन्।**
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
यजुःसंहिता ३१।१६।

÷ विस्तारभिया यहाँ इनका स्वरूपनिरूपण करने में हम असमर्थ हैं। इन दशों वादों की संक्षिप्त स्वरूपदिशा का वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका नामक द्वितीय खण्ड के-**ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा** 'ग' विभागात्मक तृतीय विभाग में कर दिया गया है।

(१) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
(२)–न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
(३)–तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपस्तन्महिना जायतैकम् ॥
––ऋक् सं० १०।१२६।१,२,३, ।

प्राङ्मेरुमण्डलानुगता वेदधर्म्मव्यवस्था को प्रादुर्भूत करने वाले ब्रह्मसत्तासंस्थापक स्वयम्भू ब्रह्मा (स्वयम्भू मनु) भारतीय मानवसमाज की वर्णाश्रमव्यवस्था के आदिप्रवर्त्तक बने । इसी मानवमनु के सम्बन्ध से भारतीयप्रजा **'मनुष्याः'--'मानवाः'--मनुजाः'** कहलाई, और इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक–अपत्य-परम्परानिबन्धनभाव के द्वारा **'मनोरपत्यं मानवः'** लक्षण उस भावुकतापूर्ण लक्षण का भी समन्वय सम्भव बन सका, जिसका विश्वस्वरूपमीमांसा–निबन्ध के आरम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, (देखिए पृष्ठ सं० मनुशब्द का भावुकतापूर्ण निर्वचन १६७) । ब्रह्मसत्तानुगामिनी मानवप्रजा की वर्णव्यवस्था साध्ययुगानुगता वर्णव्यवस्था से ही अनुप्राणित रही । क्योंकि चतुर्वर्णव्यवस्था भी अन्यान्य मौलिक व्यवस्थाओं की भाँति प्राकृतिकी–नित्या–जन्मसिद्धा ही है, जिसका गुणकर्म्मात्मक संस्कारविशेषों से विकासमात्र हुआ करता है, जैसा कि–**'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च'** (वसिष्ठः) इत्यादि आर्षवचन से प्रमाणित है । आदियुगानुगत साध्य ही इस ब्रह्मयुग में ज्ञानबलानुगामी **'ब्राह्मण'** कहलाए, महाराजिक ही पौरुष-बलानुगामी **'क्षत्रिय'** कहलाए, आभास्वर ही वित्तबलानुगामी–भूतबलानुगामी **'वैश्य'** कहलाए, एवं तुषित ही शिल्पकलोपजीवी **'शूद्र'** कहलाए । यहाँ आकर वेदशास्त्रप्रामाण्यमूला शब्दप्रामाण्यभक्ति दृढमूल बनी, जिसे केन्द्रित किया वेदयुगात्मक देवयुग के उन देवमानवों नें, जो **'शवसोनपात्'** नाम से प्रसिद्ध थे * ।

ब्रह्मसत्ता प्रतिष्ठित हुई, विश्वमूल का निर्णयात्मक दृष्टिकोण सुव्यवस्थित बना । सभी कुछ सुसमन्वित हुआ । किन्तु आदियुगानुगता साध्यभावना भी प्राकृतिक वारुण–आसुरप्राण के पारम्परिक अनुग्रह से प्रक्रान्त रही, जिसके आधार पर आर्षवैज्ञानिकों नें 'देवासुर–संग्राम' की शाश्वतता घोषित की है । **देवगुरु बृहस्पति, असुरगुरु शुक्र,** इन दो आचार्य्यों के द्वारा भारतवर्ष में देवविद्या, एव असुरविद्या का प्रचार–प्रसार प्रक्रान्त बना, जो अद्यावधि भी येनकेन रूपेण सत्कार्य्यवादसिद्धान्तवत् प्रक्रान्त चला आ रहा है, एवं 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रक्रान्त ही रहेगा । शुक्रविद्यामूला असुरविद्या जहाँ

* देवविभाग के आठ वर्ग हैं, जिनमें एक विभाग मानवेतिहास से सम्बन्ध रखने वाले **'भौमदेवता'** ओं का है, जो **'मानवदेवता'** थे, जिनका अस्तित्व आज विलुप्त है । शतपथविज्ञानभाष्य के १–२–वर्षात्मक १–२–खण्डों में इन आठों वर्गों का विशद विवेचन कर दिया गया है ।

प्रत्यक्षमूलक–भूतप्रधान–जड़वादात्मक–भावुकतोत्तेजक–अन्तर्जगच्छान्तिविघातक–भौतिक आविष्कारों को उत्साह प्रदान करती रहती है, वहाँ बृहस्पतिविद्यामूला देवविद्यात्मिका निगमागमविद्या परोक्षमूलक–प्राणप्रधान–चेतन-भावात्मक–निष्ठासमर्पक–अन्तर्बहिरुभयजगत्–शान्ति–समृद्धिप्रवर्त्तक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–संघर्षात्मक–सहजभावों को प्रोत्साहित करती रहती है। असुरमूला सृष्टिविद्या, किंवा विश्वस्वरूपमीमांसा गन्धर्वनगर-लीलावत् आपातरमणीया बनती हुई जहाँ नीहारेण प्रावृता रहती हुई पदे पदे संशय की जन्मदात्री है, वहाँ देवमूला विश्वस्वरूपमीमांसा ब्रह्मानुगता लोकवत्त्वलीलावत् सदासर्वदा रमणीया प्रमाणित बनती हुई–निर्म्मला रहती हुई सर्वदैव–'इदमित्थमेव नान्यथा' का उद्घोष करती रहती है। भावुकमानव जहाँ परप्रत्ययनेयता से प्रावाहिक आसुरविद्याओं से विमोहित होता हुआ गतानुगतिक बना रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ देवविद्या के द्वारा मोहातिक्रान्त बनता हुआ शाश्वतीभ्यः समाभ्यः उसी सनातन–निगमागमनिष्ठा का अनन्योपासक बना रहता है। इसी नैष्ठिक मानव की इस शाश्वतीनिष्ठा को दृढ़मूल बनाने के लिए ही, इसे साध्ययुग से आरम्भ कर प्रलय–पर्य्यन्त प्रवाहित नीहारप्रावृत स्खलनपरम्पराओं से उद्बुद्ध बनाए रखने के लिए ही मन्त्रमहर्षिने विश्वस्वरूपमीमांसात्मक तात्त्विक प्रकरण का उपसंहार–सर्वथा प्रसङ्गरूप से ही **'न तं विदाथ य इमा जजान'** इत्यादि मन्त्र से किया है, जिसके उत्तरार्द्ध का प्रतीक **'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः०'** इत्यादि औपनिषद मन्त्र माना जा सकता है। **'नीहारेण प्रावृताः'** का प्रतीक **'अविद्याया-मन्तरे वर्त्तमानाः'**, है। **'जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति'** का प्रतीक **'स्वयं धीराः पण्डितं-मन्यमानाः'** है, एवं **'चरन्ति'** का प्रतीक **'दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** है। **'क्षरं त्वविद्या०**, (श्वे० उ० ५।१।) के अनुसार तमोगुणप्रधान भूतभौतिक मर्त्य पार्थिव सर्गात्मक विनाशी प्रपञ्च ही **'अविद्या'** है, जिसका सहकारी बनता है असुतृपभावात्मक विषयासक्त–एषणापरायण मन, जिसके सम्बन्ध से बुद्धि का सहज सौर अमृतभावात्मक ज्योतिर्म्मय अमृताक्षरनिबन्धन * विद्याभाग अभिभूत–आवृत हो जाता है, एवं अज्ञानमूला अविद्या-अधर्म्ममूलक अभिनिवेश–आसक्तिमूलक रागद्वेष–अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता, ये चार अविद्याभाव उदित हो जाते हैं। इन चारों से, अथवा तो चारों में से १-२-३-४–किसी से समन्वित लोकैषणात्मक मानव वास्तव में अविद्याग्रस्त है। भौतिक स्थूल क्षरात्मक जगत् को ही परमपुरुषार्थ मानते रहना, इसी के पीछे अनुधावन करते रहना ही अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानता है। इस अविद्यारूप क्षर-प्रपञ्च में आसक्त–व्यासक्त विद्यात्मक अक्षरभाव के विरोधी–शाश्वत अमृतसत्ता के बोधलेश से भी अपरिचित विविध वादानुगामी भूतविज्ञानवादी साध्य, तदनुगामी असुरमानव, तत्सम्प्रदाय को अद्यावधि भी सुरक्षित बनाए रखने वाले क्षणिक भूतविज्ञानवादी ही अविद्याग्रहग्रस्त बने रहते हुए **'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः'** को अक्षरशः चरितार्थ करते रहते हैं। अपने क्षरात्मक जड़विज्ञानवाद को ही मानव का एकमात्र पुरुषार्थ घोषित करने वाले ये भूतविज्ञानवादी अपने आपको बड़ा ही कुशल–मेधावी–विद्वान्–सृष्टिरहस्यव्याख्याता धीर विद्वान् मानते रहते हैं, बड़े गर्व से अपनी मान्यताओं का उद्घोष करते रहते हैं। सदा ही अपनी क्षरानुभूतियों–भूतान्वेषणों–आविष्कारों के यशोगान में साटोप प्रवृत्त रहते हुए अपनी **'जल्प्या'** उपाधि को समलंकृत करते हुए अपने मनोराज्य में मानस प्राणों से तुष्टितृप्ति का अनुभव करते हुए, अतएव **'असुतृपः'** उपाधि को अन्वर्थ बनाते हुए उपनिषत् के—**'स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः'** रूप से सृष्टितत्त्व के

*** क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।**

—श्वे० उप० ५।१।

मौलिक कारणों की व्याख्या करते हुए पशुवत् विचरते रहते हैं। इन्हें यह स्वप्न में भी विदित नहीं है कि, जिस अविद्यात्मक चर को ही इन्होंनें सर्वस्व मान रक्खा है, वह अविद्यात्मक चर तो केवल भौतिक शरीर पर ही विश्रान्त है। वस्तुतः सृष्टि का मूल तो वह है, जो चरवादी जानता भी नहीं। जिस मूल से यह विश्व जैसे उत्पन्न हुआ है, उस मौलिक कारण का तो इन चरवादियों को आभास भी नहीं है। इन्हीं सब भावों का संग्रहरूप से स्वरूपविश्लेषण करते हुए ऋषि ने **'न तं विदाथ य इमा जजान'** इत्यादि उद्बोधनात्मिका प्रासङ्गिकी घोषणा की है।

(२५२)–'अचिकित्वान्–चिकितुषश्चिदत्र०' (१२) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१२)–"स्वयं यथार्थनिर्णय करने में असमर्थ, यथार्थनिर्णय में (अपनी सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि–आर्षदृष्टि–ऋषिदृष्टि के प्रभाव से) सर्वात्मना समर्थ उन कवियों को मैं अपनी जानकारी के लिए ही यह पूँछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं इस रहस्य का जानकार नहीं हूँ। प्रश्न मेरा यही है कि, जिसने इन सुप्रसिद्ध ६ रजों को (अपने आकर्षणसूत्र से) अपने आप में व्यवस्थित बना रक्खा है, उस (रज से अतीत) अज एक तत्त्व का क्या स्वरूप है?" किंवा–"जिस उस अज एक आत्मरूप में (स्वरूप में) जो कोई एक वैसा तत्त्व है, जिसने इन ६ ओं रजों का स्तम्भन कर इन्हें व्यवस्थित बना रक्खा है, उसका क्या स्वरूप है?, यह मेरे जैसा अल्पज्ञ उन सुविज्ञों से जिज्ञासा कर रहा है, जो सुविज्ञ इस रहस्य को जान चुके हैं।"

आदियुगात्मक देवयुग के सुप्रसिद्ध परपारदर्शी महामहिम अनेक तात्त्विक रहस्यों के मन्त्रद्रष्टा, विशेषतः सौम्यमहानात्मनिबन्धना 'पितृविद्या' के द्रष्टा–व्याख्याता * महामहर्षि **दीर्घतमा** के द्वारा दृष्ट सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' का यह षष्ठ मन्त्र है। ऐसे महर्षि के ये उद्गार हैं कि, "मैं स्वयं क्योंकि नहीं जानता, किन्तु जानने की इच्छा रखता हूँ। अतएव जो इस विषय के जानकार हैं, उन से यह प्रश्न कर रहा हूँ।" इस दिशा में महर्षियों की आप्तता के प्रति अनन्य आस्था रखने वाले नैष्ठिक मानवों के हृदय में सहसा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, "क्या वास्तव में महर्षि दीर्घतमा इस रहस्य को न जानकर ऐसा प्रश्न कर रहे हैं?" सर्वश्रीसायणाचार्य्य ने तो इसी भाव का समर्थन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के आध्यात्मिक समन्वय की चेष्टा की है, जो **'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः–तिष्ठन्तु हुं वर्त्तताम्'** न्याय से आलोच्य नहीं हैं। जबकि इसी सूक्त में इसी महामहर्षि के द्वारा–**'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन्०'** इत्यादि मन्त्र में विस्पष्ट रूप से इस प्रश्न का समाधान उपलब्ध हो रहा है, तो यह कदापि नहीं माना जा सकता कि, दीर्घतमा अज्ञता के कारण **'अचिकित्वान्०'** इत्यादि प्रश्न कह रहे हैं। फिर इस भाव का वास्तविक तात्पर्य्य क्या?, क्यों विदित-वेदितव्य महर्षि ने **'हम स्वयं नहीं जानते, इसलिए जाननेवालों से प्रश्न कर रहे हैं'** इत्यादिरूप प्ररोचना शैलीका अनुगमन किया?। हमारे जैसा यथाजात लौकिक मानव रहस्यार्थगभीरा ऋषि की इस मन्त्रवाणी से सम्बन्धित इस दिशा का क्या समाधान कर सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध में हम तो केवल यही निवेदन कर अपना उत्तरदायित्व उपरत कर देते हैं कि, जिस प्रकार सर्वलोकस्रष्टा विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारे लिए

---

* महर्षि के अमुक पितृविद्यात्मक मन्त्रों के आधार से ही 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्' का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। देखिए, श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत–सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का 'प्र० वि० वि०' नामक परिच्छेद।

अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अविज्ञेय है, तथैव इन अचिन्त्य तत्वों के द्रष्टा महर्षियों की रहस्यार्थगभीरा मन्त्रवाक् भी हमारे जैसे लोकदृष्टियुक्त यथाजातों के लिए अविज्ञेय ही है। 'है सभी कुछ रहस्यपूर्ण शाश्वत सनातन-तत्त्व' इस समन्वय के अतिरिक्त **'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'**।

रहस्यार्थगभीरा ऋषिवाणी सर्वत्र परोक्षभाव को ही अपना लक्ष्य बनाए रहती है। कहीं प्रश्न के गर्भ में उत्तर समाविष्ट है, कहीं उत्तर के गर्भ में प्रश्न समाविष्ट है, कहीं परोक्ष नामनिर्वचनों में तत्तत्प्राणों का स्वरूप निहित है, कहीं 'अविज्ञेयता' के माध्यम से वाङ्मनसपथातीत अविज्ञेयतत्त्वों को विज्ञेय प्रमाणित कर देने वाली शैली का अनुगमन हुआ है, तो कहीं प्रत्यक्ष विज्ञेय तत्त्वों को अविज्ञेयतामाध्यम से व्यक्त किया गया है। **'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०', 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः', 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद',-'नेतिनेतीत्युपनिषत्', 'अविज्ञातं विजानतां-विज्ञातमविजानताम्', 'विज्ञातारमरे वा केन विजानीयात्'- 'कस्मै देवाय हविषा विधेम', 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः-अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'-'न तं विदाथ य इमा जजान', 'वाकः पृच्छामि मनसा अविजानन्'**- इत्यादि वचन ऋषिवाणी की इसी परोक्षप्रियशैली का समर्थन कर रहे हैं। **'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्'** इत्यादि प्रकृत मन्त्र भी इसी परोक्षशैली के आधार पर मायातीततत्त्व की ओर तटस्थरूप से मानवीय मनोबुद्धि का ध्यान आकर्षित कर रहा है।

स्थूलारुन्धती-न्यायेन इस सम्बन्ध में ऐसा कुछ आभास होता है कि, मायातीत परात्परब्रह्म के मायामय षोडशीपुरुष से स्वयम्भू के द्वारा समुत्पन्न यह पञ्चपर्वा विश्व अपने ६ रजों के रूप से अजाव्ययात्मप्रधान इस स्वायम्भुव षोडशीपुरुषलक्षण सत्यात्मा के सूत्रात्मरूप पर प्रतिष्ठित है। मायातीत परात्परवत् यह महामायावच्छिन्न-सहस्रवल्शेश्वर-स्वायम्भुव-सत्यषोडशीप्रजापति भी निष्कलाव्ययरूप विशुद्ध 'अज' रूप से मायातीत बनता हुआ वाङ्मनसपथातीत होकर अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय ही है, जिस अविज्ञेय-अनिर्वचनीय अज अव्यय की सत्ता 'आलम्बन' रूप से (अधिष्ठानरूप से) प्रत्येक सर्ग में समष्ट्या-व्यष्ट्या-उभयथा रहती है। प्रत्येक सर्गव्याख्या में सर्गस्वरूपव्याख्याता उस अविज्ञेय अचिन्त्य का तद्रूप से ही स्मरण कर लेना अनिवार्य्य मानते हुए इस अनिवार्य्यता के माध्यम से अपनी पूर्णविज्ञता ही घोषित कर रहे हैं, जैसाकि-**'विज्ञातमविजानताम्०'** इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्ट है। सर्वमूलभूत, अधिष्ठानकारणात्मक निष्कल अज अव्यय क्योंकि मायातीत, अतएव अविज्ञेय परात्परब्रह्म से समतुलित बनता हुआ अविज्ञेय है,[१] अविचिकित्स्य है। यही क्योंकि सम्पूर्ण-सर्गों का उपक्रमरूपात्मक अधिष्ठानकारण बनता है। अतएव दीर्घतमा महर्षि ने **'अचिकित्वान्०'** इत्यादि रूप से लोकात्मक सर्गों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए उसका अविज्ञेयतारूप से ही संस्मरण करा दिया है। न तो यहाँ प्ररोचना ही है, न महर्षि अज्ञ बन कर ही **'कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्'** यह कह रहे हैं। सबकुछ जानबूझ कर ही अविज्ञेय-अचिन्त्य-अजतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए ही महर्षि ने सहजरूप से इस परोक्षशैली का आश्रय लिया है, जो ऋषिपरम्परा की एक आश्चर्य्यकारिणी रहस्यार्थ-प्रतिपादिका महत्त्वपूर्ण शैली है।

'इमे वै लोका रजांसि' (यजुःसं० ११।६। शत० ६।७।४।५।) इत्यादि मन्त्रब्राह्मणवचनानुसार लोक ही 'रज' नाम से प्रसिद्ध है। **'सप्त व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः'** इत्यादि सान्ध्यसंस्मरणानुसार भूः-

भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः–सत्यम्, इस रूप से लोक सात माने गए हैं। यदि लोक ही का नाम रज है, तो 'षडिमा रजांसि' के स्थान में 'सप्त इमानि रजांसि' होना चाहिए था। किस दृष्टि से महर्षि ने ६ ही रज मानें ?, प्रश्न का समाधान 'रज' के पारिभाषिक अर्थ पर अवलम्बित है। **'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः'** (यजुःसं० ३४।३१)–**'रजसो विमाने'** (य०७।१६)–इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों में जिस अभिप्राय से रज शब्द पठित है, प्रकृतमन्त्र में भी रज शब्द उसी अभिप्राय से पठित है। वह क्रियाशील सृष्ट्युन्मुख भार्गवाङ्गिरस आपोमय पारमेष्ठ्य धामच्छद अत्रिप्राण ही 'रज' कहलाया है, जिसके सम्बन्ध से ऋतुमती स्त्री लोकभाषा (संस्कृतभाषा) में 'रजस्वला' कहलाई है, एवं **'छन्दोभ्यस्ता'** नाम की ऋषिभाषा में **'आत्रेयी'** कहलाई है (देखिए, शत० १।४।५।१३)। पारदर्शकताप्रतिबन्धक–अतएव मूर्त्त (स्थूल) सर्ग का मूल उपादान–रजोगुणान्वित–भार्गवसौम्य, आङ्गिरस आग्नेय, दोनों पारमेष्ठ्य आप्यप्राणों से समन्वित, **'न त्रिः इति अत्रिः'** इत्यादि * निर्वचनप्रधान प्राणविशेष ही 'अत्रि' कहलाया है, जिसके पार्थिवरूप से भास्वरसोमपिण्डात्मक 'चन्द्रमा' का स्वरूपनिर्माण हुआ है ÷।

भूरादि सत्यलोकान्त सातों लोकों में सत्यात्मक स्वयम्भूलोक तथाकथित अत्रिप्राण की सीमा से बहिर्भूत है। अतएव वह मूर्त्त पाञ्चभौतिक सर्ग से असंस्पृष्ट है। मूर्त्तसर्गात्मक रजःसर्ग का आरम्भ होता है भृग्वङ्गिरोऽत्रिमय (अतएव रजोमय) आपोमय परमेष्ठी से। अतएव इसे ही उपनिषदों नें **'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०'** इत्यादि रूप से 'शुक्र' (विश्वोपादानभूत द्रव्य) नाम से व्यवहृत किया है। **'तदेतद्–शुक्रमतिवर्त्तन्ति धीराः'** (उप०) इत्यादि के अनुसार पारमेष्ठ्य इस शुक्र का अतिवर्त्तन, एवं स्वायम्भुव आकाशरूप सत्यात्मा का अनुगमन ही अपरामुक्ति मानी गई है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यद्यपि लोक सात ही हैं। किन्तु सातवाँ सत्य स्वयम्भू क्योंकि रजोरूप मूर्त्तभाव से अतिक्रान्त है। अतएव उसे **'विरज ब्रह्मलोक'** मान लिया गया है, जो कि रज से अतीत होने के कारण ही **'परोरजा'** नाम से प्रसिद्ध है। अतएव इसे लोकगणना से महर्षि दीर्घतमा ने पृथक् करते हुए **'षडिमा रजांसि'** ही सिद्धान्त स्थापित कर दिया है। पूर्वप्रतिपादिता पञ्चविधा अण्डसृष्टि का मूलप्रभव परमेष्ठीरूप अस्त्वण्ड ही बनता है। अण्ड ही दीर्घवृत्तात्मक विचाली सर्ग का आधार बनता है। जो वृत्तौजा है, वह स्वरूपतः स्थिर है। उसमें कम्पन नहीं है। अतएव सत्यस्वयम्भू स्थिर है, शेष अण्डात्मक ६ ओं लोक गतिमान् हैं। सहजभाषा में यों समन्वय कर लीजिए कि, चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर अपने 'दक्षवृत्त' पर परिक्रमा लगा रहा है, सचन्द्र भूपिण्ड अपने 'अक्षवृत्त' पर परिभ्रमण करता हुआ (इसके द्वारा अहोरात्रनिबन्धना दैनंदिनगति का स्वरूपप्रवर्त्तक

---

* अपनी घन–तरल–विरल–अवस्थाओं से भृगुतत्त्व–आपः, वायुः, सोमः, इन तीन रूपों में, अङ्गिरातत्त्व अग्निः, यमः, आदित्यः, इन तीन रूपों में विभक्त है। इस प्रकार दोनों हीं पारमेष्ठ्यतत्त्व त्रिः–त्रिः–रूपों में परिणत रहते हैं। इन दोनों हीं प्राणों के साथ मूर्त्तभावप्रवर्त्तक–स्थानावरोधी (जगह रोकने वाला), अतएव 'धामच्छद' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य जिस प्राण का सम्बन्ध रहता है, वह एक ही रूप में में परिणत रहता है। अतएव 'न त्रिः' इस निर्वचनानुसार इसे 'अत्रिः' कहा गया है।

÷ देखिए–अत्रिख्याति का पौराणिक प्रकरण।

बनता हुआ इस स्वाक्षरिभ्रमण के साथ साथ) साम्वत्सरिक 'क्रान्तिवृत्त' पर* सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्र-भू-सहित सूर्य्य-पिण्ड 'अयनवृत्त' पर परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। एवं चन्द्र-भू-सूर्य्य-सहित परमेष्ठी 'विश्ववृत्त' पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। परमेष्ठी, चन्द्रमा, इन दोनों भार्गव सौम्यपिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। सूर्य्य, भूपिण्ड, इन दोनों आङ्गिरस आग्नेय पिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक वृत्तपरिभ्रमण है। इसप्रकार चारों पिण्ड परिभ्रममाण हैं अलातचक्रवत्। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है। अतएव इसे लोकातीत मान लिया जाता है। लोकातीत, वागग्निलक्षण-आकाशात्मा, अविचाली,वृत्तौजा सत्य स्वयम्भू परोरजा ने हीं इन ६ ओं रजों का अपनी सूत्रशक्ति के द्वारा उसी प्रकार नियमित व्यवस्थित रूप से स्तम्भन कर रक्खा है, जैसे कि नागदन्त (खूँटी) से बँधा हुआ सूत्र (डोर) अग्रभागस्थित कन्दुकादिको आबद्ध रखता हुआ इसे मर्य्यादित बनाए रहता है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए श्रुति ने कहा है—**'वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि'**। **अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा,** तीनों स्वायम्भुव मनोता मानें गए हैं (देखिए पृ० सं० ३७८)। हृ-द-यम्-लक्षण हृद्याक्षरत्रयी (ब्रह्मेन्द्रविष्णुत्रयी) ही स्वयम्भु का अन्तर्य्यामीरूप है, जिसे **'शास्ता'-'नियतिदण्ड'-'ब्रह्मदण्ड'**-आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। पिण्डपृष्ठात्मक अग्नि-सोम नामक दोनों अक्षर ही 'सूत्रात्मा' है। एवं ऋक्-यजुः-सामलक्षण ब्रह्मनिःश्वसितरूपा अपौरुषेया वेदत्रयी ही स्वायम्भुव वेदात्मा है। इन तीन मनोताओं से स्वयम्भू-सत्यात्मा त्रिःसत्य बना हुआ है। अन्य सोपाधिक विश्वसत्यों का सत्य यही सत्य है। अतएव इसे **'सत्यस्य सत्यम्'** कहा जाता है। निम्नलिखित निगमागमवचन इसी सत्यात्मा का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

(१)— **भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः ॥**
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ (तै० उप० २।८।)

(२)— **सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।**
सत्यस्यसत्यं ऋतसत्यनेत्रे सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

—**श्रीमद्भागवत**

स्वायम्भुव सूत्रात्मा के आकर्षण से ही ६ ओं रज आकर्षित होते हुए मर्य्यादित बने हुए हैं, यही तात्पर्य्य है, जिसका 'वियस्तस्तम्भ' से विश्लेषण हुआ है। आकाशात्मा-अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा-सत्यस्यसत्य-मूर्त्ति-परोरजा-विरज-सप्तम जिस स्वयम्भू प्रजापति ने इन भूरादि परमेष्ठ्यन्त ६ ओं रजों का अपने सूत्ररूप

---

* **सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता।** (सामसं० पू० २।२।)।
यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि । (ऋक्सं० ८।१४।५।)।

से स्तम्भन कर रक्खा है, वह सत्यस्वयम्भू उस षोडशीप्रजापति नामक महामायी सहस्रवल्शेश्वर–अश्वत्थ • नामक अज अव्यय के महामायावच्छिन्न व्यापक (विश्वव्यापक) रूप में अङ्गसम्बन्ध से समाविष्ट 'एक' ही रूप है। यहाँ समन्वय यही अपेक्षित है कि, महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति 'अज' नामक अव्ययात्मा है, जिसके लिए–'**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**' इत्यादि प्रसिद्ध है। जैसा रूप (स्वरूप) इस सहस्रवल्शेश्वर महामायी अज का है, ठीक वैसा ही रूप, वही संस्थानक्रम विश्वकर्म्मा–एकपञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शात्मक ईश्वर योगमायी स्वयम्भू प्रजापति का है, जिसने ६ रजों का स्तमन कर रक्खा है। परमेष्ठी-सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा, ये चारों पुण्डीर तो अण्डसृष्टि से समन्वित होते हुए दीर्घवृत्तात्मक त्रिकेन्द्रभाव में परिणत होते हुए उस वृत्तौजा, अतएव एककेन्द्रात्मक, अतएव सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख महामायी सहस्र-वल्शेश्वर के रूप (स्वरूप) से सर्वात्मना समतुलित नहीं है। इन चारों को स्वमहिमामण्डल में भुक्त रखने वाला स्वयम्भू ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है, जो उस वृत्तौजा की भाँति अण्डसृष्टि से असंसृष्ट रहता हुआ वृत्तौजा है, अतएव तद्वत् यह भी सहस्रशीर्षः सहस्राक्षः सहस्रपात् है। इस प्रकार उस महामायी सहस्रवल्शेश्वर अज के रूप में इन पाँचो पुण्डीरों में से एकमात्र 'स्वयम्भू' नामक वृत्तौजा पुण्डीर ही ऐसा पुण्डीर है, जो उससे सर्वात्मना समतुलित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है–'**अजस्य रूपे किमिपि स्विदेकम्–(सहस्रवल्शेश्वरलक्षणे अजस्वरूपे किमप्येकम्–यद्यस्ति–पुण्डीरस्वयम्भू-स एव वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि)**। यही प्रकृतमन्त्र का संक्षिप्त अक्षरार्थसमन्वय है।

(२५३) 'तिस्रो मातृन्त्रीन् पितृन् बिभ्रत्०' (१३) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१३) "तीन माताओं को, एवं तीन पिताओं को (इस प्रकार इन ६ दम्पतियों को) धारण करता हुआ (वह) एक (इन सब के) ऊर्ध्वभाग (ऊपर) में स्थित रहता हुआ (यत्किञ्चित् भी तो) ग्लानि का (थकानका) अनुभव नहीं करता। उस द्यु के (सर्वोच्च) पृष्ठ पर ये (सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक) विश्वपर्व विश्वातीता वाक् से मन्त्रणा करते रहते हैं (समन्वित होते रहते हैं)।"

अबतक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में जो बारह मन्त्र व्याख्यात हुए हैं, उन में कई एक वैसे भावों का उल्लेख हुआ है. जिनके आधार पर विश्वपर्वों की संख्या के सम्बन्ध में परस्पर समन्वय कर लेना सर्वसाधारण के लिए कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए '**या ते धामानि०**' इत्यादि मन्त्रद्वारा विश्व के '**परमधाम–मध्यमधाम–अवमधाम**' ये तीन धाम बतलाए गए हैं। तीनों का क्रमशः स्वयम्भूगर्भित परमेष्ठी-सूर्य्य–चन्द्रगर्भितापृथिवी–इन तीनों के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए तीनों को संयती–क्रन्दसी–रोदसी–नाम के तीन लोक बतलाया गया है। इस दृष्टि से विश्वपर्व तीन भागों में विभक्त प्रमाणित हो रहे हैं। कभी स्वयम्भू परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा, भेद से विश्वपर्व पञ्चधा विभक्त प्रमाणित किए जा रहे हैं। अन्यत्र स्वयम्भू को तो अण्डसर्ग से पृथक् माना जा रहा है, एवं 'परमेष्ठी१–सूर्य्य२–भूपिण्ड३ महिमापृथिवी४–चन्द्रमा५, इस प्रकार चार के ही पाँच पर्व मानकर इनके साथ क्रमशः अस्त्वण्ड, हिरण्मयाण्ड, पोषाण्ड, यशोऽण्ड, रेतोऽण्ड, रूप से पाँच अण्डों का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। कभी भूः-भुवः–स्वः–महः–जनत्–तपः-सत्यम्–सात लोक बतलाते हुए विश्व को सप्तपर्वा घोषित किया जा रहा है। तो कभी इनमें से ६ को लोक माना जा रहा है, सातवें सत्य को लोकाधिष्ठाता प्रमाणित किया जा रहा है। स्थूलदृष्टया परस्पर असमन्वित

से प्रतीत ये सभी विभिन्न दृष्टिकोण सुसूक्ष्म '**त्रैलोक्यत्रिलोकीविज्ञान**' के परिज्ञान से सर्वात्मना सुसमन्वित हो जाते हैं। अतएव १३–१४, इन दो मन्त्रों से यही समन्वयविज्ञान स्पष्ट हुआ है।

भौमत्रिलोकी[१], उद्धृत्रिलोकी[२], कश्यपत्रिलोकी[३], यज्ञत्रिलोकी[४], वामनत्रिलोकी[५] अध्यात्मत्रिलोकी[६], स्तौम्यत्रिलोकी[७], त्रैलोक्यत्रिलोकी[८], भेद से अष्टधा विभक्त देववर्गवत् त्रिलोकी भी आठ वर्गों में विभक्त मानी गई है, जिसका अन्य निबन्धों में यथावसर विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। प्रकृत के दोनों मन्त्रों (१३–१४) से आठवीं 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसके सुसमन्वय के अनन्तर विश्वपर्वानुबन्धी सम्पूर्ण विभिन्न दृष्टिकोण सुसमन्वित हो जाते हैं। '**द्यौष्पितः०**' * इत्यादि मन्त्र श्रुति के अनुसार 'द्यौ' का पारिभाषिक नाम 'पिता' है; एवं पृथिवी का पारिभाषिक नाम 'माता' है। द्यौः और पृथिवी, इन दोनों का मध्य का भाग '**अन्तः इक्षते**' निर्वचनानुसार 'अन्तरीक्ष' कहलाया है, जो परोक्षभाषा में अन्तरिक्ष कहलाता है। इसप्रकार दो के तीन लोक हो जाते हैं, जिनका समष्ट्यात्मक पारिभाषिक नाम है– '**द्यावापृथिवी**', जैसा कि '**इमे वै द्यावापृथिवी परीशासौ**' (शत० १४।२।१।११) ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। '**द्यौ**[१] **आ**[२] **पृथिवी**[३]' का ही सन्ध्यात्मकरूप द्यावापृथिवी है। मध्यस्थ 'आ' कार अन्तरिक्ष का ही संग्राहक बन रहा है। अन्यत्र इन्हीं तीनों के साङ्केतिक नाम क्रमशः '**स्वः भुवः भूः**' भी माने गए हैं। यही 'त्रिलोकी' शब्द का सामान्य स्वरूपपरिचय है। इसी को मूल मानकर हमें मन्त्रार्थ का समन्वय करना चाहिए।

'**त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः**' (शत० ब्रा०) के अनुसार उक्त तीनों लोक आत्मानुबन्धी मनःप्राणवाग्भावों के नैसर्गिक त्रिवृद्भाव के कारण त्रिवृद्भावापन्न बन रहे हैं, जिसका अर्थ यही है कि भूरूप पृथिवीलोक, भुवःरूप अन्तरिक्षलोक, स्वःरूप द्युलोक, तीनों प्रत्येक क्रमशः भूः–भुवः–स्वः, इस रूप से तीन तीन अवान्तर लोकों में परिणत हो जाते हैं। फलतः इस त्रिवृद्भाव के कारण तीन के ९ लोक हो जाते हैं। यही 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' की सामान्य रूपरेखा है। इस दृष्टि से ९ लोकों में तीन द्यौः हैं, तीन पृथिवी हैं, तीन अन्तरिक्ष हैं। द्यौः, और पृथिवी पूर्वकथनानुसार क्रमशः पिता-माता हैं। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है–'**तिस्रो मातस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रत्०**' इत्यादि। 'भूः' रूप प्रथम लोकानुबन्धी भूः–भुवः-स्वःरूप त्रिवृद्भाव प्रथम त्रैलोक्य है, जो '**रोदसीत्रैलोक्य**' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'भुवः' रूप द्वितीय लोकानुबन्धी भूः–भुवः– स्वःरूप त्रिवृद्भाव द्वितीय त्रैलोक्य है, जो '**क्रन्दसीत्रैलोक्य**' कहलाया है। एवं 'स्वः' रूप तृतीय लोकानुबन्धी भूः–भुवः–स्वःरूप त्रिवृद्भाव तृतीय त्रैलोक्य है, जो '**संयतीत्रैलोक्य**' नाम से प्रसिद्ध है। तीनों के क्रमशः ब्रह्माक्षर–विष्णवक्षर–इन्द्राक्षर, ये तीन हृदयाक्षर मूलाधिष्ठान बने हुए हैं।

*** द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।**
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥
—ऋक्संहिता ६।५१।५।

नवलोकात्मकत्रैलोक्यस्वरूपपरिलेखः—

१– (३) स्वः द्यौः			
२– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–स्वर्लोकः		
३– (१) भूः–पृथिवी	(संयतीत्रैलोक्यम्)	ब्रह्माक्षरत्रिलोकी (स्वायम्भुवी)	
४– (३) स्वः–द्यौः			
५– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–भुवर्लोकः	विष्णवक्षरत्रिलोकी (पारमेष्ठिनी)	सैषा त्रैलोक्यत्रिलोकी (नवलोकात्मिका)
६– (१) भूः–पृथिवी	(क्रन्दसीत्रैलोक्यम्)		
७– (३) स्वः–द्यौः			
८– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–भूलोकः		
९– (१) भूः–पृथिवी	(रोदसीत्रैलोक्यम्	इन्द्राक्षरत्रिलोकी (सौरी)	

तीन माता–रूप तीन पृथिवीलोक, तीन पिता–रूप तीन द्युलोक, अतएव तीनों द्यु–पृथिवियों के तीन ही अन्तरिक्ष, सम्भूय ९ लोक हो जाते हैं । ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, **'सप्त व्याहृतीनां–प्रजापतिर्ऋषिः'** इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तसम्मत ७ लोकों का क्या अर्थ ?। प्रश्न का समाधान 'अन्तर्भाव' से सम्बन्धित है । रोदसी नामक प्रथम त्रैलोक्य का स्वर्लोक क्रन्दसी नामक द्वितीय त्रैलोक्य का भूलोक बन रहा है । एवं क्रन्दसी त्रैलोक्य का स्वर्लोक संयती नामक तृतीय त्रैलोक्य का भूलोक बन रहा है । इस प्रकार ९ में से दो लोक संयती, एवं क्रन्दसी त्रैलोक्यों में अन्तर्भूत हो रहे हैं । फलतः गणनास्थिति में ९ के सात ही लोक शेष रह जाते हैं, जैसाकि पूर्व की संग्रहात्मिका तालिकाओं में स्पष्ट किया जा चुका है । अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि लोक सात हैं, तो फिर **'षडिमा रजांसि'** का क्या अर्थ ?। उत्तर पूर्वनिरूपण से गतार्थ है । सातवाँ पुण्डीरस्वयम्भू पुण्डीरात्मक विश्वापेक्षया जहाँ लोकसीमा में अन्तर्भुक्त रहता हुआ 'लोक' (व्यक्त) है, वहाँ सहस्रपुण्डीरात्मक व्यापक अज षोडशी विश्वकर्म्मा स्वयम्भू का **'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** के अनुसार) प्रतीक बना हुआ, तदभिन्नापेक्षया तद्रूप ही बनता हुआ लोकातीत है, अतएव लोकसीमा से बहिर्भूत बनता हुआ जनादि ६ओं लोकों का मूलाधार बन रहा है ।

इसके अतिरिक्त ६ लोक जहाँ गतिभाव के कारण 'रज' (क्रियात्मक गतिशीलतत्त्व) हैं, वहाँ सातवाँ सत्य स्वयम्भूलोक अपने पूर्णात्मक 'वृत्तौजा' रूप से सत्त्वगुणक बनता हुआ स्थिर है। इस दृष्टि से भी इसे सप्तलोकगणना से पृथक् मान लिया जाता है। इस प्रकार लोकानुबन्धिनी सभी समस्याओं का त्रैलोक्य-त्रिलोकीविज्ञान के समन्वय के द्वारा सर्वात्मना यथावत् समन्वय हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि, किसी भी भार का वहन करने से भारवाही म्लान हो जाता है, क्लान्त बन जाता है, थक जाता है। कारण यही है कि, 'भार' धर्म्मात्मक मूर्त्त पदार्थ धामच्छद होता है। अतएव यह अपने केन्द्र की ओर अपने पिण्डात्मक मूर्त्त पदार्थ को आकर्षित किए रहता है। उदाहरण के लिए एक पाषाणखण्ड को ही लक्ष्य बनाइए। पाषाण का केन्द्र पाषाणभार को चारों ओर से अपनी ओर आकर्षित रखता है। जब एक व्यक्ति इसे उठाता है, तो यह तो इसे अपने केन्द्राकर्षण से आकर्षित करता है, दूसरी ओर पाषाणकेन्द्र इस पाषाण को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। दोनों आकर्षणों का समन्वय ही व्यक्ति को 'भार' प्रतीत कराता है। कालान्तर में इस विजातीय पाषाणकेन्द्राकर्षण से अपने केन्द्राकर्षण का अधिक समय पर्य्यन्त समसमन्वय सुरक्षित रखने में असमर्थ होता हुआ पाषाणभार से क्लान्त बनकर इसे अन्ततोगत्वा छोड़ देता है। हाँ, यदि व्यक्ति का केन्द्रापकर्षणात्मक आकर्षणबल पाषाणकेन्द्राकर्षण बल से अधिक बलवान् होता है, तो उस दशा में वह व्यक्ति इस पाषाणभार से नहीं थकता। साधारण व्यक्ति एक दो मन के पाषाणभार से जहाँ क्लान्त हो जाता है, वहाँ मल्ल ५-७ मन के पाषाण को कन्दुक (गेंद) वत् उठाता हुआ अणुमात्र भी क्लान्ति का अनुभव नहीं करता। क्या इस भारसमतुलन के लिए भारवाहक का भारात्मक पदार्थ की अपेक्षा अधिक स्थूल होना आवश्यक है ?, नेति होवाच। मूर्त्त पिण्ड की स्थूलता-कृशता से केन्द्राकर्षणात्मक भार के तारतम्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। कृशशरीरी भी दृढ़गात्र व्यक्ति अधिक भार उठा सकता है, एवं स्थूलशरीरी भी शिथिलगात्र व्यक्ति थोड़े से भार से क्लान्त हो जाता है। वस्तुतः इस भार का समतुलन हो रहा है 'केन्द्रबिन्दु' पर। यदि केन्द्रबिन्दु के साथ अपने केन्द्रबिन्दु का समसमन्वय करा दिया जाता है, तो इस केन्द्रसमसमन्वय से एक छोटा भी पदार्थ अपने से बड़े भी आकार-प्रकार के पदार्थ का निर्भाररूप से वहन कर लेता है। यही सुप्रसिद्धा **'केन्द्रापकर्षिणीविद्या'** है, जिसका अपने अन्तर्जगत् के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्थापित कर लेने के अनन्तर हृदयबलसिद्ध वह साधक अतुलित भार को निर्भाररूप से कन्दुकवत् उठा सकता है, जिसके प्रचण्ड उदाहरण निगमागमविद्यास्वरूप भगवान् वासुदेव कृष्ण माने जा सकते हैं, जिनका गोवर्द्धनधारण आस्तिकजगत् की मान्यता से अनुप्राणित बन रहा है *।

*** प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजुःसंहिता३१।१६।)

उक्त मन्त्रद्वारा इसी प्राजापत्या केन्द्रापकर्षिणीविद्या की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्नीषोमाक्षरों से अनुप्राणित अन्नाद-अन्नरूप क्षररूप अग्नीषोमों से कृतरूप है। इस अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में हृ-द-यम्-रूप ब्रह्मेन्द्रविष्णु (स्थिति-गति-आगति) लक्षण, अन्तर्य्यामी नामक जो हृच्छक्ति प्रतिष्ठित रहती है, गर्भस्थिता (केन्द्रस्थिता) वही शक्ति **'प्रजापति'** कहलाई है, जिसकी

[शेष पृष्ठ ४११ पर देखिए]

चन्द्रकेन्द्रशक्ति भूकेन्द्र से, भूकेन्द्रशक्ति सूर्य्यकेन्द्र से, सूर्य्यकेन्द्रशक्ति परमेष्ठिकेन्द्रशक्ति से, एवं इन सब की केन्द्रशक्तियाँ स्वायम्भुवी प्राजापत्या महीयसी सर्वकेन्द्रशक्ति से समतुलित है। उसका केन्द्राकर्षण आकाशात्मा है, वृत्तौजाभावापन्न है। अतएव समस्त विश्वात्मक-मूर्त्त-अमूर्त्तात्मक-षड्रजात्मक भार का वहन करते हुए भी वह यत्किञ्चित् भी म्लान-क्लान्त-श्रान्त-परिश्रान्त-क्षुब्ध नहीं होता, नहीं हो सकता।

(पृष्ठ ४१० का शेष)
प्रजा अग्नीषोमात्मक पिण्ड, एवं वाक्साहस्रीरूप छन्दोमास्तोमात्मक वस्तुपिण्ड का वह महिमामण्डल ही है, जिसके केन्द्र में वस्तुपिण्ड सुरक्षित रहता है। महिमा के केन्द्र में वस्तुपिण्ड, एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्राजापत्या वह शक्ति, जो अपने अविनाशी अनुच्छित्तिधर्म्म से-अक्षरधर्मा है, नित्य है, अजायमान है, एवं जिस अजायमान अक्षरशक्ति से नित्य अविनाभूत क्षरशक्ति के द्वारा ही मूर्त्त वस्तुपिण्ड उत्पन्न हुआ है, प्रतिष्ठित है। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते'** का यही अक्षरार्थ है। कैसे इस हृदयस्थिता प्राजापत्या केन्द्रशक्ति का परिचय प्राप्त किया जाय ?, मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। जो वस्तुपिण्ड वृत्तौजा (वर्तुलाकार-गोलाकार) होता है, त्रिकोणमिति-सिद्धान्तानुगता 'त्रिज्या' से उस वस्तुपिण्ड के केन्द्र का तो सुविधा से समन्वय हो जाता है। किन्तु त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त (अण्डवृत्त), अष्टकोण, षट्कोण, चतुष्कोण, त्रिकोण, किंवा यष्टिवत् लम्बित पिण्डों के केन्द्र का परिचय कठिन बन जाता है, जिस कठिनता से त्राण पाने का एक अन्यतम सरल उपाय है 'भारसमतुलन'। एक लकड़ी (छड़ी-बेंत) को आप अपनी मध्याङ्गुली पर रखिए। आप देखेंगे लकड़ी पार्थिवकेन्द्राकर्षण से अङ्गुली पर स्थिर न रह कर कभी इधर तो कभी उधर लुढ़कती रहती है। आप शनैः शनैः सावधानी से इसके समतुलन का प्रयत्न प्रक्रान्त रखिए। जिस भी बिन्दु के साथ आप की अङ्गुली के लकड़ीप्रदेशयुक्त केन्द्र का, लकड़ी के केन्द्र का, एवं भूकेन्द्र का, तीनों केन्द्रों का समसमतुलन हो जायगा, उसी क्षण लकड़ी 'स्थिररूप' से अङ्गुली पर ठहर जायगी। कारण इस केन्द्र के आधार पर ही सम्पूर्ण वस्तुपिण्डमात्राओं का भार स्थित रहता है— **'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'**। हाँ, है यह काम थोड़ा बुद्ध्यनुगत स्थिरता-धीरता से सम्बन्धित। शीघ्रता-चञ्चलप्रज्ञता में आप केन्द्रसमतुलन, किंवा केन्द्रस्वरूपदर्शन नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है कि-**'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः'**। इसी केन्द्रसमतुलनात्मक केन्द्राकर्षण से अतुलित भारात्मक भी भूपिण्ड सूर्य्यकेन्द्र से आकर्षित है, तो साथ ही भूकेन्द्र से सूर्य्य भी आकर्षित है। इस समसमन्वयात्मक समाकर्षण से ही न तो सूर्य्य ही भूपिण्ड को आत्मसात् कर सकता, नाहीं भूपिण्ड ही सूर्य्य को आत्मसात् कर सकता। अपितु दोनों के आकर्षण-प्रत्याकर्षण से क्रान्तिवृत्तात्मक उस सम्वत्सरचक्र का व्यवस्थित स्वरूप बना हुआ है, जिस पर भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। यही वह आकर्षणशक्ति है, जिसका-**'आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत्०'** इत्यादि रूप से सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् सर्वश्री भास्कराचार्य्य ने-**'समे समन्तात् पततु त्वियं खे'** रूप से उस आशङ्का का समाधान किया है, जो **'यह भूपिण्ड निराधार है तो गिर क्यों नहीं पड़ता ?'** इस रूप से सर्वसामान्य में हुआ करती है। दुर्भाग्य है भारतराष्ट्र का, जिसने निगमतत्त्वों को विस्मृत कर अपनी इन रहस्यपूर्ण विद्याओं को विस्मृति के गर्भ में विलीन कर वर्त्तमान नवशिक्षित सन्ततियों को अपने पूर्वजों के उपहास में प्रवृत्त कर दिया, एवं सर्वथा अर्वाचीन न्यूटन आदि को ही आकर्षणसिद्धान्त के 'प्रथम आविष्कारक' सम्मान से सम्मानित मान लिया। कालाय तस्मै नमः।

'ऊर्ध्व' शब्द भी पारिभाषिक है। सर्वसाधारण में 'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'ऊँचा', 'अधः' का अर्थ है-'नीचा'। अर्थ ठीक भी है, नहीं भी है। 'ऊर्ध्व' सुनते ही सामान्यजन शून्य आकाश की ओर अंगुली-निर्देश कर देते हैं, एवं अधः से भूपिण्ड की ओर निर्देश कर देते हैं। इस दृष्टि से इन अर्थों का कोई महत्त्व नहीं है। विज्ञानजगत् में पूर्वादि दिशाओं की भाँति, सापेक्ष एक-दो-तीन-आदि यच्चयावत् संख्याओं की भाँति, रती-छटाँक-आधापाव-पाव-सेर-मन-आदि भारमानों की भाँति ऐसा ऊँचा-नीचा भाव भी मातिसिद्ध पदार्थ ही है। लोकव्यवहारमात्र के लिए इनकी मानसिक कल्पनामात्र है। वस्तुतः 'सत्ता' दृष्ट्या ये सब शून्यं शून्यं ही हैं। वस्तुतः विज्ञानदृष्ट्या-'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'केन्द्र', एवं 'अधः' का अर्थ है **'परिधि'**। परिधिरूप बहिर्मण्डल (वस्तुपिण्ड के परिणाह-घेर-रूप मण्डल) की प्रतिबिन्दु से तत्केन्द्र ऊर्ध्व है, एवं इस ऊर्ध्वकेन्द्र की अपेक्षा से परिधिमण्डल की प्रतिबिन्दु अधः है। **'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'** इत्यादि औपनिषद वचन का 'ऊर्ध्व' शब्द भी केन्द्र का, तथा 'अवाक्' शब्द परिधि का ही वाचक बन रहा है। सम्पूर्ण भुवन (रजात्मक ६ओं लोक) स्वायम्भुव केन्द्र में ही (केन्द्राकर्षण में ही) संस्थित हैं। इसी ऊर्ध्वात्मक केन्द्राकर्षणसमनतुलन से तीनों माताओं तथा तीनों पिताओं को धारण करता हुआ भी वह केन्द्रबलरूप स्वयम्भू सत्यात्मा म्लान नहीं होता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—**"तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति"**।

'अवग्लापयन्ति मातॄः-पितॄन्' से कुछ और भी समझना है। वह स्वयं तो थकना जानता ही नहीं, क्योंकि वह तो 'तस्थौ' है, स्थितिभावात्मक है। गति ही क्रिया है। क्रिया ही विसर्गरूप से वस्तुमात्रा के ह्रास का कारण बनती हुई वस्तु को थकाती है, म्लान बनाती है, जिस क्षतिपूर्त्ति के लिए केन्द्रशक्ति को 'आदान' का अनुगमन करना पड़ता है। जब कि सत्य-स्वयम्भू स्थितिभावापन्न है, तो उसमें विसर्गात्मक क्षय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तभी तो इसे-**'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** इत्यादि रूप से 'अज' कहना अन्वर्थ बनता है। शेष ६ओं परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त रजोलोक क्योंकि क्रियाशील हैं। अतएव इनके सम्बन्ध में 'म्लान' भाव का प्रश्न उपस्थित होता है। **'नेमवग्लापयन्ति'** वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ६ओं रजोलोक भी अपना अपना स्वतन्त्र केन्द्र रख रहे हैं। यदि ये स्वतन्त्ररूप से ही परिभ्रममाण होते, तो अवश्य ही न केवल ये थक ही जाते, अपितु विस्रंसनमात्राक्षय के नैरन्तर्य्य से कालान्तर में इनकी स्वरूपसत्ता ही उच्छिन्न हो जाती। किन्तु देख रहे हैं कि, सब निरन्तर प्रजासर्ग में अपनी मात्राओं का उत्सर्ग करते हुए भी ज्यों के त्यों अक्षुण्ण बने हुए हैं। कारण स्पष्ट है। जिस स्वयम्भूप्रजापति की केंद्रशक्ति के आधार पर इनका आविर्भाव हुआ है, उसी केन्द्रशक्ति के अनुगत बने रहने से इनके विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति भी होती रहती है। इसी केन्द्रानुगति से इनका स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ है। इनमें से कोई भी न तो थकता ही, न म्लान ही होता, न स्वरूप से ही उच्छिन्न होता। थकते वे हैं, नष्ट वे होते हैं, जो उस प्राजापत्य केन्द्रबल का परित्याग कर अमर्य्यादित-स्खलितकेन्द्र-उन्मर्य्याद-उच्छृङ्खल बन जाया करते हैं। यही **'नेमवग्लापयन्ति'** का रहस्यार्थ है। केवल इस वाक्य से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण नहीं हो रहा है। अतएव महर्षि को उत्तरभागद्वारा इसी तत्त्व का विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय करना पड़ा। **'ईम्-न अवग्लापयन्ति'** ही पदच्छेद है, जिसका समन्वयार्थ है (उस स्वयम्भूकेन्द्र से मर्य्यादित-व्यवस्थित-समतुलित रहते हुए ये ६ओं रज) उस स्वयम्भू को भी ये ग्लानि नहीं पहुँचा रहे,

(एवं स्वयं भी म्लान नहीं हो रहे)। दोनों हीं इस केन्द्रसमतुलन से निर्भार बने हुए हैं। कहना न होगा कि, नैगमिक परिभाषाओं के विस्मृतप्राय हो जाने से ही भाष्यकारों को इस सम्बन्ध में सर्वथा वैसी आपातरमणीय कल्पनाओं का ही आश्रय लेना पड़ा है, जो प्रौढ़िवादमात्र ही कहा जा सकता है *।

"प्रजासर्ग में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी, इस निर्म्माणकर्म्म में अपनी मात्राओं से निरन्तर विस्रस्त रहते हुए भी परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त ये लोक क्या कारण है कि, न तो थकते ही, एवं न स्वस्वरूप से क्षीण ही होते। अपितु **'एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार ये सदा स्वस्वरूप से अक्षुण्ण ही बने रहते हैं ?," इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि—**"ये ६ ओं हीं माता-पिता (लोक) द्यु के पृष्ठ पर मन्त्रणा करते रहते हैं"।** कौनसा द्यु लोक ?, जो वास्तव में द्यु लोक है। भूरूप रोदसीत्रैलोक्य, भुवःरूप क्रन्दसीत्रैलोक्य, एवं स्वःरूप संयतीत्रैलोक्य ही क्रमशः महाव्याहृतिरूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-नामक तीन लोक हैं, जिनके त्रिवृद्भाव से ही आगे चलकर तीन तीन लोकविवर्त्त बन जाते हैं। इस दृष्टि से वस्तुतः 'द्यु लोक' तीसरे संयतीत्रैलोक्य का स्वयम्भूरूप द्यु लोक ही है। यही 'द्यु पृष्ठ' है, जिसका पारिभाषिक नाम है—**'पारावतपृष्ठ'**। ६ ओं लोक इसी स्वायम्भु व द्यु पृष्ठ पर परस्पर मन्त्रणा करते रहते हैं। कौन, किस से, कैसे मन्त्रणा कर रहे हैं ?, इस प्रश्नत्रयी का एकमात्र समाधान है स्वायम्भु वी वह वाक्, जिसे हमनें पूर्व में 'यजुर्वाक्' कहा है, जिसके सम्बन्ध में-**'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात, वागेव साऽसृज्यत'** इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध है, जो यजुर्वाक् (आकाश) ही भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी की स्वरूपसर्जिका बनती है। यही स्वायम्भु वी वाक् अपने **'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्'** रूप से सम्पूर्ण विश्व की अधिष्ठात्री बनती है, जिसके पारमेष्ठ्य भार्गव, आङ्गिरसरूप क्रमशः **'आम्भृणीवाक्, सरस्वतीवाक्'** नामों से प्रसिद्ध हैं। तेजोगुणमयी आङ्गिरसी सरस्वतीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली स्नेहगुणमयी भार्गवी आम्भृणीवाक् अर्थसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है। एवं स्नेहगुणान्विता भार्गवीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली तेजोगुणमयी सरस्वतीवाक् शब्दसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है। पौराणिक आम्नाय में ये ही दोनों वाग्देवियाँ महालक्ष्मी, महासरस्वती नामों से उपवर्णित हुई हैं। पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में समुद्भूता आम्भृणीवाक् ही (पारमेष्ठ्य विष्णु से समन्विता) महालक्ष्मी है, एवं इसी समुद्र में समुद्भूता सरस्वतीवाक् ही (परमेष्ठिगर्भित सौर

---

* सर्वश्री सायणाचार्य्य ने इसके सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किए हैं, उन्हें लक्ष्य बनाने मात्र से ही इन परिभाषाबोधवञ्चित अर्थों का महत्त्व ? स्पष्ट हो जाता है। देखिए-**"एकः प्रधानभूतः- असहायो- वा पुत्रस्थानीयः आदित्यः-सम्वत्सराख्यः कालो वा तिस्रो मातॄः सस्यवृष्ट्याद्युत्पादयित्रीः- क्षित्यादिलोकत्रय.नित्यर्थः-तथा त्रीन् पितॄन् जगतां पालयितॄन् लोकत्रयाभिमानिनो अग्निवायुसूर्य्याख्यान्-बिभ्रतसन् ऊर्ध्वस्तस्थौ उन्नतः अत्यन्तदीर्घस्तिष्ठति। भूत- भविष्यदाद्यात्मना। सूर्य्यपक्षे सर्वेभ्य उन्नतः-न हि काल आदित्यो वा अन्येन पराभूयते॰"—इत्यादि।**

इन्द्र से समन्विता) महासरस्वती है * । शेष रह जाती है कालातीता महाकाली, वह यही सुप्रसिद्धा स्वायम्भुवी यजुर्वाक् है, जिसे दशमहाविद्या–रहस्यवेत्ताओंनें 'आद्या' नाम से व्यवहृत किया है, जिसके स्तवन से आम्नायनिष्ठ मानव अपने मानवजीवन को कृतकृत्य बनाया करते हैं ÷ । आदिस्वरूपा, अतएव 'आद्या' नाम से प्रसिद्धा,–'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' से समतुलिता, अतएव 'श्यामा' नाम से तन्त्रशास्त्र में उपवर्णिता महामाया वेदरूपा यजुर्वाक् ही मूलवाक् है, जो विश्व को अपने गर्भ में सुरक्षित रखती हुई स्वयं विश्वातीता बनी हुई है + ।

मनःप्राणगर्भिता यह स्वायम्भुवी 'वाक्' रूपा वाक् ही 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः–आकाशः–(वाक्) सम्भूतः' इत्याद्यनुसार विश्वस्वरूप में परिणत हुई है, जिसके आधार पर 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐतरेय-आरण्यक) इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' से इसी स्वायम्भुवी वेदवाक् का यशोगान हुआ है, जो मूलोक्थरूप से द्यु के पृष्ठस्थानीय स्वयम्भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहती हुई विश्व को स्वमहिमामण्डल में अन्तर्भुक्त रखती हुई अविश्वमिन्वा (विश्वव्यापका–विश्वातीता) है, एवं अपने अर्करूपात्मक आम्भृणी–सरस्वतीरूपों से विश्वस्वरूप में परिणत हो रही है । वाग्देवी के इन्हीं विविध विवर्त्तों का यत्रतत्र विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वरूपनिरूपण हुआ है । देखिए—

(१)–वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।४ } स्वायम्भुवी वेदवाक् (महाकाली)

---

* सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चिद् वीणाधरमुपास्महे ॥
—लघुपाराशरी का मङ्गलाचरण

÷ (१) यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥
(२)–परा परमाणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ।
(३)–केषाञ्चित् पुरुजित्पदाम्बुजरजो राज्येव राज्यप्रदा—(महासरस्वती) (सौरी ऐन्द्री)
केषाञ्चित् कमलापतेश्चरणयोश्चिन्तैव चिन्तामणिः ।–महालक्ष्मी (पारमेष्ठिनी)
अस्माकं तु कपालकेलिकलिका कल्याणसंवर्द्धिनी
कामं कामगवी नवीनजलदश्यामाभिरामा गतिः } महाकाली (स्वायम्भुवी)

\+ शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥

(२)–वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
––तै० ब्रा० २।८।८।५।

पारमेष्ठिनीआम्भृणी-वाक् (महालक्ष्मी)

(३)–ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
––ऐतरेयआरण्यक १।१।

सौरी सरस्वती वाक् (महासरस्वती)

स्वयम्भूकेन्द्र में (जो कि द्यु लोक का पूर्वकथित पारिभाषिक 'ऊर्ध्व' नामक पृष्ठ है) उक्थरूप से प्रतिष्ठित विश्वातीता विश्वसर्जिका, अतएव 'अविश्वमिन्वा' (जिसे विश्व सीमित न बना सके) नाम से प्रसिद्धा स्वायम्भुवी वेदवाक् के वितान से ही चन्द्रमान्त विश्वसर्ग का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । अपने अन्तरान्तरीभावात्मक परिभ्रमणों से परमेष्ठ्यादि चन्द्रमादि सम्पूर्ण विश्वपर्व उस द्युपृष्ठस्था वाक् से समन्वित होते हुए उस वाग्रस का आदान करते रहते हैं, जिस आदानविसर्गात्मिका नैसर्गिकी परिभ्रमणविद्या का 'दर्शपूर्णमास'-यज्ञरहस्य में प्रतिपादन हुआ है । परिभ्रममाण ये विश्वपर्व जब उस वाक्पृष्ठ के समसम्मुख बन जाते हैं, तो यही इनका उस वाक् के साथ मन्त्रणाकाल है, यही इनका पौर्णमास है । जब परिभ्रमण करते करते ये विश्वपर्व वाक्पृष्ठ से विपरीत दिशा में आ जाते हैं, तो यही इनका दर्शकाल है । इस प्रकार स्वायम्भुवी वाक् के साथ मन्त्रणात्मक सहयोग से ही इनके विस्नस्तभागों की क्षतिपूर्त्ति होती रहती है, जिसका महर्षिने—**'मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्** इस उत्तरभाग से स्पष्टीकरण किया है । इसी रहस्य का अन्यत्र इस रूप से स्वरूप विश्लेषण हुआ है कि——

(२५४)–'तिस्रो भूमीर्धारयन्०' (१४) मन्त्रार्थसमन्वय —

(१४)–"तीन भूमियों को धारण करता हुआ, और तीन (हीं) द्युलोकों को धारण करता हुआ (वह प्रजापति स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित–विश्वरूप से व्याप्त हो रहा है), जिसके इन तीन द्यावापृथिव्यरूपों के मध्य में तीन हीं व्रत (अन्तरिक्ष) प्रतिष्ठित हैं । ऋत के सम्बन्ध से आदित्य महामहिमशाली बने हुए हैं । हे अर्य्यमन् ! (तपोलोकात्मक प्राण ।), हे वरुण ! (जनल्लोकात्मक प्राण !), हे मित्र ! (महर्लोकात्मक प्राण ।), इस प्रकार यह विश्वकर्म्मा स्वयम्भू (विश्व में अत्यन्तही) शोभनीय बने हुए हैं" ।

'अन्नं वै व्रतम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण २२।४।५।) इत्याद्यनुसार सोमात्मक ऋतान्न ही व्रत है । अन्तरिक्ष ऋतप्रधान लोक है । अतएव इसे 'व्रत' कहना अन्वर्थ बनता है । इसी आधार पर–**'अन्तरिक्षं-वै महाव्रतम्'** (शत० १०।१।२।२।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इसी आधार पर–**'उर्वन्तरिक्ष-मन्वेमि'** इत्यादिरूप से व्रत का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध माना गया है । मातृरूप तीन पृथिवीलोक, पितृरूप

तीन द्युलोक, इन ६ लोकों का जहाँ १३ वें मन्त्र में संग्रह हुआ है, वहाँ **'त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्'** रूप से द्यावापृथिव्य (द्यु और पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित) तीन अन्तरिक्षों का भी संग्रह हो रहा है। इस 'सर्वहुत'–'सर्वमेदस्' यज्ञात्मक इस विश्वयज्ञमण्डल में (विदथे–विश्वयज्ञे) तीन भूमि–तीन द्यु–व्रतनामक तीन हीं अन्तरिक्ष, लोक हैं। इन तीनों त्रिकों को धारण करता हुआ सम्पूर्ण विश्व का अनुरूप–प्रतिरूप शिल्पात्मक सौन्दर्य (चारु) बना हुआ है, जिस इस विश्वसौन्दर्य्य के साधक बने हुए हैं तपोलोकात्मक अर्य्यमा, जनल्लोकात्मक वरुण, महर्लोकात्मक मित्र, नाम के प्राण। दातृत्त्वशक्तिप्रवर्त्तक प्राण ही 'अर्य्यमा' है, जिसके द्वारा स्वायम्भुवतत्त्व विश्वस्वरूपनिर्म्माण में प्रवर्ग्यरूप से उपयुक्त होते रहते हैं *। **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'** (शत० ६।३।४।१८।) इत्यादि निगमानुसार बृहस्पति पूर्वदेवों के अन्त में प्रतिष्ठित हैं, एवं इन्द्र उत्तरदेवों के आदि में प्रतिष्ठित हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि, सप्तलोकात्मक–त्रिधामात्मक–पञ्चपर्वा–विश्व के सूर्य्य को केन्द्र मान कर **'पूर्व–उत्तर'** ये दो विभाग मान लिए जाते हैं। सूर्य्य से ऊपर के परमेष्ठी–स्वयम्भूपिण्ड पूर्वदेव हैं, सूर्य्य से नीचे के भूपिण्ड–चन्द्रमा, दोनों उत्तरदेव हैं, दोनों का विभाजक विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है, जिसका मन्त्र ने– **'ऋतेनादित्या महि वो महित्त्वम्'** इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है। पूर्वदेवों की अन्तिम सीमा में जो ग्रह प्रतिष्ठित है, वही 'बृहस्पति' कहलाया है, जिसे **'वाक्पति'** भी माना गया है। यही सुप्रसिद्ध **'वाजपेययज्ञ'** का मूलाधिष्ठाता बना हुआ है। यह स्मरण रखने की बात है कि, निगमशास्त्र में पारमेष्ठ्योपग्रहभूत बृहस्पति–ग्रह, सूर्य्योपग्रहभूत बृहस्पतिग्रह, एवं–'लुब्धकबन्धु' नाम से प्रसिद्ध नाक्षत्रिक बृहस्पति, रूप से तीन बृहस्पतियों का स्वरूप निरूपित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक ताराहरणोपाख्यान का 'लुब्धकबन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति के साथ सम्बन्ध है। सौर बृहस्पतिग्रह सौर महिममण्डल में भुक्त रहता हुआ सौर देवप्राण का अधिष्ठाता बना रह है, जिस का–**'बृहस्पतिः पुरः एता'** (यजुःसं० १७४०) इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही पौराणिक देवगुरु बृहस्पति है, जिसका ज्योतिर्वित् 'गुरुदशा' से सम्बन्ध माना करते हैं। एक बृहस्पतिग्रह वह है, जो सूर्य्य से ऊपर अवस्थित है, जो परमेष्ठी का उपग्रह बनता हुआ उसके चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पारमेष्ठ्य सौम्य ब्रह्मवर्चप्रधान अन्नरस ही–(जो 'ऊर्क्' इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध है) **'वाज'** नाम से प्रसिद्ध है। इस 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य ज्ञानवर्द्धक प्राणात्मक रस का जन्मजात ब्राह्मणमानव जिस वैधप्रक्रियासे अपने अन्तर्गत में आधान करता है, वही प्रक्रिया **'वाजपेय'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। **'राजा–वाजो–ग्रहो–हविः'** इत्यादिरूप से पारमेष्ठ्य सौम्यप्राणात्मक भार्गव रस ही इन चार जातियों में विभक्त हो रहा है। वही पारमेष्ठ्य सोम पार्थिव कक्षा में भुक्त हो कर **'हविःसोम'** कहलाया है, जिससे **'हवियाग'** होता है। वही पारमेष्ठ्य सोम चन्द्रानुगता अन्तरिक्षकक्षा में भुक्त हो कर **'ग्रहसोम'** कहलाया है, जिससे **'ग्रहयाग'** होता है। वही पारमेष्ठ्य सोम सौरकक्षा (इन्द्रकक्षा) में भुक्त होकर **'राजसोम'** कहलाया है, जिससे **'राजसूय'** होता है। एवं वही पारमेष्ठ्य सोम स्वकक्षा में ही भुक्त होता हुआ **'वाजसोम'** कहलाया है, जिस से **'वाजपेय'** यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाजपेय सोम पारमेष्ठ्य बृहस्पतिप्राण से समन्वित है। अतएव इसे **'बृहस्पतिसत्र'** भी कहा गया है, जिसका अधिकार एकमात्र

*** यशो वा अर्य्यमा (तै० ब्रा० २।३।५।४।)–अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति** (तै० ब्रा० १।१।२।४।)।

ब्राह्मण को ही है। राजसूय का अधिकार एकमात्र मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा को ही है। शेष ग्रहयाग, तथा हविर्याग में द्विजातिमात्र (ब्रा० क्ष० वै० मात्र) अधिकृत हैं। **'राजा वै राजसूयेन-इष्ट्वा भवति, सम्राड्वाजपेयेन'** इत्यादि के अनुसार राजा जहाँ राजसूय से 'राजा' पदाधिकारी बनता है, वहाँ ब्राह्मण वाजपेय से सम्राट्पदाधिकारी बन जाता है। तात्पर्य्य प्रकृत में यही है कि, पारमेष्ठ्य वाजात्मक प्राण ही बृहस्पति है, जो सौर इन्द्रप्राण से ऊपर, एवं पूर्व लोकों (स्वयम्भू-परमेष्ठी लोकों) से अन्त में प्रतिष्ठित हैं। अपने पारमेष्ठ्य लोकसम्बन्ध से ये **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति'** वाले बृहस्पति जनल्लोक के उपग्रह हैं, जो जनल्लोक संयतीत्रैलोक्य के अन्तरिक्षलोकात्मक (स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यमें स्थित व्रतलोक) तपोलोक से अधोऽवस्थित है। इस तपोलोकात्मक दातृशक्तियुत प्राण ही का नाम 'अर्य्यमा' है, जिस के आधार पर सुप्रसिद्ध पौराणिक **'देवगङ्गा'** प्रतिष्ठित है, जिसे अर्वाचीन वैज्ञानिक **'दूध की नदी'** (मिल्क···वे) कहा करते हैं। भारतीय लोकव्यवहार में यही **'आकाशगङ्गा'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें असंख्यातः नक्षत्र-पुञ्जप्रतिष्ठित हैं। तपोलोकात्मक अर्य्यमाप्राण का भोग (जो कि इस वियद्गङ्गानामक सुरवर्त्म से ऊर्ध्व स्थित है, अतएव जो अर्य्यमा जनल्लोकात्मक परमेष्ठी के उपग्रह बृहस्पति से भी उर्ध्व माना गया है) सर्व-प्रथम इस आकाशगङ्गात्मक सुरमार्गमण्डल में ही होता है। अतएव इसे निगमपरिभाषा में **'अर्य्यम्णः पन्थाः'** कहा गया है, जैसाकि-**'एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्, तदेष उपरिष्टात्-अर्य्यम्णः-पन्थाः'** (शत० ५।५।१।१२।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। 'तपसा तप्यध्वम्' ही प्रदानशक्ति का मूलाधार है। **'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति'** ही तपःप्राण का लक्षण है, एवं यही तपोलोकात्मक, दातृत्वशक्तिप्रधान इस अर्य्यमाप्राण का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है। इसीसे स्वायम्भुव तत्त्व प्रवर्ग्यरूप से विश्वस्वरूपनिर्म्माण में उप-भुक्त होते हैं। अतएव इस तपोलोकप्रतिष्ठ तपोमूर्त्ति प्रदानशक्तिघन अर्य्यमाप्राण को हम अवश्य ही विश्व-सौन्दर्य का प्रवर्त्तक मान सकते हैं*।

सुप्रसिद्ध ग्रहयाग के सुप्रसिद्ध चत्वारिंशत् (४०) ग्रहों में एक ग्रह **'मैत्रावरुण'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका **'क्रतूदक्षौ'** रूप से शतपथ '४।१। तृतीय' ब्राह्मण में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। जिस प्रकार आध्यात्मिक **'प्रजा-प्रजनन'** कर्म्म में **'नाभानेदिष्ठ, बालखिल्या, वृषाकपि, एवयामरुत्'** ये चार सहचारीप्राण प्रमुख बने रहते हैं, तथैव आधिदैविक विश्वनिर्म्माण में **'आदित्य, अर्य्यमा, वरुण, मित्र,'** ये चार प्राण प्रमुख बने रहते हैं। मन्त्र के उत्तर भाग ने-**'ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु'** इत्यादि रूप से इन चार प्राणों का ही स्वरूप स्पष्ट किया है, जिनमें से 'अर्य्यमा' नामक तपोलोक के प्राण की रूपरेखा का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। अब मित्रावरुण का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है। **'ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः** (शत० ४।१।४।२) के अनुसार 'ब्रह्म' (ज्ञानशक्तिमय प्राण) का ही नाम मित्र है, एवं 'क्षत्र' (क्रियाशक्तिमय प्राण) का ही नाम वरुण है। अध्यात्मदृष्ट्या उदाहरणरूप से इन दोनों का यों समन्वय किया जा सकता है कि,-ज्ञानमय मन का-**'मैं अमुक कर्म्म करूँ'** यह मानसिक संकल्पात्मक प्राण (प्रज्ञाप्राणात्मक ज्ञानीय प्राण) ही 'क्रतु' है, यही मित्र है। एवं इस मानस संकल्प की जिस क्रिया (बाह्यकर्म्म) रूप प्राण से स्वरूपनिष्पत्ति होती है, वही क्रियाशील प्राण 'दक्ष' है, यही

* जिस मानव में जन्मना यह अर्य्यमाप्राण विकसित रहता है, वह सहजरूप से दानशक्ति से समन्वित रहता है। जिसका यह प्राण अभिभूत रहता है, वह जन्मजात कृपण होता है।

वरुण है ÷ । निष्कर्षतः ज्ञानशक्तियुक्त प्राण ही मित्र है, क्रियाशक्तिमयप्राण ही वरुण है, जो दोनों प्राण क्रमशः पारमेष्ठ्य आपोमय भृगु-अङ्गिराप्राणों से अनुप्राणित हैं । स्नेहगुणप्रधान भृगु से अनुप्राणित सौम्य पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित महर्लोकीय प्राण ही 'मित्र' है, एवं तेजोगुणप्रधान अङ्गिरा से अनुप्राणित आग्नेय पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित जनल्लोकीय प्राण ही 'वरुण' है । ये दोनों प्राण हीं तपोलोकीय अर्य्यमाप्राण से समन्वित होकर विश्वात्मिका द्यावापृथिवी के स्वरूपनिर्म्माता बनते हैं । अतएव मित्रावरुण का द्यावापृथिवी से घनिष्ठ सम्बन्ध मान लिया गया है, जैसा कि—**'द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम'** (ताण्ड्य ब्रा० १४।२।४।)—**'अयं वै-पृथिवीलोको मित्रः, असौ-द्युलोको वरुणः'** (शत० १२।६।२।१२) इत्यादि ब्राह्मणनिगमों से स्पष्ट है । तपोरूप अर्य्यमा, तद्युक्त ज्ञानक्रियारूप भार्गवाङ्गिरस मित्रावरुण, तीनों के समन्वित रूप ही क्योंकि द्यावापृथिव्य विश्व का स्वरूपसौन्दर्य सुरक्षित रखते हैं, इसी आधार पर **'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है । चौथा प्राण है आदित्य, जिसके सवितात्मक स्वरूप से ही सृष्टिकर्म्म प्रसूत होता है । **'सविता वै देवानां प्रसविता'** इत्यादि लक्षण प्रेरणात्मक आदित्यप्राण, तथा ज्ञानक्रियामय अर्य्यमाप्राण, इन चारों के समन्वित रूप से ही विश्वसौन्दर्य स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है । और यही मन्त्रोत्तरभाग का दिशापरिचय है ।

वाज-राज-ग्रह-हविः सोमचतुष्टयीस्वरूपपरिलेखः—

१—पारमेष्ठ्यसोमः——वाजः——ततो वाजपेयस्वरूपनिष्पत्तिः (बृहस्पतिसवः-परमेष्ठिसवो वा)

२—सौरसोमः——राजा——ततो राजसूयस्वरूपनिष्पत्तिः (इन्द्रसवः——सूर्य्यसवो वा)

३—चान्द्रसोमः——ग्रहः——ततो ग्रहयागस्वरूपनिष्पत्तिः (सोमसवः——चन्द्रसवो वा)

३—पार्थिवसोमः——हविः——ततो हविर्यागस्वरूपनिष्पत्तिः (अग्निसवः—पृथिवीसवो वा)

—※※—

÷ **क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ, एतन्नु अध्यात्मम् । स यदेव मनसा कामयते-'इदं मे स्यात्-इदं कुर्वीय' इति, स एव क्रतुः । अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः । मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः । ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः ।**

—शतपथ० ४।१।४।१।

पूर्वेषामुत्तमः-उत्तरेषां प्रथमः-स्वरूपपरिलेखः—

पूर्वदेवाः—
- १ स्वयम्भूः—सर्वाध्यक्षः सर्वात्मा
- २ आपोमयः परमेष्ठी
- ३ वाक्पतिर्बृहस्पतिः——{ बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमः

उत्तरदेवाः—
- ३ तेजोमयः-इन्द्रः (सूर्य्यः)—{ इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः
- २ स्नेहमयः-सोमः (चन्द्रः)
- १ भूतमयोऽग्निः (पृथिवी)

——**——

सर्वसंग्रहः-एकशाखारूपः-एक-शाखाविश्वस्वरूपपरिलेखः—

३ संयतीत्रिलोकी
- ३——(१)—स्वयम्भूः (सत्यलोकः)—सत्यम्—(वेदप्राणमूर्त्तिः)
- २——(२)—अन्तरिक्षम् (तपोलोकः)—तपः——(अर्य्यमाप्राणमूर्त्तिः)
- १ (३——(३)—परमेष्ठी (जनल्लोकः)—जनत्)—(वरुणप्राणमूर्त्तिः)

—संयती-स्वः (परमाणि धामानि) ३

३ क्रन्दसी त्रिलोकी
- ३——(३)—परमेष्ठी (जनल्लोकः)—जनत्)—(वरुणप्राणमूर्त्तिः)
- २——(४)—अन्तरिक्षम् (महर्लोकः)—महः——(मित्रप्राणमूर्त्तिः)
- १ (३-(५)—सूर्य्यः (स्वर्लोकः)—स्वः——(सविताप्राणमूर्त्तिः-) आदित्यरूपः

—क्रन्दसी—भुवः (मध्यमानि धामानि) ३

३ रोदसी त्रिलोकी
- ३-(५)—सूर्य्यः (स्वर्लोकः)—स्वः——(सविताप्राणमूर्त्तिः-) आदित्यरूपः
- २-(६)—अन्तरिक्षम्-चन्द्रः (भुवर्लोकः)-भुवः-(सुब्रह्मप्राणमूर्त्तिः)
- १-(७)—भूपिण्डः (भूलोकः)—भूः—(अग्निप्राणमूर्त्तिः)

—रोदसी भूः (अवमानि धामानि) ३

द्यावापृथिव्यात्मकं — विश्वम्

——**——

(२५५)—सन्दर्भसङ्गति—

नैगमिक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में चतुर्दशसंख्यात्मक मन्त्रसन्दर्भ के माध्यम से जिस विश्व की स्वरूपमीमांसा हुई है, वह तो वस्तुतः महाविश्व का एक सहस्रवाँ पर्व है, जो निगमपरिभाषा में 'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा' (सहस्रवल्शेश्वर की पञ्चपर्वरूपा एक शाखा) नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी हजार शाखाओं

की, किंवा पञ्चपर्वा ऐसे हजार विश्वों की समष्टि ही एक महामायावच्छिन्न महाविश्व की स्वरूपमीमांसा है। अनन्तपरात्पर में महामायाबलोंके आनन्त्य से विदित नहीं, कितनें ऐसे असंख्य महामायाबल हैं। एक एक महामायाबल से एक एक महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण, एक एक महाविश्व में योगमायासम्बन्ध से सहस्र-सहस्र पञ्चपर्वा विश्वों का स्वरूपनिर्म्माण। कैसा है यह आनन्त्य, कैसी है तदनुगता अनन्तब्रह्म की यह अनन्तमहिमा, एवं कैसी है उन महामहिम महर्षियों की वह अनन्तदृष्टि, जिसने इस आनन्त्य का साक्षात्कार कर-**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-'सर्वखल्विदं ब्रह्म'-'ब्रह्मै वेदं सर्वम्'-'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'-'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** इत्यादि अनन्तभाव अभिव्यक्त किए नैष्ठिक मानव के अभ्युदयनिःश्रेयस् के लिए। नमः परम-ऋषिभ्यः ! नमः परम-ऋषिभ्यः !! नमः परम-ऋषिभ्यः !!!

'मनु' ही ऋषिदिष्ट तथाकथित विश्वस्वरूप के मूलप्रवर्त्तक हैं। यह मनुसर्ग **'भाव-गुण-विकार'** भेद से तीन भागों में विभक्त है, जो क्रमशः **मानसीसृष्टि, प्रकृतिसृष्टि, मैथुनीसृष्टि** नामों से प्रसिद्ध है। इन्हीं के क्रमशः **अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षरसर्ग,** इस रूप से, **पुरुषसर्ग, प्रकृतिसर्ग, विकृतिसर्ग,** इस रूप से, **आत्मसर्ग, देवसर्ग, भूतसर्ग** इस रूप से, **शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिस्वयम्भूमनुसर्ग, इन्द्रप्राणमूर्त्तिहिरण्यगर्भमनुसर्ग, अग्निमूर्त्तिविराट्मनुसर्ग,** इस रूप से अनेकधा स्पष्टीकरण हुए हैं। असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले दिग्देशकालावच्छिन्न ससङ्ग बलों के **विभूति-योग-बन्ध,** नामक तीन विभिन्न सम्बन्धों के कारण ही मनुसर्ग तीन भागों में विभक्त हुआ है। इन तीनों सृष्टियों के सामान्य अनुबन्ध **काम-तप-श्रम** नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन इन सामान्य अनुबन्धों के व्यापार से ही त्रिविध मनुसर्ग प्रवृत्त हुआ है।

भाव, एवं गुणसर्गसमन्वित विकारसर्गात्मक—स्वयम्भूहिरण्यगर्भगर्भित, एवं विराट्मनुरूप अग्निमूर्त्ति वेदत्रयावच्छिन्न सप्तपुरुषपुरुषात्मक मनुप्रजापति की भूतसर्गकामना से (जोकि कामना बलानुबन्ध से नैसर्गिकी है, अतएव जिस सहज कामना के सम्बन्ध में-क्यों ?, कैसे ?, कब ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं होते), कामानुगत इस तप से, तपोऽनुगत इस श्रम से इस वागग्नि के द्वारा सर्वप्रथम 'आपः' नामक भूत ही उत्पन्न हुआ है, जो 'महाभूत' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध से ही स्वयम्भूमनु नामक आदि मनु (प्रथम अव्यक्त मनु) **'महाभूतादि वृत्तौजाः'** कहलाए हैं। इसी महत्ता के कारण यह आपः तत्त्व **'महद्यक्ष'-'महद्यश'-'महद्ब्रह्म'-'महान्प्रभु'-'महानविभु'** आदि नामों से यत्रतत्र उपवर्णित हुआ है, जो अध्यात्मसंस्था में चतुरशीतिकल पितृप्राणमूर्त्ति **'महानात्मा'** का स्वरूप बना हुआ है। इसी महाभूतात्मक **'आपोब्रह्म'** का पूर्व में गोपथश्रुति के माध्यम से **'स्वेदवेद'** रूप से विस्तार से स्वरूपनिरूपण हुआ है। यही ईशोपनिषत् का सुप्रसिद्ध वह 'शुक्र' तत्त्व है, जिसका-**'स पर्य्यगाच्छुक्रमकाय०'** इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही भौतिक विश्व का उपादानात्मक 'शुक्र' पदार्थ है, जिसकी सौरहिरण्याग्नि में आहुति होने से ही उस सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का जन्म हुआ है, जो यज्ञप्रजापति शुक्रशोणितनिबन्धना प्रजा का उपादान बना करता है *। यही वह आपः तत्त्व है, जिसका छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्ध पञ्चाग्निविद्या में-**'इति तु पञ्चम्या-**

---

* **सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ३।१०।

माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी 'आपः' तत्त्व की सर्वव्याप्ति के आधार पर–'यदाप्नोत् तस्मादापः, अवृणोत् तस्माद्वाः' इत्यादि रूप से इसे सर्वरूप घोषित किया गया है ÷।

वागग्नि (स्वायम्भुव वेदाग्नि) से सर्वप्रथम समुद्भूत यह 'आपः' नामक महाभूतसर्ग भृग्वङ्गिरोमय बनता हुआ स्नेहतेजोमूर्त्ति है। स्नेहात्मक भृगुसम्बन्ध से सौम्यमूर्त्ति बनता हुआ यह आपः शीत (ठंढा) तत्त्व है, एवं तेजोरूप अङ्गिरासम्बन्ध से आग्नेय बनता हुआ यह आपः उष्ण (गरम) तत्त्व है। इसी आधार पर प्रान्तीयभाषा में आपः के वैकारिकरूप पार्थिव 'मर' नामक पेय पानी को 'ठंढ़ी आग' कहा जाता है। वस्तुतः रुद्राग्निसमावेश से ही पानी तरल बना हुआ है, जैसाकि 'अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्' (वैशेषिकसूत्र—कणाददर्शन) से भी प्रतिध्वनित है। स्नेहतेजोगुणक-भृग्वङ्गिरोमय-शुक्रमूर्त्ति यही आपः 'सुब्रह्म' कहलाया है, जिसके गर्भ में 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से प्रविष्ट रहने वाला वेदत्रयावच्छिन्न विराडग्निमूर्त्ति मनु प्रतिष्ठित है। वेदाग्निमूर्त्ति वेदत्रयीलक्षण मनु जहाँ 'ब्रह्म' है, वहाँ सुवेदमूर्त्ति सौम्यवेदलक्षण आपः 'सुब्रह्म' है। इस ब्रह्म और सुब्रह्म के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक 'याग' नामक सम्बन्ध से (अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से) ही आगे जाकर क्रमशः अम्भः–मरीचि–मरः–श्रद्धा–नामक चार भागों में परिणत होता हुआ अप्तत्त्व क्रमशः पारमेष्ठ्य-सौर–पार्थिव–चान्द्रमहिमामण्डलों का स्वरूपनिर्म्माता बनता है, जो कि चारों अप्तत्त्व अध्यात्मसंस्था में क्रमशः परिश्रमाश्रु, क्रोधाश्रु, शोकाश्रु, प्रेमाश्रु, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन सब विषयों के संक्षिप्त स्वरूपोपवर्णन का ही अब तक के सन्दर्भों का स्वरूपपरिचय है, जिसे लक्ष्य बना कर ही हमें विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करना चाहिए। जैसा कि—गोपथश्रुति के रहस्यार्थ का उपसंहार करते हुए पूर्व में कहा गया था कि, ऋषिशैली सर्वत्र परोक्षभाव को मध्यस्थ बना कर ही तत्त्वव्याख्या करती है। इसी परोक्षभाव के कारण निगमरहस्य पारम्परिक आम्नाय से अनुगत है, जिसके विलुप्तप्राय हो जाने से ही आज निगमरहस्य हमारे लिए एक समस्या बन गया है। क्यों महर्षियों नें तत्त्ववादव्याख्यान में परोक्षशैली का आश्रय लिया ?, इस प्रासङ्गिक किन्तु पूर्वप्रतिज्ञात प्रश्न का समाधान कर प्रकान्त 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ उपरत हो रहा है।

(२५६) प्रासंगिक–प्रतिज्ञात–प्रत्यक्ष–परोक्षभावमीमांसोपक्रम—

'प्रतिगतमक्षि-इन्द्रियं-यत्र' इत्यादि निर्वचनानुसार इन्द्रियग्राह्य भाव के लिए जहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ इन्द्रियातीत भाव 'अक्षणोः परम्' निर्वचनानुसार 'परोक्ष' अभिधा से व्यवहृत हुआ है। 'प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकं, अप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्' (अमरकोष–३।१।७६।) इत्यादि कोषसिद्धान्तानुसार–'अक्षं–'प्रतिगतम्–इन्द्रियगतम्' ही 'प्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है, एवं 'अक्षं–अप्रतिगतम्' ही परोक्षभावसूचक

÷ अप्सु तं मुञ्च,भद्रं ते–लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत ॥
—महाभारत

'अप्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है। जिसका अनुभव, किंवा अनुभूति इन्द्रियों से होती है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, एवं जिसकी अनुभूति इन्द्रियों से नहीं होती है, वैसा इन्द्रियातिक्रान्त विषय ही अप्रत्यक्ष, किंवा परोक्ष कहलाया है। अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है, एवं अनुभवविशेष ही परोक्ष है। इन्द्रियमनःसमन्वित सर्वेन्द्रियमनोऽनुगत इन्द्रियों से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य, विषयावच्छिन्नचैतन्य, इन तीन चैतन्य (ज्ञान) धाराओं के एक बिन्दु (केन्द्र) में समसमन्वय होने से जो अनुभवविशेष होता है, वही इन्द्रियजन्यज्ञानात्मक अनुभव 'प्रत्यक्ष' कहलाया है, जिसका–**'घटमहं जानामि, घटमहं पश्यामि'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा अभिनय हुआ करता है। सामने एक वस्तु है, उसका आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं। इस इन्द्रियात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान में तीन ज्ञानधाराएँ काम कर रहीं हैं। आपका हृदयस्थ ज्ञानमय उक्थात्मक मन एक ज्ञानधारा है, जिसमें से रश्मिरूप से ज्ञान का एक मण्डल बनता है, जिस ज्ञानीय रश्मिमण्डल में इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। रश्मिज्ञानात्मक इन्द्रियवर्ग ही दूसरी ज्ञानधारा है। सम्मुख अवस्थित पदार्थ (चाहे वह जड़ हो, अथवा चेतन–निरिन्द्रिय हो, अथवा सेन्द्रिय) भी ज्ञानधारायुक्त है। इस ज्ञानमण्डल के साथ इन्द्रिय ज्ञानमण्डल का प्रथम सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय ज्ञानधारा के द्वारा विषयज्ञानधारा हृदयस्थ उक्थज्ञान में प्रविष्ट होती है। तभी इस प्रत्यक्षज्ञान का उदय होता है। मनोमय उक्थज्ञान ही दर्शनभाषा में **'अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य'** कहलाया है, रश्मिरूप इन्द्रियज्ञानमण्डल ही **'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य'** कहलाया है, एवं विषयानुगत ज्ञान ही **'विषयावच्छिन्नचैतन्य'** कहलाया है। इसी आधार पर दार्शनिकों नें प्रत्यक्ष का यह लक्षण माना है—**"अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यसमन्वितान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यपरिगृहीतविषयावच्छिन्नं चैतन्यमेव प्रत्यक्षम्"**। निष्कर्षतः मूर्त्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाला तात्कालिक इन्द्रियजन्य–ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाया है। किंवा मनोऽनुगत इन्द्रियभावों से सम्बन्ध रखने वाला (त्रिज्ञानधारासमन्वयात्मक) मूर्त्त–आधिभौतिक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है।

(२५७)–आत्मबुद्धिमनोविमूढ भावुक मानव—

सम्पूर्ण इन्द्रियों के अधिष्ठाता 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियमन का * सञ्चालन जिस से होता है, वही सुप्रसिद्ध वह 'बुद्धि' तत्त्व है, जिसके 'स्वतन्त्र–परतन्त्र' भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। स्वतन्त्र बुद्धि **'विद्या बुद्धि'** कहलाई है। परतन्त्रबुद्धि **'अविद्याबुद्धि'** कहलाई है। केन्द्रस्थ आत्मा ही अध्यात्मसंस्था का 'स्व' भाव है, एवं मनोऽनुगत बाह्यप्रपञ्च आत्मा का 'पर' भाव है। इस 'स्व' रूप आत्मा से अनन्यता रखने वाली आत्मानुगता बुद्धि ही स्वानुगता 'स्व' (आत्म) तन्त्र में प्रतिष्ठिता 'विद्याबुद्धि' है। एवं बाह्यविषयात्मक 'पर' तन्त्र में प्रतिष्ठिता मनोवशवर्त्तिनी बुद्धि ही 'परानुगता 'पर' (भूत) तन्त्र में प्रतिष्ठिता 'अविद्याबुद्धि' है'। हृदयस्थ 'स्व' नामक आत्मा एकाकी है। अतएव तदनुगता विद्याबुद्धि एकभावापन्ना है। अतएव इसका स्वरूपधर्म्म एकत्वनिबन्धन व्यवसायधर्म्म से समन्वित रहता है। अतएव इस स्वानुगता (आत्मानुगता), अतएव 'स्वतन्त्रा' नाम से प्रसिद्धा एकभावापन्ना (निर्भ्रान्त–निश्चित–एक निर्णयात्मिका) विद्याबुद्धि को **'व्यवसायबुद्धि'** कहा गया है, जैसा कि–**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'** (गीता२।४१।) इत्यादि से

* श्वोवसीयस्, सत्त्व, सर्वेन्द्रिय, इन्द्रियमन, रूप से चार मनोविवर्त्तों का पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। देखिये पृ० सं० १८६, एवं २८१।

स्पष्ट है। यदि यही बुद्धि मनोऽनुगता बनकर मनोवशवर्त्तिनी बन जाती है, तो परतन्त्र है। इस अवस्था में **'नवो नवो भवति जायमानः'** के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मृत्युभावात्मक नानाभावप्रधान मूर्त्ति-क्षरात्मक-भौतिकजगत् में आसक्त-व्यासक्त इन्द्रियवशवर्ती चान्द्रमन के नानात्त्व से बुद्धि का स्वानुगत एकत्व-निबन्धन (आत्मनिबन्धन) व्यवसायधर्म्म अभिभूत हो जाता है, एवं यह पराक्रान्त बनती हुई नानाभावात्मिका हो जाती है। यही अव्यवसायात्मिका बहुशाखाप्रशाखोपेता अविद्याबुद्धि है, यही अव्यवसायात्मिका भ्रान्ता बुद्धि है, जिसका-**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। ऐसी मनोवशवर्त्तिनी अविद्याबुद्धि स्वयं अपने हित-अहितनिर्णय में सर्वथा असमर्थ बनी रहती हुई सदा पराश्रिता-गतानुगतिका-परानुकरणपरा-परतन्त्रा है, जिससे सदा ही मानवीय मन विमुग्ध बना रहता है। ऐसे मानव का न अपना कोई स्थिर आदर्श होता, न लक्ष्य। अपितु-**'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः** आभाणक को अक्षरशः चरितार्थ करने वाला यह बुद्धिविमूढ़ गतानुगातिक मानव सदा परभावानुगत ही बना रहता है। दूसरों का अन्धानुकरण ही इस आम-बुद्धि-मनोविमूढ़ भावुक मानव का लक्ष्य बना रहता है।

(२५८)-प्रत्यक्ष, और परोक्षशब्दार्थसमन्वय—

उक्त दोनों बुद्धिविवर्त्तों के द्वारा प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, आत्मानुगता विद्याबुद्धि से सम्बद्ध निर्भ्रान्त अनुभवविशेष ही **'परोक्ष'** कहलाया है, जो इन्द्रियों से अतिक्रान्त अनुभव माना गया है। सहज भाषा में तथ्य का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि—**"मन के वश में रहने वाली बुद्धि के सह-योग से मनोद्वारा इन्द्रियों से जो अनुभव होता है, वही प्रत्यक्ष है"**—एवं **"मन को वश में रखने वाली बुद्धि से बिना इन्द्रियों के ही जो अनुभव होता है, वही परोक्ष है"** ।अथवा-**"आत्मा-नुगता स्वतन्त्रा विद्यारूपा व्यवसायबुद्धि से समन्वित निर्भ्रान्त-निश्चित-एकभावात्मक-आध्यात्मिक अनुभव ही परोक्ष है,"** एवं **"मनोऽनुगता परतन्त्रा अविद्यारूपा अव्यवसायबुद्धि से समन्वित भ्रान्त-संशयास्पद-नानाभावात्मक-आधिभौतिक अनुभव ही प्रत्यक्ष है"**। किंवा—**"विषयों के साथ व्यवसायबुद्धि से उत्पन्न होने वाला निर्भ्रान्त निश्चित अनुभव ही 'परोक्ष' है"-एवं "विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला भ्रान्त-अनिश्चित अनुभव ही 'प्रत्यक्ष' है।**

(२५९-'प्रत्यक्ष' के ९ विवर्त्त-

प्रत्यक्ष का मूलाधार जहाँ सेन्द्रिय चञ्चलप्रज्ञ भावुक मन है, वहाँ परोक्ष का मूलाधार इन्द्रियानपेक्ष नैष्ठिक विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) है। निष्कर्षतः- व्यवसायबुद्ध्यनुगत अनुभवविशेष 'परोक्ष' है, एवं अव्यव-सायशील मनोऽनुगत ऐन्द्रियक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है। परोक्षानुभव आत्मानुगत है, प्रत्यक्षानुभव विश्वानुगत, किंवा लोकानुगत है। आत्मानुगत परोक्षभाव इन्द्रियनिरपेक्ष बनता हुआ स्वतन्त्र है, लोकानुगत प्रत्यक्षभाव इन्द्रियसापेक्ष बनता हुआ परतन्त्र है। व्यवसायबुद्धि के स्वाभाविक एकत्त्व से अनुप्राणित परोक्षानुभव जहाँ एकत्त्वसम्पत्तिलक्षण निश्चित भाव से (**'इदमित्थमेव नान्यथा'** रूपसे) समन्वित है, वहाँ अस्थिर मन के नैसर्गिक नानात्त्व से अनुप्राणित प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियानुगति के सम्बन्ध से समन्वित है, जिसके लोकनिष्ठ दार्श-निकोंने ९ विवर्त्त माने हैं।

यह षड्विध प्रत्यक्षानुभव **घ्राणज-रासन-श्रावण-चाक्षुष-स्पार्शन-मानस**, नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। नासिका से सम्बन्ध रखने वाला गन्धग्रहणानुगत घ्राणज अनुभव, जिह्वा से सम्बन्ध रखने वाला रसग्रहणानुगत रासन अनुभव, श्रोत्र से सम्बन्ध रखने वाला शब्दग्रहणानुगत श्रावण अनुभव, चक्षु से सम्बन्ध रखने वाला रूपग्रहणानुगत चाक्षुष अनुभव, त्वचा से सम्बन्ध रखने वाला स्पर्श-ग्रहणानुगत स्पार्शन अनुभव, एवं इन्द्रियमन से सम्बन्ध रखने वाला संकल्पविकल्पात्मक (ग्रहण-परित्यागात्मक) मानस अनुभव, ये ६ ओं हीं अनुभवविशेष **'इन्द्रियानुभव'** कहलाए हैं। एवं इन्द्रियानुभूति के सम्बन्ध से ही इस षड्विध ऐन्द्रियक अनुभव को 'प्रत्यक्ष' उपाधि से समलंकृत किया गया है। **सूँघना, स्वाद लेना, सुनना, देखना, स्पर्शानुभव करना, ऊहापोह करना**, ये ६ओं व्यापार 'ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष' की सीमा में हीं समाविष्ट हैं। कहना न होगा कि, इस षड्विध प्रत्यक्षानुभव के साथ तत्ववेत्ता विज्ञानदृष्टिपरायण विद्वानों का नैसर्गिक अश्वमाहिष्य (विरोध) है। वे इस 'प्रत्यक्ष' पर अणुमात्र भी आस्था नहीं रखते, नहीं रखनी चाहिए। ऐसा क्यों ?, क्यों नहीं इस लोकानुगत प्रत्यक्षानुभव को समादरणीय माना गया ?, 'प्रत्यक्षद्विषः' रूप से विद्वानोंने क्यों इसके साथ विरोध किया ?, क्यों प्रत्यक्षवादी को-'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः' रूप से नास्तिक घोषित किया ?, इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नपरम्परा के समाधान के लिए उन प्रत्यक्षप्रेमियों का निम्नलिखित एक प्रासङ्गिक वैदिक आख्यान की ओर ही ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

(२६०) प्रत्यक्षस्वरूपविश्लेषक रहस्यपूर्ण श्रौत आख्यान—

अथातो मनसश्चैव वाचश्च-'अहंभद्र'-ऽउदितम्। मनश्च ह वै वाक् च अहम्भद्र ऽऊदाते। तद्ध मन उवाच-"अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि। न वै मया त्वं किञ्चन-अनभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरा-अनुवर्त्मा-असि, (अतः) अहमेव त्वच्छ्रेयो-ऽस्मि" इति। अथ ह वागुवाच—"अहमेव त्वच्छ्रेयसी-अस्मि। यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं संज्ञपयामि" इति। ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनसऽ-एवानूवाच—"मन एव त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं कृतानुकरा-अनुवर्त्मा-असि। श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवति" इति। सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये। तस्यै (तस्या) गर्भः पपात। सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच—"अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं, यां मां परोवाच"। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतयेऽआसीत् (अस्ति च)।

—शतपथब्राह्मण १।४।५।८ से १२ कण्डिकापर्य्यन्त

(२६१)—अक्षरार्थसमन्वय—

अक्षरार्थ इस आख्यान का यही है कि—"(किसी समय) मन और वाक् (वाणी) में परस्पर एक दूसरे से श्रेष्ठ मानने की प्रतिस्पर्द्धा जाग्रत हो पड़ी। मन और वाणी इस प्रतिद्वन्द्विता में (आज भी)

संलग्न देखे जाते हैं। (वाक् की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुए इस मन ने) निश्चयभाव से दृढ़ता–साहसपूर्वक (तद्ध) कहा कि, (हे वाक्) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि) तू मुझ से अज्ञात–असंकल्पित कुछ भी नहीं बोलती (बोल सकती)। क्यों कि तू कृतानुकरा है (मेरे कृत–संकल्प का अनुकरण करने वाली), अनुवर्त्मा है (मेरे संकल्प के पीछे पीछे अनुधावन करने- वाली गतानुगतिका है), अतएव सिद्ध है कि, मैं (मन) ही तुझ (वाक्) से श्रेष्ठ हूँ। (मन के इस तर्क को सुनकर–इसका खण्डन करती हुई मन की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करती हुई) वाक् कहने लगी कि (हे मन !) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू (मन) जो कुछ (अपने संकल्पविकल्पात्मक मनोराज्य में) जानता है— (अनुभव करता है, चिन्तन करता है, ऊहापोह करता है), मैं ही उसे व्यक्त करती हूँ (जानती हूँ, बाह्यजगत् का विषय बनाती हूँ, प्रकट करती हूँ। अतएव सिद्ध है कि, मैं हीं तुझ मन से श्रेष्ठ हूँ)। (मन और वाक् की इस पारस्परिक अहंभद्रता–श्रेष्ठाभिमानधर्म्मता–का जब इन दोनों से परस्पर निर्णय न हो सका तो) इस प्रश्न को लेकर (निर्णय के लिए) दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। (प्रजापति ने इन दोनों के ही तर्क सुने, एवं इन तर्कों के आधार पर अपना निर्णय प्रकट करते हुए) प्रजापति ने मन की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए वाक् से कहा कि, हे वाक् ! मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि तू मन की कृतानुकरा (मन के किए हुए का अनुकरण करने वाली) है, अनुवर्त्मा (मन के संकल्पित मार्ग पर चलने वाली) है, (और यह प्राकृतिक नियम है कि, दो व्यक्तियों में) जो निम्न श्रेणी का व्यक्ति होताहै, वह अपने से उच्च श्रेणी के व्यक्ति का ही कृतानुकर, एवं अनुवर्त्मा बना रहता है *। (इसलिए मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है)। (प्रजापति के इस मनोऽनुकूल, एवं स्वप्रतिकूल निर्णय से) वह वाक् प्रजापति से इस प्रकार एक अनात्मीय अहितचिन्तक शत्रु की भाँति अपने सम्बन्ध में विपरीत निर्णय सुनकर सहसा स्तब्ध आश्चर्य्ययुक्त बन गई। वाक् का सम्पूर्ण गर्भ (अभिमान) पददलित–विशकलित (चूर-चूर) हो गया। (क्योंकि, वाक् को ऐसी आशा थी कि, प्रजापति मन की अपेक्षा इसे ही श्रेष्ठ प्रमाणित करेंगे। हो गया इससे सर्वथा विपरीत। प्रजापति के इस स्व–आशा-विश्वास के विरुद्ध–प्रतिकूल निर्णय से गर्वखर्विता बनती हुई वाक् सहसा आवेशपूर्वक क्रुद्धा बनती हुई) प्रजा-पति से कहने लगी कि, हे प्रजापते ! आज से (सृष्टि के आरम्भ से ही) मैं तुम्हारे लिए अहव्यवाट् (हव्य वहन न करने वाली) ही बनी रहूँगी (बनी हुई है), जो कि तुमने (इस प्रतिद्वन्द्विता में) मेरा इस प्रकार (मन के समतुलन में) मानमर्द्दन कर डाला। यही कारण है कि, यज्ञकर्म्म में जो कुछ भी प्राजापत्य (प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाला) कर्म्म किया जाता है, वह उपांशु (चुपचाप ही, बिना मन्त्रवाणी–प्रयोग के ही) किया जाता है। । क्योंकि आरम्भ में प्रजापति के लिए वाक् अहव्यवाट् ही बन चुकी थी।"

(२६२)–रहस्यदिशोपक्रम—

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'सामिधेनी' प्रकरण में उक्त आख्यान का समावेश एक विशेष कर्म्म की उपपत्ति (मौलिक कारण) के स्वरूपविश्लेषण के सम्बन्ध में हुआ है। सामिधेनी–प्रकरणान्तर्गत यज्ञपरि-

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥ (गीता३।२१।)

भाषाओं का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य नें प्राजापत्यकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली उपांशुभावना के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि, इन्द्र–अग्नि, सोम, वायु, आदि प्राणदेवताओं के लिए जो आहुति-प्रदानादिलक्षण याज्यादि कर्म्म किए जाते हैं, उनमें सर्वत्र मन्त्रप्रयोग विहित है। मन्त्रप्रयोगात्मक मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही इन्द्रादि देवदेवताओं के लिए आहुतिप्रदानादि यज्ञकर्म्म सम्पन्न होते हैं। किन्तु प्राजापत्य-कर्म्म उपांशु–बिना मन्त्रोच्चारण के–ही होता है। सर्वाधारभूत प्रजापति के लिए मन्त्रवाक् का प्रयोग क्यों नहीं होता ?, इसी प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान करने के लिए उक्त प्रासङ्गिक आख्यान उद्धृत हुआ है, जिसके रहस्यार्थ का शतपथभाष्य के तत्प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। प्रकृत में प्रसङ्गसमन्वय के लिए दो शब्दों में आख्यानानुगता रहस्यदिशा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

(२६३)–गर्भ–पिण्ड–महिमा–संस्थात्रयी—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१९) इत्यादि यजुःश्रुति के अनुसार प्रजापतिदेवता प्रत्येक पदार्थ के (वह पदार्थ सेन्द्रिय हो, अथवा निरिन्द्रिय, अर्थात् चेतन हो, किंवा जड़ हो) गर्भ (केन्द्र) में गर्भरूप से (हृ–द–य रूप आगति–गति–स्थिति–त्रयीरूप से) प्रतिष्ठित रहता है, जिससे अनुप्राणित केन्द्रापकर्षणबल का पूर्व परिच्छेद में विश्वस्वरूपमीमांसामूलक ऋङ्मन्त्रव्याख्यान में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। मनःप्राणवाङ्मय केन्द्रस्थ उक्थभाव (हृदयस्थ मूलभाव) ही अन्तर्य्यामी नामक प्रजापति है, जो प्रत्येक पदार्थ की केन्द्रशक्ति बनता हुआ पदार्थ का नियमितरूप से सञ्चालन करता रहता है। यह हृद्य प्रजापति अपने नैसर्गिक त्रिवृद्भाव के कारण त्रिसंस्थ बन कर अपने महिममण्डल में भूमारूप से व्याप्त रहता हैं। प्रजापति की ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः **गर्भसंस्था, पिण्डसंस्था, महिमासंस्था,** नामों से सुप्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए, आप किसी भी मूर्त्त वस्तुपिण्ड को अपना लक्ष्य बना लीजिए। उस मूर्त्त वस्तुपिण्ड में आप इन तीनों संस्थाओं का साक्षात्कार कर लेंगे। पुरोऽवस्थित जिस वस्तुपिण्ड का आप चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार (प्रत्यक्षात्मक इन्द्रियानुभव) कर रहें हैं, जिसे आप आँखों से देख रहे हैं, वही महिमसंस्था है, जिसका वैज्ञानिकोंनें 'वषट्कार' से सम्बन्ध माना है। प्राजापत्य सर्गमात्र का यह एक महाअभ्व (आश्चर्य्य) है कि, दृश्य, तथा स्पृश्य, दोनों का आधार यद्यपि एक ही पदार्थ है। किन्तु दृश्य पदार्थ कुछ ओर है, एवं स्पृश्य पदार्थ कुछ ओर ही है। जो तत्त्व हमारा 'दृश्य' बनता है, वह अन्य है, एवं जो 'स्पृश्य' बनता है, वह पृथक् है। दूसरे शब्दों में जिसे आप देख सकते हैं, देख रहें हैं, देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसका स्पर्श कर रहे हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्य बनता है अण्ड, एवं स्पृश्य बनता है पिण्ड। पिण्ड का आप स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु इसे देख नहीं सकते। अण्ड को आप देख सकते हैं, किन्तु स्पर्श इसका नहीं कर सकते। क्योंकि यह अपने प्राणरूप से अधामच्छद रहता है। स्थितिस्पष्टीकरण के लिए यों समन्वय कीजिए कि, बिना प्रकाशसाधन को मध्यस्थ बनाए आप वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते, अर्थात् देख नहीं सकते। हाँ, प्रकाश के बिना आप वस्तुपिण्ड का स्पर्शानुभव अवश्य कर सकते हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–विद्युत्–तारक–दीप–आदि किसी न किसी प्रकाश के सहयोग से ही स्पर्शानुभव के द्वारा अनुमेय वस्तुपिण्ड का आप को साक्षात्कार हुआ करता है।

(२६४)–स्पृश्यपिण्ड, और दृश्यमण्डलस्वरूपमीमांसा—

क्या वस्तुपिण्ड के साथ आप की दृग्बिन्दु का सम्बन्ध होता है ?, नहीं। अपितु तथाकथित सूर्य्यादि की प्रकाशरश्मियों के सावित्रभाव का सर्वप्रथम वस्तुपिण्ड (स्पृश्य) के साथ सम्बन्ध होता है। यहां आकर

प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभाव में परिणत हो जातीं हैं, जिसका अर्थ है 'रश्मिप्रतिफलन'। स्पृश्यात्मक वस्तुपिण्ड के साथ साक्षात् रूप से सम्बद्धा प्रकाशरश्मियाँ सावित्रभावान्विता हैं, एवं वस्तुपिण्ड के साथ सम्बद्ध होकर तदाकाराकारित बन कर प्रतिफलनरूप से अपना स्वतन्त्र बहिर्म्मण्डल बना लेने वालीं प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभावान्विता हैं। यही गायत्रमण्डल वस्तु का बहिर्म्मण्डल कहलाया है, जो हमारी दृष्टि का विषय बनता है। यही वह दृश्यमण्डल है, जिसका स्पृश्यपिण्ड के आधार पर प्रकाशप्रतिफलन के माध्यम से बहिर्वितान हुआ है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित आकृति 'रश्मिप्रसार' सिद्धान्तानुसार सामीप्य-विदूर-दोनों भावों से यथानुरूप सयुक्त बन जाती है, एवमेव दृश्यमण्डल से सम्बद्ध स्पृश्यपिण्ड का सामीप्य एवं विदूरभाव भी चक्षुर्म्मण्डल में यथानुरूप संयुक्त बनता रहता है। तात्पर्य्य, वस्तु के आकार की भाँति उसकी दूरी का, सामीप्य का चित्र भी आप के चक्षुर्म्मण्डल में समाविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि, दृश्यमण्डलाकाराकारित वस्तु को यद्यपि देख रहे हैं आप चक्षुर्म्मण्डल की सीमा में हीं, तथापि प्रतीत आप को ऐसा होता रहता है, मानों दृश्यवस्तु आप से विदूर अमुक स्थान पर प्रतिष्ठित हो। विश्वास कीजिए, जिस नियत स्थान पर वस्तु है, उसे आप कदापि कथमपि नहीं देख सकते। हाँ, आप उसका स्पर्श अवश्य कर सकते हैं। जिसे आप देख रहे हैं, वह तो प्रकाशरश्मियों के सम्पर्क से आप की अपनी चक्षुरिन्द्रिययुक्ता प्रज्ञाप्राणात्मिका ज्ञानीयरश्मियों के समन्वय से समुत्पन्न दृश्यमण्डल ही है, जिसके निर्म्माता स्वयं आप(ज्ञानात्मक प्रत्यय) हैं, अतएव जो आपकी की अपनी वस्तु है, एवं जिसके आधार पर उपनिषदों में--**'स्वयं-निर्म्माय'** इत्यादि रूप से **'प्रत्ययैक-सत्योपनिषत्'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जो औपनिषद सिद्धान्त **'अहं मनुरभवं-अहं सूर्य्य इवाजनि'** इत्यादिरूप से मन्त्रसंहिताओं में विस्तार से निरूपित हुआ है, तथा जिसका निष्कर्षार्थ है—**"हम जो कुछ देख-सुन-अनुभव कर रहे हैं, वह सब कुछ हमारे ज्ञान-प्रत्यय से ही विनिर्म्मित है।"**

(२६५)—उद्गीथप्रजापतिस्वरूपपरिचय—

दृश्यमण्डल का आधार बनता है स्पृश्यपिण्ड। एवं दोनों का मूलाधार—सर्वाधार बनता है **'हृद्यपृष्ठ'**, जिसके लिए **'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"** (यजुः सं० ३१।३९) यह प्रसिद्ध है। हृद्यपृष्ठ ही गर्भसंस्था है, स्पृश्यपिण्ड ही पिण्डसंस्था है, दृश्यमण्डल ही महिमासंस्था है। प्रथमसंस्था **'आत्मा'** है, द्वितीयसंस्था **'पदम्'** है, तृतीयसंस्था **'पुनःपदम्'** है। हृदयरूप आत्मा, स्पृश्यपिण्डरूप पदं, एवं दृश्यमण्डलरूप पुनःपदं, इन तीनों गर्भ-पिण्ड महिमा-संस्थाओं की समष्टि ही पदार्थ की कृत्स्नरूपता है। हृदयावच्छिन्न वही आत्मप्रजापति अपने अनिरुक्त अनिर्वचनीय-उपांशुरूप से **'अनिरुक्तप्रजापति'** कहलाया है, जिसे अनिरुक्तभावप्रधाना **'क'** कार व्याहृति से व्यवहृत किया गया है। **'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'** (केनोपनिषत्) **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** (यजुःसंहिता) इत्यादि*श्रुतियों में पठित **'केन' 'कस्मै'** पदों का अर्थ है-**'अनिरुक्तप्रजापतिना, अनिरुक्तप्रजापतये'**। स्पृश्यपिण्डावच्छिन्न वही प्रजापति अपने स्वाभाविक **'उत्-(ऊर्ध्व)-गी** (गानरूप—

* प्रतीच्य अन्वेषणपद्धति के गतानुगतिक भारतीय 'वैदिक रिसर्चस्कॉलर' महानुभावों से सुना गया है कि, जब देवपूजन बंद हो गया, देवताओं के बोधनान्तर जब ऐकश्वर का ज्ञान हो गया, तो देवताओं की उपेक्षा कर दी गई। केवल ईश्वर ही उपास्य बन गया। यही उपेक्षाभाव 'कस्मै देवाय' इत्यादि से प्रतिध्वनित है। धन्य हैं ये स्कॉलर महाभाग !, और धन्य है इनका यह मौलिक अन्वेषण !

द्वारा) थम् (ऊर्ध्वगमनद्वारा अग्रप्रतिष्ठाप्राप्ति) धर्म्म के कारण 'उद्गीथप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। पिण्ड से संलग्न महिमामण्डल के त्रयस्त्रिंशत्तन्तुरूप अहर्गणों (३३वाङ्मय अहर्गणों) का विभाजक क्योंकि यही उद्गीथप्रजापति बनता है, अतएव इसके महिमण्डलस्थ केन्द्रात्मक सप्तदश अहर्गणात्मक स्वरूप को 'सप्तदशप्रजापति नाम से व्यवहृत किया गया है। यह पिण्ड और महिमा, दोनों का संचालक बनता है। अतएव इसे पिण्डानुगत (स्पृश्यपिण्डानुगत) भी मान लिया गया है, एवं मण्डलानुगत (दृश्यमण्डलानुगत) भी मान लिया है। यही इसका उद्–गी–थं–रूप 'उद्गीथत्त्व' है, जिसके आधार पर सहस्रवर्त्मा सामतत्त्व प्रतिष्ठित है।

(२६६)–सर्वप्रजापतिस्वरूपपरिचय—

महिमामण्डल के इस ओर के (स्पृश्यपिण्ड की ओर के) षोडश (१६) आग्नेय वाङ्मय अहर्गण इस सप्तदश अहर्गणात्मक उद्गीथप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त रहते हैं, जिनका यह सप्तदशप्रजापति साक्षी बना रहता है। उस ओर के सौम्य वाङ्मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त सोम की आहुति इस ओर के आग्नेय वाङ्–मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त अग्नि में उभयमध्यस्थ इसी सप्तदशप्रजापति की साक्षी में होती है, जिस आहुति से महिमामण्डलानुगत सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोमयज्ञ' का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस यज्ञसम्बन्ध से ही इसे 'यज्ञप्रजापति' भी कहा गया है, जिस इस यज्ञप्रजापति के अहर्गणात्मक सप्तदश (१७) पर्वों की इस प्राकृतिकसम्पत् का अपने वैधयज्ञ में समावेश करने के लिए याज्ञिक महर्षि स्वयज्ञकर्म में 'संख्याविद्या' के आधार पर सत्रह अक्षरों का प्रयोग किया करते हैं *।

सम्पूर्ण महिमामण्डल को स्व सीमा में अन्तर्भुक्त रखने वाला दृश्यमण्डलाध्यक्ष वही प्रजापति 'सर्वप्रजापति' कहलाया है। दृश्यमण्डलात्मक महिमामण्डल के क्योंकि वाङ्मय ३३ अहर्गण हैं, यह प्रजापति क्योंकि इन सब का अध्यक्ष है, अतएव इसे चतुस्त्रिंश (३४ वाँ) मान लिया गया है, जैसाकि

* चतुर्भिश्च[४] चतुर्भिश्च[४], द्वाभ्यां[२], पञ्चभिरेव[५] च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां[२], तस्मै यज्ञात्मने नमः॥
[सप्तदशप्रजापतये नमः]

* 'ओ[१]–श्रा[२]–व[३]–य[४]" (ओश्रावय) इति। "अ स्तु[२], श्रौ[३], षट्[४]" [अस्तुश्रौषट्] इति। 'य[१]–ज[२]' [यज]–इति। 'ये[१]–य[२]–जा[३]–म[४]–हे[५]' [ये यजामहे] इति। 'वौ[१]–षट्[२]' [वौषट्]। इति, सप्तदशप्रजापतिः सम्पद्यते अक्षरसंख्यासम्पत्-माध्यमेन। तथा चाहुर्महर्षयः-"ओश्रावयेति वै देवा विराजमभ्याजुहुवुः। अस्तुश्रौषडिति वत्समुपावासृजन्। यजेत्युजयन्। ये यजामहेति–उपासोदन्। वषट्कारेणैव विराजमदुहत। इयं वै विराट्। अस्यैवाऽएष दोहः। एवं ह वाऽस्माऽइयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे, य एवमेतं विराजो दोहं वेद"।

—शत० १।५।२।२०।

'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' (ताण्ड्यब्रा० २२।७।५) इत्यादि ब्राह्मणनिगम से प्रमाणित है। इस प्रकार केन्द्र, केन्द्रानुगत वस्तुपिण्ड, तदनुगत दृश्यमण्डलार्द्धपिण्ड, एवं केन्द्र–पिण्ड–मण्डल–रूप से एक ही हृद्यप्रजापति के अनिरुक्त–उग्दीथ–सर्व–रूप से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। हृद्यप्रजापति अनिरुक्त है, 'क' कार से सम्बोधित है। पृष्ठप्रजापति निरुक्तानिरुक्त है। एवं महिमप्रजापति निरुक्त है, 'स' कार से सम्बोधित है।

उपांशु–सप्तदश–चतुस्त्रिंश–प्रजापतिस्वरूपपरिलेखः—

१	अनिरुक्तः	हृद्यः	मूलप्रजापतिः	उपांशुप्रजापतिः	प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च
२	निरुक्तानिरुक्तः	उद्गीथः	यज्ञप्रजापतिः	सप्तदशप्रजापतिः	
३	निरुक्तः	सर्वः	महिमप्रजापतिः	चतुस्त्रिंशप्रजापतिः	

(२६७)–पशुपति–पाश–पशु–स्वरूपपरिचय—

तथानिरूपित त्रिविध प्राजापत्य संस्थाएँ हीं क्रमशः गर्भ–पिण्ड–महिमा नाम हीं की संस्थाएँ हैं। इन तीनों संस्थाओं में यद्यपि त्रिवृद्भाव के कारण आत्मरूप प्रजापति की तीनों–मनःप्राणवाक्–कलाओं का उपभोग हो रहा है। तथापि गौणमुख्यभाव के कारण अनिरुक्त हृद्यप्रजापति प्राणवाग्गर्भित मनःप्रधान बनता हुआ 'मनोमय' कहलाया है। उद्गीथप्रजापति मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान बनता हुआ 'प्राणमय' कहलाया है। एवं सर्वप्रजापति मनःप्राणगर्भित वाक्प्रधान बनता हुआ 'वाङ्मय' कहलाया है। वाङ्मयरूप से वही प्रजापति 'विश्व' है, प्राणमयरूप से वही विश्वकर्त्ता है, मनोमयरूप से वही विश्वाधार है। वाङ्मय विश्व (मूर्त्तभावात्मक भौतिक विश्व) ही 'अशीति' (भोग्य अन्न) लक्षण 'पशु[1]' है, जिसका **'यदपश्यत्–तस्मात् पशुः'** (शत० ६।२।१।२) निर्वचन के अनुसार षड्विध प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्ध है। **अतएव पशुभाव-प्रधान मानव इस प्रत्यक्षानुभव को ही प्रधान प्रमाण घोषित किया करता है।** प्राणमयरूप से विश्व-कर्त्ता बन हुआ प्रजापति विश्वकर्म्मा है। यही प्राणमय अर्कलक्षण **'पाश[2]'** है, जिस प्राणबन्धनात्मक पाश से वाग्रूप विश्वपशु आबद्ध है। मनोमयरूप से विश्वाधार बना हुआ प्रजापति सर्वाधिष्ठाता–सर्वालम्बन है। यही मनोमय उक्थलक्षण **'पशुपति[3]'** है। **'पशुपति–पाश–पशु'** भेद से त्रिधा विभक्त–**उक्थ-अर्क-अशीति** रूप से यज्ञपरिभाषा में उपवर्णित–मनः–प्राण–वाग्रूप से आत्मपरिभाषा में प्रसिद्ध त्रिसंस्थ–त्रिवृद्भावापन्न प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार-लक्ष्य-बना कर ही हमें पूर्वोद्धृत श्रौत आख्यान के रहस्यार्थ का समन्वय करना है।

गर्भाध्यक्ष–स्पृश्यपिण्डाध्यक्ष–दृश्यमण्डलाध्यक्ष–विवर्त्तत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१–मनः (१) २–प्राणः (१) ३–वाक् (१)	प्राणवाग्गर्भितं मनः (१)–मनःप्रजापतिः (अनिरुक्तः–हृदयावच्छिन्नः)	गर्भाध्यक्षः—पशुपतिः (आत्मभावः)
१–प्राणः (२) २–मनः (२) ३–वाक् (२)	मनोवाग्गर्भितः प्राणः (२) प्राणप्रजापतिः (निरुक्तानिरुक्तः पिण्डानुगतः)	स्पृश्यपिण्डाध्यक्षः —पाशः (सत्त्वभावः)
१–वाक् (३) २–प्राणः (३) ३–मनः (३)	मनःप्राणगर्भिता वाक् (३) वाक्प्रजापतिः (निरुक्तः–महिमानुगतः)	दृश्यमण्डलाध्यक्षः—पशुः (शरीरभावः)

(२६८)–आत्म–सत्त्व–शरीर–संस्थात्रयी—

उक्त तीनों प्राजापत्य–संस्थाओं को हम क्रमशः **आत्मसंस्था, सत्त्वसंस्था, शरीरसंस्था,** इन नामों से व्यवहृत करेंगे, जिनका पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। दर्शनपरिभाषानुसार आत्मा 'आत्मा' कहलाया है, यही 'कारणशरीर' नाम से उपवर्णित हुआ है। सत्त्व 'मन' कहलाया है, यही 'सूक्ष्मशरीर' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं शरीर 'स्थूलशरीर' कहलाया है। पूर्वपरिच्छेदों में मनस्तन्त्र की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा करते हुए इसके श्वोवसीयस–सत्त्व–सर्वेन्द्रिय–इन्द्रियभेद–से चार विवर्त्त प्रपितादित हुए हैं, जिनमें से यदि 'सत्त्व' रूप महन्मन का श्वोवसीयस् नामक अव्ययात्ममन में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो तीन हीं मनस्तन्त्र शेष रह जाते हैं। मनःप्राणवाग्भागों के त्रिवृद्भाव के कारण पूर्व प्रतिपादित तीनों हीं प्राजापत्यसंस्थाओं में मनस्तन्त्र समविष्ट है। गर्भाध्यक्ष प्राजापत्य मन श्वोवसीयस् नामक मुख्य मन है, जो जड़चेतनादि यच्चयावत् पदार्थों में अव्यक्तरूप से गर्भीभूत है। एवं जिसका व्यक्तरूप एकमात्र परिपूर्ण मानव में ही प्रतिष्ठित माना गया है। दूसरा स्पृश्यपिण्डाध्यक्ष मन 'सर्वेन्द्रिय' नामक वह मन है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों का सञ्चालन होता है। तीसरा दृश्यमण्डलाध्यक्ष मन 'इन्द्रियमन' है, जो वाक्सीमा में अन्तर्भुक्त रहता हुआ वाग्रूप ही है। पूर्व के आख्यान में जिस वाक् तथा मन की 'अहम्भद्र' रूपा अहमहमिका (प्रतिस्पर्द्धा) बतलाई गई है, वह वाक् तो स्थूलशरीरानुगता मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' है। एवं मन दूसरी प्राजापत्यसंस्थारूपा सूक्ष्मशरीरानुगता संस्था से सम्बद्ध सर्वेन्द्रिय नामक इन्द्रियाध्यक्ष मन है। जिस प्रजापति के सम्मुख ये दोनों निर्णय कराने जाते हैं, वह कारण

शरीरानुगता तीसरी प्राजापत्यसंस्था है, जिसे प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त हृद्यप्रजापतिसंस्था कहा गया है। निष्कर्ष कहने का यही है कि, दूसरी संस्था के सर्वेन्द्रिय नामक सूक्ष्मशरीरनिबन्धन मन, एवं तीसरी संस्था की स्थूलशरीरनिबन्धना वाक्, इन दोनों में तो प्रतिस्पर्द्धा होती है। एवं प्रथमसंस्थाध्यक्ष आत्मप्रजापतिरूप अनिरुक्तप्रजापति इस स्पर्द्धा के निर्णायक बनते हैं। यह है आख्यान के 'प्रजापति-मन-वाक्' नामक तीन मुख्य पात्रों का स्वरूपविश्लेषण। अब आख्यान के समन्वय को लक्ष्य बनाइए।

निर्णायक-स्पर्द्धालु-स्पर्द्धाशील-विवर्त्तपरिलेखः—

१-प्रथमसंस्थाध्यक्षः	अनिरुक्तप्रजापतिः	(आत्मा)	कारणशरीरलक्षणः	निर्णायकः
२-द्वितीयसंस्थाध्यक्षः	सर्वेन्द्रियमनः	(सत्त्वम्)	सूक्ष्मशरीरलक्षणम्	स्पर्द्धालुः
३-तृतीयसंस्थाध्यक्षः	वाक्	(शरीरम्)	स्थूलशरीरलक्षणा	स्पर्द्धाशीला

———***———

(२६६)-वाक् की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता—

सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-अतीन्द्रिय-आदि विविध नामों से उपवर्णित चान्द्र प्रज्ञान मन की कामना से ही वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-रसना-इन्द्रियमन-आदि इन्द्रियप्राणों का संचालन-नियमन होता रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिपति यही प्रज्ञानब्रह्म माना गया है। देखना-सुनना-सूँघना-स्वाद लेना-स्पर्शानुभव करना-संकल्प-विकल्प करना-आदि आदि यच्चयावत् ऐन्द्रिक प्राणव्यापार मनःसंयोग पर ही निर्भर है *। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म्म नहीं कर सकती ÷। इन सब कारणों से मन यह कह सकता है कि, "मैं न केवल तुझ वागिन्द्रिय से ही श्रेष्ठ हूँ, अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियों से श्रेष्ठ हूँ"। मानस कामना को मूल बनाए बिना इन्द्रियव्यापार असम्भव है, इसी भाव का प्रतिस्पर्द्धारूप से अभिनय हुआ है। जैसा मन से मनन होता है, वाक् को वैसा ही बोलना पड़ता है +। सिद्ध है कि, वाणी स्वतन्त्ररूप से गतिशील

---

* मनो वै प्राणानामधिपतिः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
—शत ब्रा० १४।४।३।८।६।

÷ अन्यत्रमना अभूवं, नाहमदर्शम्। अन्यत्रमना अभूवं, नाहमश्रौषम्। इति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति।
शत० १४।४।३।८।

+ यन्मनसा संकल्पयति, तद्वातमपिपद्यते।
—शत० ३।४।२।६

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम्।
—शत० ६।३।१।४।

बनने में असमर्थ है। अपितु मन जैसी कामना करता है, वाक् को उसी का अनुगमन करना पड़ता है। कृतानुकरा अनुवर्त्मभावानुगता ऐसी वाक् अवश्य ही मन की अपेक्षा अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी, जिस स्थिति का–'**न वै मया त्वं किञ्चन–अनभिगतं वदसि, (अतः) अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि**' इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

(२७०)–मन की अपेक्षा वाक् का श्रेष्ठत्व—

मन ने अपनी कामना के आधार पर वाक् की अपेक्षा इस प्रकार जब अपना अहंभद्रभाव (श्रेष्ठता) अभिव्यक्त कर दिया, तो वाक् को मन का यह श्रेष्ठत्व सह्य न हो सका। यह ठीक है कि, कामनामय मानस संकल्प के बिना वाणी स्वव्यापार–अनुष्ठान में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है। तथापि कामनामय मानस संकल्पों को व्यक्तरूप प्रदान करने की क्षमता, दूसरे शब्दों में सर्वथा परोक्ष बने हुए मानस संकल्पों को प्रत्यक्षरूप प्रदान करने की क्षमता तो एकमात्र 'वागिन्द्रिय' पर ही अवलम्बित है। यदि वाणी कुछ बोले नहीं, कहे नहीं, तो उस प्राणी के मनोभाव अकृतकृत्यावस्था से ज्यों के त्यों धरे रहें। '**वाचा हीदं सर्वं–मनुते**' के अनुसार मन के मनन–धर्म्म की मान्यता एकमात्र वाग्व्यापार पर ही अवलम्बित है। मानस भावों को वाक् के द्वारा ही क्योंकि व्यक्तरूपता प्राप्त होती है, अतएव इस दृष्टिकोण से अवश्य ही वाक् को मन के समतुलन में श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिस श्रेष्ठता का '**यद्वै त्व वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं संज्ञपयामि**' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है।

(२७१)–मन और वाक् का परोक्षत्व–प्रत्यक्षत्व—

मन, और वाक्, दोनों में मन 'परोक्ष' भाव है, वाक् प्रत्यक्ष तत्त्व है। मनोवाक् की प्रतिस्पर्द्धा वस्तुतः परोक्ष-प्रत्यक्ष भावों की स्पर्द्धा है। दोनों में किसे श्रेष्ठ माना जाय, जब कि दृष्टिकोणभेद से दोनों हीं श्रेष्ठ प्रतीत हो रहे हैं ?, दोनों ही पक्षों के समर्थक वचन हमें उपलब्ध हो रहे हैं। अतएव 'दोनों में कौन श्रेष्ठ' ? प्रश्न के विभिन्न दोनों हीं प्रकार के समाधान उपलब्ध हो रहे हैं। आभ्यन्तर-सुसूक्ष्म, अतएव परोक्ष तत्त्वों की मीमांसा करने वाले सूक्ष्मदर्शी आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वान् का उत्तर होगा 'मन' की श्रेष्ठता के पक्ष में। एवं बाह्य-स्थूल, अतएव प्रत्यक्ष भावों की मीमांसा करने वाले स्थूलद्रष्टा लोकायतिक का उत्तर होगा 'वाक्' की श्रेष्ठता के पक्ष में। दोनों में से स्थूलारुन्धती-न्याय से दो शब्दों में पहिले प्रत्यक्षलक्षणा वाक् के श्रेष्ठत्व की ही मीमांसा कर लीजिए।

(२७२)–वाग्व्यवहार का महामहिमत्वख्यापन—

जड़भूतवादी–क्षणिकविज्ञानवादी–स्थूलजगन्निष्ठ–व्यवहारनिष्ठ–स्थूलद्रष्टा प्रत्यक्षपरायण लौकिक मानव कहेगा—'वाक् ही श्रेष्ठ तत्त्व इसलिए है कि, लोकक्षेत्र में वाक् को मध्यस्थ बनाए बिना किसी भी लोकक्षेत्र में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती'। लोकभावानुसार–बिना बोले कोई काम नहीं हो सकता, नहीं बन सकता। इस प्रकार की लोकसूक्ति लोक में प्रसिद्ध है कि,–"बोलने वाले के तो छिलके भी बाजार में बिक जाते हैं। एवं न बोलने वाले के चने भी धरे रहते हैं"। निगमशास्त्र ने भी लौकिक मानवानुबन्धिनी इस वाक्प्रधाना–प्रत्यक्षमूला–लोकमान्यता का निम्नलिखित शब्दों में अभिनय किया है। श्रुति कहती है—

वागेव ऋचश्च, सामानि च । मन एव यजूंषि । सा यत्रेयं वागासीत्–सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत । अथ यत्र मन आसीत्–नैव तत्र किंचनाक्रियत, न प्राज्ञायत । नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन आजानाति ।

—शत० ब्रा० ४।६।७।५ त्रयीविद्यापरिशिष्टब्राह्मण

"वाक् ही ऋक् और साम है, मन ही यजु है * । (ऋक् साम ही बहिर्म्मण्डल के स्वरूप निर्म्माता हैं, अतएव वाङ्मण्डलात्मक बहिर्म्मण्डल को अवश्य ही ऋक्–साम–प्रधान माना जा सकता है । एवं केन्द्रा–वच्छिन्न गत्यागतिभावात्मक मन हीं स्पृश्यभाव का स्वरूपसमर्पक बनता है, अतएव मनोमय आभ्यन्तर वस्तुपिण्ड को अवश्य ही यजुःप्रधान कहा जा सकता है, यही तात्पर्य्य है) । जहाँ जिस मानव के समीप 'वाक्' (वाणीं रूप साधन विद्यमान था) थी,वहाँ उस (वाक्सम्पत्तियुक्त मानव ने, बोलने में चतुर–कुशल मानव) ने सब कुछ कर लिया, सब कुछ जान लिया (अर्थात् बोलने वाला लोक में कर्म्मठ भी बन गया, विज्ञ भी घोषित हो गया । ठीक इसके विपरीत) । जहाँ जिस मानव के समीप केवल मन था (जो मानव केवल मानसिक चिन्तन अनुशीलन में प्रवृत्त था), वहाँ उस (वाणीविलासवञ्चित मानव) ने न कुछ किया ही, न कुछ जाना ही (अर्थात् लोक में ऐसा केवल मननशील मानव न तो कर्म्मठ कहलाया, एवं न विज्ञ माना गया) । क्योंकि केवल(मन ही) मन से अनुध्यान–संकल्प–विकल्प करने वाले मानव के आभ्यन्तर सुसूक्ष्म मनोभावों को कोई नहीं जान पाता । परिणामस्वरूप केवल मनोराज्य में विचरण करने वाले मानव के संकल्प कभी वाह्य रूपात्मक मूर्त्तरूप में परिणत नहीं होते, जब तक कि वह बाह्यजगन्मूला वाक् का मन के साथ समन्वय नहीं करा देता" ।

उक्त अक्षरार्थसमन्विता श्रुति का वाक्प्रधान + मूर्त्त भौतिक व्यक्तजगत् की दृष्टि से अक्षरशः समन्वय हो रहा है । **'स भूरिति व्याहरत, पृथिव्यभवत्'** प्रजापति ने अपने मुख से 'भूः' इस एका–क्षरात्मक शब्द का उच्चारण किया, एवं उससे पृथिवी का स्वरूपनिर्म्माण हो गया, इत्यादि श्रुति भी यही प्रमाणित कर रही है कि, अव्यक्त–अमूर्त्त–अनिरुक्त–आध्यात्मिक–परोक्ष–मनोभावों को व्यक्त मूर्त्त निरुक्त आधिभौतिक प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान करने के लिए अवश्य ही उस 'व्यक्त' तत्त्व का आश्रय लेना अनिवार्य्य बन जाता है, जो व्यक्त वाक्तत्त्व मनोमय आत्मप्रजापति (हृदयस्थ अनिरुक्त प्रजापति)

---

* हृदयबलावच्छिन्न वस्तुपिण्ड ही हृदयावच्छिन्न मन का आवासक्षेत्र है । इस हृन्मूर्त्ति, किंवा हृत्प्रतिष्ठ मनोरूप यजुः के आधार पर ही यत्रूप गतिभाव, जूरूप स्थितिभाव, इन दोनों विसर्गादानलक्षण भावों के माध्यम से वस्तुपिण्डस्वरूपप्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है । विज्ञानदृष्ट्या वस्तुपिण्डात्मक यजुर्म्मूर्त्तिर्म्मन कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता । प्रत्यक्ष का विषय बनता है हृदयाधार पर प्रतिष्ठित ऋक्साममय वाग्रूप बहिर्म्मण्डल, जिसे **'वाक्साहस्री'** 'वाक्षट्काररूप **'वषटकार'** आदि नामों से व्यवहृत किया गया है । वस्तुपिण्ड केवल स्पृश्य है, दृश्य (प्रत्यक्ष) नहीं, जो मनोमय यजुर्वेदात्मक है । महिमामण्डल दृश्य है, जो ऋक्सामलक्षण वाङ्मय है । इसी आधार पर **'वागेव ऋचश्च सामानि च । मनो यजूंषि'** इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

+ वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।

के भूतप्रवर्त्तक विकाराधिष्ठाता क्षरभाग से युक्त रहता हुआ भूतभौतिक सर्ग का मूलप्रभव-मूलोपादान मूलाधिष्ठाता बना रहता है। परप्रदत्ता सर्वनाशकारिणी भावुकता के आवेश से भूताविष्टवत् आविष्टा वर्त्तमान शताब्दी की भारतीय भावुक प्रजा ने श्रुतिसिद्ध वाङ्महत्त्व को विस्मृत कर सर्वथा कल्पित वेदान्तभावानुगत मनोराज्य में विचरण करते हुए किस प्रकार व्यक्त-भौतिक-सम्पत्ति को, अपने लोक-साम्राज्य-राज्य-सुराज्य-स्वराज्य-वैराज्य-वैभव को जलाञ्जलि समर्पित करने में हीं अपना पुरुषार्थ समाप्त मान लिया है ?, यह स्थिति नैष्ठिक भारतीय मानवों की दृष्टि से परोक्ष नहीं रह गई है। यह सर्वात्मना अनुभव किया जा रहा है कि, मनोमय आध्यात्मिक तत्त्व के वास्तविक परोक्ष स्वरूप से सर्वथा अपरिचित रहने वाली अन्य जातियों नें सर्वात्मना अलग्ल अस्तव्यस्त, किन्तु उच्च-उच्चतर-उच्चतम-घोषणायुक्ता वाणी के माध्यम से वैसा उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है, जो कुछ समय पूर्व नग्न-बुभुक्षितावस्था से इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बनीं हुईं थीं। उच्च घोष करने वाला अज्ञ भी किस प्रकार अपनी मूर्खतापूर्णा वाणी के प्रभाव से कार्य्य संसिद्ध कर लेता है ?, और सब कुछ जानता हुआ भी विद्वान् अपने अव्यवहार्य्य-असामयिक-मौनावलम्ब से किस प्रकार निःसीमरूपेण निर्ऋतिदेवता ÷ का सम्मान्य अतिथि बना रहता है ?, इत्यादि व्यञ्जनाओं की व्याख्या वर्त्तमान युग में इसलिए अनावश्यक है कि, कुछ एक शताब्दियों से नैष्ठिक जातियों के सतत आक्रमण से आक्रान्त भावुक भारतीय मानव परप्रत्ययनेयतामूलक दोष का अनुगामी बनता हुआ कल्पित वेदान्तनिष्ठा को लक्ष्य बनाता हुआ अपने वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-धार्म्मिक-आदि-आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में तथा-कथिता निर्ऋतिस्थिति का ही सत्पात्र प्रमाणित हो रहा है। स्पष्ट है कि लौकिक व्यावहारिक व्यक्त क्षेत्र में मनोऽनुगत आत्मसत्य की अपेक्षा वागनुगत भूतबल अधिक ओजस्वी बना रहता है। अतएव लोकदृष्ट्या दोनों के समतुलन में वाग्बल को ही प्रधानता दी गई है, जैसा कि **'बलं सत्यादोजीयः, बलं वाव विज्ञानाद्भूयः'** इत्यादि अन्य निगमवचनों से भी प्रमाणित है।

लौकिक-व्यावहारिक क्षेत्र के परिवार-जाति-समाज-राष्ट्र-आदि अनेक विवर्त्त प्रसिद्ध हैं, जिनका महान् 'राजनैतिकक्षेत्र' में अन्तर्भाव हो जाता है। परिवारादि सभी क्षेत्र दहरोत्तरसम्बन्धात्मक परम्परासम्बन्ध से राजनैतिक क्षेत्र बने हुए हैं, जिन में 'वाग्बल' की ही प्रधानता मान्य मानी गई है। मनोमय आत्मा से समन्वित 'सत्य' के आग्रह, किंवा दुराग्रह की, तथा भूतानुगत वाङ्मय 'बल' के उद्घोष की, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में भूतानुगत वागुद्घोष ही जयलाभ किया करता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान भारतराष्ट्र में प्रत्यक्षदृष्ट सुप्रसिद्ध दो राजनैतिक-वर्गों की प्रतिद्वन्द्विता का सु ? परिणाम बन चुका है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव इसी लोकदृष्टि को लक्ष्य बना कर श्रुति ने मन और वाक्, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में-**"अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयसी-अस्मि। यद्वै त्वं (मनः) वेत्थ, अहं-तद्विज्ञपयामि, संज्ञपयामि"** इत्यादिरूप से वाक् को ही 'अहंभद्र' (मन की अपेक्षा श्रेष्ठ-उच्च) पद पर समासीन घोषित किया है।

(२७३)-मानससंकल्प का महामहित्त्वख्यापन —

अब क्रमप्राप्त मन के उस श्रेष्ठत्त्व का समन्वय कीजिए, जिसका आध्यात्मिक परोक्षभाव से सम्बन्ध है, एवं जिस पक्ष का स्वयं प्रजापति ने समर्थन किया है। यह ठीक है कि लौकिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण से

÷ दरिद्रता।

मन की अपेक्षा वाक् ही श्रेष्ठ है । तथापि वस्तुतः तत्त्वदृष्ट्या मन का ही आभिजात्य स्वीकार करना पड़ता है । कारण स्पष्ट है । मानसबल अव्यक्त बनता हुआ जहाँ अपरिमित है, वहाँ वाग्बल व्यक्त बनता हुआ सीमित-परिमित है* । प्रत्यक्ष से अनुप्राणित परिमित भूतबल की अपेक्षा परोक्ष से अनुप्राणित अपरिमित मनोबल अवश्य ही श्रेष्ठ माना जायगा । कृतानुकरत्व तो प्रत्येकदशा में वाक् का ही माना जायगा, भले ही वह वाक् का अपना बाह्य लोकक्षेत्र ही क्यों न हो । बिना मानस संकल्प-प्रेरणा के वाग्व्यापार असम्भव है । इसी आधार पर **'वाग्वै मनसो ह्रसीयसी'** (वाक् निश्चयेन मन की अपेक्षा निम्नभावानुगता है) यह कहा गया है । **'वृषा हि मनः'** (शत० १।४।४।३।) के अनुसार मन जहाँ वृषा (पुरुष) स्थानीय बनता हुआ भोक्ता, अतएव श्रेष्ठ है, वहाँ **'योषा हि वाक्'** (शत० १।१।४।४) । के अनुसार योषा (स्त्री) स्थानीया बनती हुई वाक् भोग्या, अतएव निम्ना है । **'वागिति स्त्री'** (जै० उप० ४।२२।११) **'वागत्रिः-आत्रेयी-योषित्-स्त्री'** (शत० १।४।५।१३) इत्यादिरूप से भी स्त्री-स्थानीया वाक् का पुरुषस्थानीय मनोऽपेक्षया अबलात्त्व ही प्रमाणित हो रहा है । स्पष्ट है कि, जिन में मनोबल अमुकामुक कारणों से अभिभूत रहता है, ऐसे मनोबलशून्य मानव ही उच्चैःस्वेरण उद्घोष का अनुगमन किया करते हैं । मनोबल-समन्वित मनस्वी का नादब्रह्मसमन्वित एकबार का मन्दघोष भी जहाँ श्रोता को आकर्षित कर लेता है, वहाँ मनोबलशून्य अलम्ल-वाक्प्रयोक्ता मानव का अनेक बार का उद्घोष भी निरर्थक सिद्ध होता देखा गया है ।

आध्यात्मिकी प्राकृतिकस्थिति की दृष्टि से भी वागपेक्षया मन का ही अहंभद्रत्त्व प्रमाणित हो रहा है । शरीराकाश के गर्भ में अवस्थित हृदयाकाश में 'दभ्र' नामक 'दहराकाश' की सत्ता मानी गई है, जो स्थान 'विरजब्रह्मलोक' माना गया है । यहीं ज्योतिषांज्योतिर्घन श्वोवसीयस् मनोमूर्त्ति प्राजापत्य अव्ययमन, किंवा मनोमय अव्ययात्मा (षोड़शीपुरुष) प्रतिष्ठित है । इस षोड़शीपुरुषलक्षण मनोमय अव्ययात्मारूप 'पुरुष' के आधार पर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, नामक पाँच प्राकृतात्मा समन्वित हैं, जिन्हें 'खण्डात्मा' नाम से यत्रतत्र व्यवहृत किया गया है । इन पाँचों खण्डात्माओं में से स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, इन दो खण्डात्माओं का तो सर्वाधिष्ठान-सर्वाधाररूप पुरुषात्मा (प्राणवाग्गर्भित श्वोवसीयस्मनोमूर्त्ति अव्ययप्रधान षोड़शीप्रजापति) में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । तीसरा खण्डात्मा सौर विज्ञानात्मा है, जो 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है । इस बुद्धिरूप सौर विज्ञानात्मा के, तथा अव्ययप्रधान पुरुषात्मा के मध्य में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्मा-महानात्मा, दोनों खण्डात्मा क्योंकि पुरुषात्मस्वरूपसीमा में अन्तर्भूत हैं । अतएव **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** (गीता०

---

* **मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः । यतरो वै युजोर्ह्रसीयान् भवति, उपवहं वै तस्यै कुर्व्वन्ति । वाग्वै मनसो ह्रसीयसी । अपरिमिततरमिव हि मनः, परिमिततरेव हि वाक् । तद्वाच एवैतदुपवहं करोति ।**

—आघारब्राह्मण शत० १।४।४।७।

३।४२) के अनुसार गीताचार्य्य ने बुद्धिरूप विज्ञानात्मा से परे पुरुषात्मा की ही सत्ता मान ली है*, जब कि उपनिषत् ने बुद्धि से परे, एवं पुरुष से इतः प्रतिष्ठित रहने वाले अव्यक्त, और महान् की भी स्वतन्त्ररूप से गणना की है÷ ।

(२७४)–तस्यैव मात्रामुपादाय उपजीवन्ति–इन्द्रियाणि—

उक्त पाँचों खण्डात्माओं में चान्द्र प्रज्ञानात्मा ही सर्वेन्द्रिय–अतीन्द्रिय–अनिन्द्रिय–इत्यादि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध वह चान्द्र मन है, जिस का यजुःसंहिता के सुप्रसिद्ध 'मनःसूक्त' में उपवर्णन हुआ है, एवं जो प्रज्ञानमन श्वोवसीयसनामक अव्यय मन की भाँति हृत्प्रदेश में हीं प्रतिष्ठित माना गया है । हृत्प्रतिष्ठ–'प्रज्ञान' नामक इस इन्द्रियाधिष्ठाता × चान्द्रमन के साथ ही ब्राह्मणश्रुति ने वाक् की प्रतिस्पर्द्धा बतलाई है । पार्थिव अग्नित्रयी (अग्नि–वायु–आदित्यलक्षणा अग्नित्रयी) से कृतरूप वैश्वानर–तैजसप्राज्ञ मूर्त्ति पार्थिव 'भूतात्मा' नामक पाँचवाँ–अन्तिम खण्डात्मा हीं देहाभिमानी 'देही' वह जीवात्मा है +, जो

---

* इन्द्रियाणि पराण्याहुः–इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः–यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥
—गीता० ३।४२।४३।

÷ इन्द्रियाणि पराण्याहुः–इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः–बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तं–अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्–सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
—कठोपनिषत् २।६।७,८,।

× यत् 'प्रज्ञान' मुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥
—यजुःसंहिता ३४।३,६, मन्त्र ।

\+ 'जीव' संज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥
—मनुः १२।१३।

त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-नामक पाँच पार्थिव अयुग्मस्तोमलोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम-नामक पञ्चप्राणों से कृतरूप वाक्-प्राण-चक्षुः-मन-श्रोत्र-नामक पञ्चेन्द्रियवर्ग के द्वारा कर्म्ममार्ग में संलग्न बना रहता है। प्रज्ञानमन की प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रालक्षणा शक्तित्रयी को प्रवर्ग्यरूप से अपना आधार बना कर ही-**'तस्यैव मात्रामुपादाय जीवन्ति'** न्याय से इन्द्रिय-वर्ग स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

(२७५)-सर्वाणीन्द्रियाण्यतीन्द्रियाणि—

'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' इत्यादि कौषीतकिसिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण प्राणेन्द्रियों का बिनिर्गमनद्वार बहिर्म्मुख है। स्वयम्भूमनुप्रजापति की सहजप्रेरणा ने इन्द्रियों को बहिर्म्मुख ही बना रक्खा है। यही कारण है कि, जो इन्द्रियाँ अपनी बहिर्म्मुखता के कारण बाह्यविषय-ग्रहण-अनुभव में समर्थ बनीं रहतीं हैं, वे ही इन्द्रियाँ आभ्यन्तर विषयों के ग्रहणानुभव में नितान्त असमर्थ हैं। **'पराञ्चि खानि ***' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार 'ख' नामक इन्द्रियों की उन्मुखता (रुख) स्वयम्भूमनु ने क्योंकि बहिरनुगता ही बनाई है। अतएव सभी इन्द्रियाँ हृदयस्थान से, किंवा हृदयस्थानस्थित आत्मक्षेत्र से बाहिर की ओर ही अपना व्यापार सञ्चालित करने में समर्थ बनतीं हैं। इन्द्रियवर्ग का सञ्चालन एकमात्र हृदयस्थ प्रज्ञानमन के द्वारा ही होता है। बिना इस प्रज्ञानमनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वविषय का ग्रहणानुभव नहीं कर सकती। यही इन्द्रियापेक्षया मन का प्रथम अहंभद्रत्व है। **'अन्यत्र मे मनोऽभूत्, नाहमश्रौषम्'** (कौ० उपनिषत्) इत्यादि के अनुसार मन के सहयोग के बिना न वाणी का व्यापार होता, न गन्धग्रहण होता, न रूपदर्शन होता, न शब्दश्रवण होता। हृदयस्थ आत्मा के सन्निकट (इन्द्रियों की अपेक्षा) **'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'** के अनुसार प्रज्ञानमन का ही स्थान है। और यही मन का द्वितीय अहंभद्रत्व है। इन्द्रियाँ जहाँ केवल पराङ्मुख हैं, बहिर्म्मुख हैं, वहाँ प्रज्ञानमन इन्द्रियापेक्षया बहिर्म्मुख बनता हुआ बुद्धिसहयोग से मननशील बनता हुआ अन्तर्म्मुख भी बना हुआ है। यही मन का इन्द्रियवर्गापेक्षया तृतीय अहंभद्रत्व है।

ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्म्मजनित वासनासंस्कार से संस्कृत प्रज्ञानमन की संस्कारोक्थानुगता कामना के आधार पर मानसी प्रज्ञा-प्राण-भूत-नाम की मात्राओं को लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वविषयग्रहणानुभव में समर्थ बनता है। यह निश्चित है कि, जिस बाह्य भौतिक विषय का उक्थ संस्काररूप से प्रज्ञानमन में नहीं रहता, इन्द्रिय कदापि न तो उस बाह्य विषय का अन्तर्य्याम सम्बन्ध से ग्रहण ही कर सकती, न अनुभव ही। यही कारण है कि, उक्थ के बलाबलतारतम्य से ही ऐन्द्रियक विषयों के ग्रहणानुभव में तारतम्य होता रहता है। स्वस्थ-नीरोगदशा में मानिसक उक्थ के जागरूक बने रहने से जो रसनेन्द्रिय मधुर स्वाद के ग्रहणानुभव में समर्थ रहती है, वही रोगद्वारा मन के तदुक्थ के अभिभूत हो जाने से मधुर रसानुभव में असमर्थ बन जाती है। इन्हीं सब कारणों के आधार पर यह कहा, और माना जा सकता है कि, मानसप्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्राएँ हीं

*** पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति, नान्तरात्मन्।**
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्यचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषत् २।४।१।

इन्द्रियों के विषयग्रहणानुभव का कारण हैं। यही मन का चतुर्थ अहंभद्रत्त्व है। वस्तुगत्या अन्यान्य इन्द्रियों की भाँति वागिन्द्रिय भी प्रज्ञानमन की कृतानुकरा ही है। **'यन्मनसा मनुते, तद्वातमभिपद्यते। वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ते मनः'** इत्यादि के अनुसार मानसिक व्यापार के अनुपात से ही वाग्वातावरण व्यवस्थित बना करता है। यही मन का पञ्चम अहंभद्रत्त्व है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से अध्यात्मसंस्था में वाक् की अपेक्षा इन्द्रियाध्यक्ष प्रज्ञानमन का ही अहंभद्रत्त्व प्रमाणित हो रहा है। सम्भवतः ही क्यों, अपितु निश्चयेनैव इसी अलौकिक दृष्टि को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने मन और वाक् की प्रतिद्वन्द्विता में–**"अहमेव-(मन एव) त्वच्छ्रेयोऽस्मि। न वै मया त्वं किञ्चन अनभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरा–अनुवर्त्मा–असि, (अतः अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि"** इत्यादिरूप से मन को ही 'अहंभद्र' (वाक् की अपेक्षा श्रेष्ठ उच्च) पद पर समासीन घोषित किया है।

(२७६)–प्रजापति का उपांशुकर्म्म—

तथाकथित इसी प्राकृतिक निर्णय का अभिनय करते हुए श्रुति ने कहा है कि,—"इस प्रतिद्वन्द्विता में प्रजापति ने मन के पक्ष का ही समर्थन किया"। यह सर्वथा प्राकृतिक ही है कि, पराङ्मुखा वाक् कभी अन्तर्मुखा नही बन सकती। **भूतात्मा, प्रज्ञानमन, विज्ञानबुद्धि, प्राणवायु, कायाग्नि** (भूताग्नि), इन पाँचों के समन्वित व्यापारों से समुत्पन्न क–च–ट–त–पादि–वर्णयुक्ता वैखरीवाक् (आक्रोशात्मिका वाक्–'शप्' आक्रोशे–**'शपं ददातीति शप्दः'** निर्वचनानुगत **'शब्द'**) हृदयस्थ मूलप्रजापति को मूलोक्थ बना कर ही कण्ठ–ताल्वादि बाह्य स्थानों की ओर प्रवृत्त होती है +। हृदयस्थानस्थित अनिरुक्त प्रजापति के साथ प्रकृत्या बहिर्म्मुखा इस शब्दवाक् का सम्बन्ध सर्वथा असम्भव ही है। **'न तत्र वाग् गच्छति–न मनो-गच्छति॰ ×'** इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति से स्पष्ट ही इन्द्रियमात्र का प्रजापति के साथ असम्बन्ध ही प्रमाणित हो रहा है। इसी स्वाभाविक स्थिति का आख्यानभाषा में अभिनय करते हुए श्रुति ने कहा है कि,—"अपनी अपेक्षा से मन–(प्रज्ञान नामक अनिन्द्रियमन) के पक्ष मे अहंभद्रत्त्व का निर्णय प्रदान करने के कारण वाक् पहिले तो सहसा आश्चर्य्य में पड़ गई (सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये)। अन्ततोगत्वा प्रजापति के इस निर्णय से अप्रसन्न बन जाने वाली इस वाक् ने प्रजापति के प्रति आक्रोशपूर्वक अभिनिवेशपूर्वक ये उद्गार प्रकट ही तो कर डाले कि,–"मैं आज से तुम्हारे लिए हविर्द्रव्य का वहन नहीं करूँगी।" यज्ञ में अनिरुक्त प्रजापति (हृदयस्थ नभ्यप्रजापति) के लिए विहित कर्म्म उपांशु (तूष्णीं—बिना मन्त्रप्रयोग के)

+ आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया॥
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥२॥
—पाणिनीयशिक्षा

× **'न तत्र मनो गच्छति'** में पठित 'मन' संकल्प–विकल्पात्मक इन्द्रियमन का ही संग्राहक बना हुआ है। यही संकल्पविकल्पात्मक वह सौम्य मन है, जो मानव–पशु–पक्षी–आदि सर्वसामान्य में रहता हुआ **'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं-निरिन्द्रियमचेतनम्'** रूप से जड़–चेतनसर्ग का विभाजक बना हुआ है।

क्यों होता है ?, प्रश्न का यही प्राकृतिक समाधान है, जिसका शतपथविज्ञानभाष्य के तत् प्रकरण में विस्तार से विवेचन हुआ है।

(२७७)–'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः'—

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, षड्विध ऐन्द्रियक अनुभव का नाम ही 'प्रत्यक्ष' है, जो कि ऋक्सामानुगत सहस्रबहिर्म्मण्डलों के अनुपात से, साथ ही स्व-स्व मानसिक संस्कारों के बलाबलतारतम्य से सर्वथा प्रतिव्यक्ति सर्वथा विभिन्न बना रहता हुआ नानाभावापन्न है, अतएव अप्रामाणिक है, अतएव च उपेक्षणीय है। इसी आधार पर भारतीय आस्तिक-दर्शन में-**'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः'** यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। आत्मा के अस्तित्त्व से अपरिचित लोकायतिक-यथाजात-नास्तिक ही 'प्रत्यक्ष' रूपा इन्द्रियानुभूति को प्रमाण माना करते हैं, जिस प्रत्यक्षप्रामाण्यवाद का आर्षदृष्टि से आत्यन्तिक विरोध ही हुआ है। इस आत्यन्तिक विरोध का मूल है स्वयं वह 'प्रत्यक्ष' शब्द ही, जिसका निर्वचनार्थ स्पष्ट रूप से अपने अनेकत्त्वमूलक अनिश्चय-भाव को अभिव्यक्त कर रहा है।

(२७८)–प्रति-अक्ष, और प्रत्यक्ष—

'प्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है--**'प्रति-अक्षम्।'** प्रत्येक अक्षि (चक्षुरिन्द्रिय) से सम्बन्ध ऐन्द्रियक विषय (चक्षुरिन्द्रियानुगत विषय) ही 'प्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचनार्थ है। **'अक्षं प्रतिगतं-प्रत्यक्षम्'** यह तो है प्रत्यक्ष शब्द का फलितार्थ। किन्तु निर्वचनार्थ यही माना जायगा कि, **'प्रत्येक आक्ष से युक्त विषय ही प्रत्यक्ष है।'** 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' सिद्धान्तानुसार प्रत्यक्षप्रत्यय (ज्ञान) का मूलाधार वस्तु का महिमामण्डल ही बना करता है, जो विज्ञानभाषा में 'ऋग्गर्भित साममण्डल' माना गया है। दृश्य, तथा स्पृश्य भेद से वस्तुस्वरूप द्विधा विभक्त है। सत्तासिद्ध पदार्थ 'स्पृश्य' है, भातिसिद्ध पदार्थ दृश्य है। जिसे हम चर्म्मचक्षुओं से देख रहे हैं, देखते हैं, देख सकते हैं, वह भातिसिद्ध पदार्थ है, हमारे ज्ञान से कल्पित पदार्थ है, जिसकी प्रतीति का एकमात्र हमारे प्रत्यय से ही सम्बन्ध है। हम जिसे देख रहे हैं, वह केवल हमारे ज्ञानमण्डल की ही वस्तु है। विश्व का अन्य कोई भी प्राणी इस हमारे दृष्ट पदार्थ को नहीं देख सकता। तथैव-अन्य द्वारा दृष्ट हमारे लिए अदृष्ट बना रहता है। हाँ, सत्तासिद्ध स्पृश्यपिण्ड अवश्य ही सब के लिए समान बना रहता है। हृदयावच्छिन्न स्पृश्यपिण्ड यजुर्म्मय है। इस पिण्डकेन्द्र के आधार पर महिमामण्डल का वितान होता है, जिसे 'वाङ्मण्डल' कहा गया है। यही ज्योतिर्म्मयी रश्मियों के प्रतिफलन से चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण बनता है। अपने अपने दृष्टिमण्डल की सीमा में प्रविष्ट ऋग्गर्भित साममय बहिर्म्मण्डल ही चाक्षुष प्रत्यक्ष का मूलाधार है। इसी नानाभावात्मक **'प्रति'** भाव से इसे 'प्रत्यक्ष' कहना अन्वर्थ बनता है। जिसका चाक्षुषमण्डल जहाँ जिस बहिर्म्मण्डलबिन्दु से स्पर्श करता है, तद्वस्तुमण्डल ही उसके प्रत्यक्ष का कारण बन पाता है। चाक्षुषमण्डल के तारतम्य से ही महिमामण्डल में तारतम्य समन्वित रहता है। अतए नानाभावापन्ना इस चाक्षुषी दृष्टि को निश्चित निर्णयात्मिका नहीं माना जा सकता। इसी आधार पर आर्षदृष्टिपरायण महर्षियों नें इत्थंभूता-प्रत्यक्षदृष्टि को सर्वथा भ्रान्त ही घोषित किया है। विषय थोड़ा जटिल, अतएव रहस्यपूर्ण है। इसके सर्वसमन्वय के लिए तो उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-ग्रन्थ का वेदस्वरूपपरिचयात्मक द्वितीय खण्ड ही देखना चाहिए। प्रकृत निबन्ध में तथाकथित साङ्केतिक दिग्दर्शन से अधिक विश्लेषण करना अशक्य है।

(२७९)–सत्यानृतभाषणमीमांसा—

बहिर्मण्डलात्मक–दृश्यमण्डल से अनुप्राणित चाक्षुष प्रत्यक्ष की निगमशास्त्र ने सर्वथा उपेक्षा ही की हो, यह बात नहीं है। अमुक सीमापर्य्यन्त लोकव्यवहारदृष्ट्या चाक्षुषप्रत्यक्ष का भी निगम ने समादर किया है। यज्ञ में दीक्षित यजमान के लिए एक प्रासङ्गिक आदेश हुआ है कि,—'**स वै सत्यमेव वदेत्**' (अर्थात् दीक्षित यजमान का यह कर्त्तव्य हो जाता कि, वह यज्ञानुष्ठानपर्य्यन्त सत्य–भाषणमर्य्यादा से स्खलित न बने)। इस आदेश पर श्रुति ने स्वयं यह विप्रतिपत्ति उठाई है कि, "**मनुष्य, और सत्यभाषण करे, यह असम्भव है।**" आपत्ति का मूल रहस्य यही है कि, वास्तविक सत्य तो हृदयस्थ आत्मा से समन्वित है, जिसके साथ पराङ्मुख इन्द्रियों का सम्बन्ध असम्भव है। ऐसा वास्तविक सत्तासिद्ध सत्यभाव तो स्वानुभवैकगम्य ही है, जिसका न चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष हो सकता, एवं न वाणी से जिसका अभिनय हो सकता। जबकि वास्तविक सत्यभाषण सम्भव ही नहीं, तो श्रुति ने '**स वै सत्यमेव वदेत्**' आदेश किस आधार पर दे डाला। एवं '**सत्यान्न प्रमदितव्यम्**'–'**सत्यं ब्रूयात्**' इत्यादिरूप से सत्यभाषण को किस आधार पर 'विधि' मान लिया गया ?। इस समस्या का चाक्षुषप्रत्यक्ष के आधार पर समाधान करते हुए भगवान् ऐतेरय कहते हैं—

(२८०)–ऋतं वाव दीक्षा, सत्यं वाव दीक्षा—

"ऋतं वाव दीक्षा सत्यं वाव दीक्षा। तस्मात्–दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम् (आदेशविधिः। (अत्र आपत्तिः–)—अथो खल्वाहुः–कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम्। सत्यसंहिता वै देवाः, अनृतसंहिता मनुष्याः–इति। (समाधीयते-)–विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। वि ह्येनेन पश्यति। एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं–यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः–'अद्राक्' इति। स यद्यदर्शमित्याह, अथास्य श्रद्दधाति। यद्यु स्वयं पश्यति, न बहूनां च नान्येषां श्रद्दधाति। तस्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत्। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति"।

—ऐतरेय ब्राह्मण २ अ०। १ ख०। ६ कण्डिका। *

अक्षरार्थ श्रुति का यही है कि, "(मानसिक सत्यभावनात्मक) ऋत, एवं (वाग्व्यवहारात्मक) सत्य ही यज्ञदीक्षा का वास्तविक स्वरूप है। मानसिक सत्यसंकल्प ही 'ऋत' है, वास्तविक सत्यभाषण ही 'सत्य' है। यज्ञ में दीक्षित यजमान का यह अनिवार्य्य कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह मनसा सत्यसंकल्प का ही अनुगामी बना रहे, एवं वाणी से सत्य का ही अनुगामी बना रहे। प्रश्न है कि, देवदेवता ही एकमात्र सत्यसंहित हैं,

---

*** "चक्षुर्वै विचक्षणम्। चक्षुषा हि विपश्यति। एषा ह्वेव व्याहृतिर्दीक्षितवादः सत्यमेव। स यः सत्यं वदति, स दीक्षितः, इति ह स्माऽऽह"।**

—शाङ्खायनब्रा० ७।३।

सत्य के वास्तविक अनुगन्ता हैं । मनुष्य तो (प्रकृत्या) अनृतभावापन्न ही है । ऐसी स्थिति में अनृतसंहित मनुष्य को सत्यभाषण जैसी असम्भव आज्ञा किस आधार पर दे दी गई ?। उत्तर है–वह मनुष्य विचक्षणवती वाणी का ही व्यवहार करे । चक्षु ही विचक्षण है । क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय से विषय का विशेषरूप से प्रत्यक्ष सम्भव है । अतएव चक्षु को इस विशेष दर्शन से 'विचक्षण' कहना अन्वर्थ बन जाता है । प्रजापति ने मनुष्यों में यह सत्य ही प्रतिष्ठित किया है, जो कि चक्षु है । (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय प्राकृतिक सौर देवसत्य का ही प्रवर्ग्यात्मक प्रतीक है) । यही कारण है कि, जो व्यक्ति कुछ किसी विषय पर कहने लगता है, और वह अपने इस निरूपण के साथ–"मैंने ऐसा देखा है" यह कह देता है,तो उसके इस कथन पर विश्वास कर लिया जाता है । यदि श्रोता स्वयं किसी वस्तुतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, तो उस स्थिति में अपने दृष्ट प्रत्यय की तुलना में वह फिर अन्य किसी की दृष्टि, किंवा श्रुति पर भी विश्वास नहीं करता । इन सब कारणों से यही तथ्य प्रमाणित हो रहा है कि, चक्षु अवश्य ही सत्य का प्रतीक है । अतएव दीक्षित को चक्षुर्दृष्ट्या विचक्षणवती वाक् का ही व्यवहार करना चाहिए । इससे इसकी वाक् सत्योत्तरा (सत्यभावानुगता) बन जाती है" । भगवान् याज्ञवल्क्य ने भी इसी रूप से थोड़े परिवर्त्तन के साथ वागनुगत इस व्यावहारिक सत्य का निम्नलिखित शब्दों में समर्थन किया है—

सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि वै चक्षुस्तस्मात्–यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातां–अहमदर्शं–अहमश्रौषं–इति । य एव ब्रूयात्– अहमदर्शं–इति, तस्मा एव श्रद्दध्याम ।

– शतपथब्राह्मण १।३।१।२७।

(२८१)–सत्यं वै चक्षुः—

"निश्चयेन चक्षु सत्य (सत्य का प्रतीक) है । चक्षु इसलिए निश्चयेन सत्य है कि, जबकि परस्पर इस प्रकार विवाद करते हुए दो व्यक्ति हमारे सम्मुख आते हैं कि, हमने ऐसा देखा है, हमने ऐसा सुना है, तो जो व्यक्ति–'हमनें ऐसा देखा है', यह कहता है, उसी के कथन पर हमें विश्वास कर लेना पड़ता है" * । वस्तुस्थिति यह है कि, चिदात्मा का व्यक्तीभाव सर्वप्रथम सौरहिरण्यगर्भ प्रजापति के रूप में ही होता है । अतएव सत्यात्मक सौरप्रजापति (विज्ञानात्मा) को सत्यात्मा का प्रतिरूप मान लिया गया है, जैसा कि सौर आत्मेन्द्र के लिए–**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'**–**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** इत्यादि प्रसिद्ध है । पार्थिव प्रजा की चिदात्मप्रतिष्ठा का मूलाधार यही सौरहिरण्यगर्भ विज्ञानात्मा बनता है । इसी आधार पर **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'–'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'–प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'–योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्'–'आदित्यमुद्गीथमुपासीत'** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं । अध्यात्मसंस्था में प्रवर्ग्यरूपसे दो प्रकार से यह सौरहिरण्यात्मा प्रविष्ट रहता है । विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि उस का प्रथम–मुख्य–साक्षात्–सौर–रूप है । एवं पृथिवी द्वारा परम्परया आगत सौरप्राण (आदित्यप्राण) ही चक्षुरिन्द्रिय का स्वरूपसमर्पक बनता है । अतएव इसे भी सत्य सौर आत्मा का प्रतीक मान लिया जाता है । चक्षुरिन्द्रिय सौर आत्मा का प्रतीक है, एवं विज्ञानात्मा सौर आत्मा का प्रतिरूप है । हृदयस्थ विज्ञानात्मा मनोरूप प्रज्ञानद्वारा चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा

---

* सत्यप्रतीकरूप इसी चाक्षुषप्रत्यक्ष के आधार पर यह प्रान्तीय लोकसूक्ति प्रतिष्ठित है कि,–**'आँख्या–देखी परसराम–कदेन झूँठी होय'** (अर्थात् आँखों से देखी वस्तु कभी मिथ्या नहीं होती) ।

प्रादेशसित मण्डल बनता हुआ एकविंशतिधा चित्र-विचित्ररूपों में परिणत रहता है, जिस इस सत्यविज्ञानात्मा का छायामय पार्थिव ÷ पूषाप्राण के सान्निध्य से साक्षात्कार किया जा सकता है। यही हृदयस्थ विज्ञानात्मा दक्षिणाक्षिद्वारा बहिः विनिर्गत होकर उपास्य बनता हुआ **'दक्षिणाक्षिपुरुष'-'चाक्षुषपुरुष'** इत्यादि नामों से उपनिषदों में उपवर्णित हुआ है +। **'शिरोऽन्तनासान्तजवत्तु लान्तर्घ्राणस्य च भ्रूयुगलस्य सन्धौ'** इत्यादि रूप से श्रीगुरुचरणों के द्वारा इसी चाक्षुषकृष्ण का स्वरूपव्याख्यान हुआ है। निष्कर्षतः आत्मसत्य का प्रतिरूप सौरविज्ञानात्मा, एवं इसका प्रतीक आदित्यप्राणात्मक चक्षुरिन्द्रिय ही है। अतएव इसे 'सत्य' मान लिया गया है। **'सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति'** द्वारा श्रुति ने चाक्षुष प्रत्यक्ष को 'सत्य' न कह कर सत्य के सन्निकट बतलाते हुए यही व्यक्त किया है कि, वास्तविक सत्य तो आत्मसत्य ही है, जिसका पराङ्मुख कोई भी इन्द्रिय साक्षात्कार नहीं कर सकती। इसके लिए तो अन्तःसत्यरूप विज्ञानात्मा को ही मध्यस्थ बनाना पड़ता है, जिसके लिए-**'तमेव धीरो विज्ञाय-प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'-'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'** इत्यादि प्रसिद्ध है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दृष्ट व्यावहारिक सत्य का यद्यपि वाणी के द्वारा अभिनय श्रुति ने (केवल लोकव्यवहारसञ्चालन के लिए) संग्राह्य माना है। तथापि तत्त्वतः हृदयस्थ प्राजापत्य आत्मसत्य तो केवल विज्ञानचक्षुर्गम्य ही माना गया है। यही विज्ञानदृष्टि **'ऋषिदृष्टि-आर्षदृष्टि'** कहलाई है, जिस दृष्टि से दृष्ट तत्त्व की शब्दव्याख्या ही 'श्रुति' कहलाई है, जिसे विज्ञानदृष्ट्यात्मिका होने से परतःप्रमाणानपेक्ष निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण माना गया है। यही श्रौती विज्ञानदृष्टि (वेददृष्टि-मन्त्रदृष्टि) यह परोक्षदृष्टि है, जिसके द्वारा निर्भ्रान्त सत्य व्यवस्थापित हुआ है। इसी आधार पर श्रुति के द्वारा इस निगम सिद्धान्त की घोषणा हुई है कि—

'परोक्षप्रिया हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'

(२८२)-परोक्षप्रिया हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः—

भूदेव विद्वान् परोक्ष का ही अनुगमन कर करते हैं, जो परोक्षभाव अविनश्वर-आभ्यन्तर-शाश्वत-आत्मसत्य से समतुलित है। बाह्यभूतानुगत प्रत्यक्षभाव विद्वानों की दृष्टि में अकिञ्चित्कर है। अतएव सर्वसामान्य लौकिक मनुष्य जहाँ इन्द्रियानुगत प्रत्यक्ष की आसक्ति में आसक्त, एवं परोक्ष आत्मसत्यबोध से पराङ्मुख बने रहते हैं, वहाँ अलौकिक नैगमिक मानवश्रेष्ठ इन्द्रियातीत आत्मसत्य की ही उपासना किया करते हैं। एवं इसी के माध्यम से इनकी कर्त्तव्याकर्त्तव्यव्यवस्था व्यवस्थित होती है। सहजभाषानुसार सर्वसाधारण के लिए जो परोक्ष आत्मजगत् सर्वथा परोक्ष, अतएव रात्रिसमतुलित है, विद्वानों के लिए वही प्रत्यक्ष है। एवं विद्वानों के लिए जो प्रत्यक्ष है, सर्वसाधारण के लिए वही परोक्ष है। भगवान् वासुदेवकृष्ण ने निम्नलिखित शब्दों में इसी भाव का दिग्दर्शन कराया है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—गीता

÷ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये॥
देखिये—ईशोपनिषत्-विज्ञानभाष्य १ खण्ड

\+ देखिए-गीताचार्य्यरहस्यान्तर्गत-'चाक्षुषकृष्णरहस्य'।

(२८३)–'कृत्यं' और 'कृतं' स्वरूपपरिचय—

अलमतिपल्लवितेन । उक्त प्रत्यक्ष–परोक्षभावमीमांसा से हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, "षड्विध–इन्द्रियानुभव का ही नाम ही प्रत्यक्ष है, जो बहिर्म्मण्डलानुगत बनता हुआ नानाभावापन्न, अतएव भ्रान्त, अतएव अप्रामाणिक है । एवं विज्ञानलक्षणा विद्याभावसमन्विता व्यवसायात्मिका एकत्त्वनिबन्धना * निर्भ्रान्ता–निश्चिता आर्षबुद्धि से युक्त आध्यात्मिक अनुभव का ही नाम परोक्ष है" । इन दोनों में से तत्त्ववेत्ता नैगमिक मानवश्रेष्ठ क्यों परोक्षप्रिय, तथा प्रत्यक्षद्वेषी हैं !, प्रश्न का समाधान पूर्वोक्त श्रौत आख्यान से भली भाँति हो जाता है । आत्मानुभव में प्रत्यक्षानुप्राणित वाग्व्यापार (वैखरी वाग्-व्यापार) अवरुद्ध है । यह भी सुनिश्चित है कि, व्यवसायबुद्धि के द्वारा आत्मबलाधारेण तूष्णीं किया गया कर्म्म निरतिशय–निर्बाध–रूपेण सुसम्पन्न बन जाता है । किंवा कर्म्मसंकल्पकाल में, किंवा कर्म्मानुष्ठानकाल में यदि वाणी के द्वारा संकल्पों की, अथवा तो प्रक्रान्त कर्म्मों की घोषणा–विज्ञापन–उद्घाटन–कर दिया जाता है, तो निश्चयेन ऐसे संकल्प, ऐसे प्रक्रान्तकर्म्म वाग्द्वारा बहिर्म्मुख बनते हुए आभ्यन्तर–वागतीत आत्मबल (आत्म-संवित्) से वञ्चित रह जाते हैं । आत्मसंवित् से वञ्चित ऐसे घोषणात्मक संकल्प (आयोजन) प्रथम तो कार्य्य-रूप में परिणत ही नहीं होते । यदि घुणाक्षरन्याय से प्रक्रान्त हो भी जाते हैं, तो इनकी सफलता संदिग्ध बनी रहती है । भावुकमानव यदि इन्हें सफल मान भी लेता है, तो निश्चयेन ऐसे आत्मबलवञ्चित कर्म्म कभी शान्ति–तुष्टि के कारण नहीं बन सकते । अपितु आत्मसंवित्वञ्चित ऐसे घोषणात्मक–विज्ञापनात्मक–उद्घाटना-त्मक विकर्म्मलक्षण कर्म्मों से मानवसमाज का नैसर्गिक स्वस्तिभाव उच्छिन्न ही होता रहता है, जिसका प्रत्यक्ष उदा-हरण दुर्भाग्यवश वर्त्तमान वह भारतराष्ट्र प्रमाणित हो रहा है, जिसका प्रत्येक मानससंकल्प परसङ्गदोष से आज केवल विज्ञापनपरम्परा–उद्घाटनपरम्परा–सांस्कृतिक ! आयोजनपरम्पराओं से समलंकृत है । लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि—'गरजने वाले बरसा नहीं करते, एवं बरसने वाले गरजा नहीं करते' । भगवान् व्यास ने बड़े ही मार्म्मिक शब्दों में कर्म्ममार्गानुगत आध्यात्मिक परोक्षभाव की उपयोगिता व्यक्त करते हुए भावुक मानव का उद्बोधन कराया है कि—

> **यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।**
> **'कृत'मेवास्य जानन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥**
>
> —महाभारत उद्योगपर्व ३३ अ० ।१८ श्लो० ।

(२८४)–नैष्ठिकों की एकान्तनिष्ठा—

"जिस नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ का 'कृत्य' (मानससंकल्प, तदनुगत लक्ष्य, लक्ष्यपूरक व्यवस्थित कर्म्म) कोई भी नहीं जान पाता, अपितु जिसके 'कृत' (संसिद्ध–सम्पन्न फलात्मक कार्य्य) को ही संसार जान पाता है, वही मानवश्रेष्ठ सदसद्विवेकी पण्डित कहलाया है" इत्यादि रूप से पुराणपुरुष ने यही स्पष्ट किया है कि,

---

* **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।**
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—गीता

तत्ववेत्ता नैष्ठिक विद्वान् अपने अन्तर्जगत् में क्या संकल्प रखता है ?, संकल्प को मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए वह कब कैसे कहाँ से किन किन जड़–चेतन–साधनपरिग्रहों का संग्रह करता है ?, कब उसका संकल्प मूर्त्तरूप में परिणत होता रहता है ?, यह कब कुछ सर्वथा परोक्षरूप से प्रक्रान्त रहते हैं ?, ऐसे नैष्ठिकों की इस कृत्यपरम्परा का, मन्त्रपरम्परा का, कार्य्यप्रणाली का किसी को कुछ भी आभास नहीं हो पाता। अपितु ये नरपुङ्गव सर्वथा परोक्षप्रिय बनते हुए, **'अरतिर्जनसंसदि'**पद्धति के अनुसार जनसाधारण के संसर्ग से बचे रहते हुए, घोषणा–विज्ञापन आदि भावों से असंसृष्ट बने रहते हुए, एकान्तनिष्ठापूर्वक लक्षी–भूत कृतिसाधन में प्रवृत्त रहते हैं। इनके एवंविध परोक्ष कर्म्मानुष्ठान से कर्म्मसिद्ध्यनन्तर लोकाभ्युदय निःश्रेयस्कर फलात्मक जो वस्तुतत्त्व संसिद्ध–सम्पन्न होता है, वही संसार के सम्मुख आता है। ठीक इसके विपरीत सामान्य लौकिक भावुक मानव आरम्भ से ही–"मेरा यह संकल्प है, वह लक्ष्य है, यह आयोजन (स्कीम) है, इस से संसार का यों ऐसा भला होगा, इसके द्वारा मैं यह कर लूँगा, वह कर लूँगा, यों संसार में मेरा कार्य्य–नाम प्रसिद्ध हो जायगा" इत्यादिरूप से वाणी के द्वारा लक्ष्य का डिण्डिमघोष करते रहते हैं। केवल बाह्यप्रदर्शनभक्त, लोकैषणासक्त, नितान्तभावुक, मन्त्र तथा मन्त्रित तत्त्वबोध से अनभिज्ञ यथाजात लौकिक मानव की इसप्रकार की वाक्प्रयोगप्रधाना प्रत्यक्षवृत्ति के कारण ही इसका लक्षीभूत कार्य आत्मबल से वञ्चित बना रह जाता हैं, प्रदर्शन–विज्ञापन–दृष्ट्या पूर्ण प्रतीत होता हुआ भी ऐसा लक्ष्य लोकाभ्युदय की कौन कहे, स्वमनस्तुष्टि का भी कारण नहीं बनने पाता। **'बोलो कम, करो अधिक'** यही कर्त्तव्यसाफल्य का मूलमन्त्र है। **"बोलो पर्य्याप्त, करो कुछ नहीं"** यही परवञ्चकता का मूल-मन्त्र है, जो कुनैष्ठिकों की एषणासफलता का ही कारण माना गया है।

(२८५)–परोक्ष–प्रत्यक्ष–तारतम्य—

संकल्पानुगत कर्त्तव्य की परोक्ष अनुष्ठानपद्धति परोक्ष आत्मबल द्वारा जहाँ इसे वीर्य्यवान् बनाती रहती है, वहाँ प्रत्यक्षभाव इसे परोक्ष आत्मबल से असंसृष्ट बनाए रखता है। अतएव ऐसा लक्ष्य–कार्य्य निर्वीर्य्य बन जाता है। यही कारण है कि, प्राकृतिक तत्त्वानुगामिनी आर्षप्रजा न केवल शास्त्रीय अनुष्ठान कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ही परोक्षभावानुगता रहती। अपितु इसके लौकिक अनुष्ठान भी (लौकिक व्याव-हारिक सामाजिक–पारिवारिक–जातीय कर्म्म, एवं वैय्यक्तिक भोजन–पान–शयन–मनोविनोदादि कर्म्म भी) सर्वात्मना (यथासाधन सुविधानुसार) परोक्षभाव से ही समन्वित रहते हैं। परोक्षभावानुगति ही आर्षप्रजा की सनातन–सुगुप्ति का मूलमन्त्र रहा है। नात्र किमपि वक्तव्यं–यत् विशुद्ध लोकदृष्टिपरायण, लोकवित्तैषणा–आसक्तव्यासक्त प्रतीच्य राष्ट्रों के तथाविध शिक्षा दीक्षा के गतानुगतिक निग्रहानुग्रह से वर्त्तमान भारतीय प्रजा ने अन्धानुकरण के द्वारा आपने नैगमिक–आम्नायसिद्ध–प्राकृतिक–सहज अध्यात्मानुगत परोक्षभाव को न केवल विस्मृत ही कर दिया है। अपितु आज तो परोक्षभावप्रधान आर्षसिद्धान्तों के उपहास को ही दुर्भाग्यवश इसने अपने विज्ञापन का माध्यम बना लिया है।

(२८६)–औपासनिक परोक्षभाव—

उदाहरण के लिए भारतीय उपासनाकाण्ड को ही लक्ष्य बनाइए। परोक्षभावप्रधान 'प्राणदेवता' से सम्बन्ध रखने वाली उपासना विशुद्ध अलौकिक कर्म्म है। आत्मवत् उपास्य प्राणदेवता रूप–रस–गन्ध-

स्पर्श शब्दातीत हैं, अधामच्छद हैं, अतएव सर्वथा परोक्ष हैं, इन्द्रियातीत हैं, अचिन्त्य हैं, अप्रमेय हैं। उपासनासिद्धि के लिए निर्म्मित पाषाण–धातु–आदि से विनिर्म्मिता उपास्य प्रतिमा* में परोक्ष प्राण-देवता के आधान के लिए ही मन्त्रशक्तिमाध्यम से जो एक तात्त्विक कर्म्म किया जाता है, वही शास्त्रों में 'प्राणप्रतिष्ठा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके आधार पर ही उपास्यमूर्त्ति की 'पूजनप्रतिष्ठा' व्यवस्थित-मर्य्यादित बनती है। समीकरणभावप्रधान प्राण जहाँ भी प्रतिष्ठित हो जाता है, वही मूर्त्तद्रव्य उपास्य बन जाता है। मूर्त्तरूप भौतिक द्रव्य (प्रतिमा) माध्यम बनता है, तद्द्वारा तत्रप्रतिष्ठ अमूर्त्तप्राण मन का उपास्य बनता है। और इस प्रकार आर्ष उपासनाकाण्ड सर्वात्मना एक मर्य्यादित-व्यवस्थित–प्राकृतिक–वैज्ञानिक कर्म्म प्रमाणित हो रहा है। इस वैज्ञानिकी उपासना से तत्प्राणाधान के द्वारा उपास्य के आध्यात्मिक प्राणों में जो अतिशय समुत्पन्न होता है, वह कोई सामान्य लौकिक व्यावहारिक विधि–विधान नहीं है, जिसमें दैशिक–नैतिक स्थितियों के तारतम्य से यथेच्छ कल्पनाभावों का समावेश कर लिया जाय। जिन नियम–विधि–विधानों से मूर्त्त प्रतिमा का प्राणातिशय प्रतिष्ठित–सुरक्षित–मर्य्यादित रहता है, वे नियमादि सर्वात्मना अनुगमनीय रहते हैं। 'भगवान् सब के हैं। इसलिए सब को आँख मीच कर एकहेलया भगवत्प्रतिमा के दर्शन–स्पर्शन–पूजन का समानाधिकार है" इस प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकतापूर्ण तर्क–प्रणाली का 'उपासना' जैसे तात्त्विक–प्राणक्षेत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। सुधारवादी मण्डल इस प्रकार के तर्काभासों के माध्यम से भारतीय उपासनाकाण्ड पर आक्रमण करता हुआ लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बन जाता ×। मानों इसकी आपातरमणीय दृष्टि में उपासना एक वैसा लौकिक व्यवसाय (बाजारू सौदा) है, जिसमें सभी समानरूप से अधिकृत हैं। इसी प्रकार आर्षनारी का लज्जा–शील–विवेकानुगत प्राकृतिक परोक्षभाव भी आज 'स्वास्थ्य' शब्द की प्रतारणा के माध्यम से आक्रान्ताओं का लक्ष्य बना हुआ है, जबकि 'श्वसुराल्लज्जमाना निलिल्ये' (ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।२।) इत्यादि श्रुति विस्पष्ट शब्दों में सौम्यप्राणप्रधान नारीसमाज के स्वाभाविक सौम्यरूप संरक्षण के लिए लज्जा-शीलादि परोक्ष भावों की अनिवार्य्यता प्रमाणित कर रही है ÷। इसी आध्यात्मिक परोक्ष तत्त्ववाद के आधार पर तत्त्वों के वास्तविक नाम विभिन्न नामों से व्यवहृत हुए हैं। अग्रि[1]–इन्ध[2]–मुच्यु[3]–वरण[4] सुवेद[5] आदि तत्त्वों को क्रमशः अग्नि[1]–इन्द्र[2]–मृत्यु[3]–वरुण[4]–स्वेद[5] आदि परोक्ष नामों से व्यवहृत करती हुई श्रुति संकेतविधा से हमें यही लोकशिक्षा प्रदान करने का निःसीम अनुग्रह कर रही है कि—

(२८७)–समृद्धि का मूलमन्त्र—

"आत्मविकास के संरक्षणपूर्वक लोकप्रतिष्ठा-संचालन के लिए आर्षप्रजा को परोक्ष-भाव का ही अनुगमन करते रहना चाहिए। इस परोक्षभावानुगति से न केवल आत्मबल

---

* अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

× उपासनकाण्ड से सम्बन्धित तत्त्वों की विशेष जिज्ञासा के लिए देखिए- गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका–ग्रन्थान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक ५ पञ्चम खण्ड।

÷ स्त्री किस सीमापर्य्यन्त स्वतन्त्र है ?, एवं किस सीमापर्य्यन्त मर्य्यादित है ?, इत्यादि प्रश्नों के मौलिक समाधान के लिए देखिए–शतपथविज्ञानभाष्य–चतुर्थवर्ष–पत्नीसन्नहनब्राह्मणप्रकरण।

सुरक्षित ही रहता, अपितु वह उत्तरोत्तर सुविकसित भी होता रहता है। एवं ऐसे सुविकसित आत्मबल से प्राप्त आत्मनिर्भरता-आत्मस्वातन्त्र्य-स्वावलम्ब-से इस परोक्षप्रिय नैष्ठिक मानव के लौकिक कर्म्म भी सर्वात्मना सुसमृद्ध बनते रहते हैं ।"

(२८८)-राष्ट्रसमृद्धि, और पुष्टि—

भावावेश में आकर अपने संकल्पों का, प्रक्रान्त कर्म्मों का विज्ञापन-उद्घाटन-घोषणा-प्रचार-करने की महती भ्रान्ति से भारतीय प्रजा ने अपना कैसा अनिष्ट साधन कर लिया है !, यह प्रश्न आज परोक्ष नहीं रह गया है। परसत्ताओं नें हमारी प्रत्यक्षमूला इस भावुकता से कैसा लाभ उठा लिया है !, प्रश्न के सुपरिणाम ? के स्मरणमात्र से भी आज हमारा मानस क्षेत्र विकम्पित हो पड़ता है। हम आग्रह-पूर्वक निवेदन करेंगे राष्ट्रप्रजा से कि, वह गतानुगतिक विज्ञापन-घोषणा-उद्घाटन-जैसी भावुकतापूर्ण आसुर-प्रणालियों का अविलम्ब परित्याग कर आत्ममूलक परोक्षमन्त्रणात्मक-निष्ठापथ का ही अनुगमन करे। तदैव राष्ट्रऋद्धिः ! राष्ट्रसमृद्धिः !! पुष्टिश्च !!!

(२८९)-विश्वस्वरूपमीमांसोपराम—

विश्वरूपमीमांसा के समन्वय के लिए मीमांसिता गोपथश्रुति के रहस्यार्थ का समन्वय करते हुए उस के **'तं वा सुवेदं सन्तं स्वेदमित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षकामा हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः'** इस वाक्य-सन्दर्भ से सम्बन्धित परोक्ष-प्रत्यक्ष भावों की तत्रैव प्रतिज्ञा हुई थी। तत्प्रतिज्ञात भाव के समन्वय के लिए ही प्रासङ्गिक प्रत्यक्ष-परोक्ष भावों के समन्वय की चेष्टा की गई, जिसके साथ ही निबन्ध का प्रथमखण्डानुगत प्रतिज्ञात **'विश्वस्वरूपमीमांसा'** नामक द्वितीय स्तम्भ उपत हो रहा है। एकमात्र आर्षदृष्टि (ऋषिदृष्टि) से अनुप्राणित विश्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा का मुख्य उत्तरदायित्त्व तो स्वयं विश्वेश्वर-विश्वकर्त्ता-विश्वम्भर* पर ही अवलम्बित है। अथवा तो उन महामहर्षियों पर अवलम्बित है, जिन्होंनें उसका साक्षात्कार किया है। हमारे जैसा यथाजात भावुक लोकमानव इस मीमांसा के सम्बन्ध में **'ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः'** के अतिरिक्त और क्या स्पष्टीकरण कर सकता है। **'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'** जैसे मार्म्मिक विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में मादृश भावुक का मीमांसा के लिए प्रवृत्त होना तत्त्वदृष्ट्या उप-हासास्पद ही तो माना जायगा। फिर भी भगवान् सूर्य्यनारायण के प्रति श्रद्धा-आस्थापूर्वक दीपदान करना भी तो सनातन-आम्नाय से ही अनुप्राणित है।

उपरता चेयं-विश्वस्य तात्त्विकस्वरूपमीमांसा

द्वितीया

२

प्रीयतामनया विश्वेश्वरो-विश्वकर्त्ता-विश्वम्भरः।

उपरताश्चायं निबन्धान्तर्गतः प्रथमखण्डः स्तम्भद्वयात्मकः

---

* विश्वेश्वरः-अव्ययपुरुषः (पुरुषः)
विश्वकर्त्ता-अक्षरपुरुषः (पराप्रकृतिः)
विश्वम्भरः-क्षरपुरुषः (अपराप्रकृतिः)

★ स्तम्भद्वयात्मक प्रथमखण्ड की उपरति—

'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक निबन्ध के प्रस्तुत प्रथमखण्ड को उपरत करते हुए तत्सम्बन्ध में यही स्पष्ट कर देना शेष रह जाता है कि, स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–लक्षण पञ्चपर्वा प्राकृतिक विश्व, एवं विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–पिशाच–आदि प्राणवर्ग, ग्रह–नक्षत्र–तारा–उल्का–धिष्ण्या–वज्र–आदि खगोलीयवर्ग, औषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–पुष्प–पर्ण–मञ्जरी–आदि पार्थिव भूतवर्ग, कृमि–कीट–पशु–पक्षी–आदि प्राणिवर्ग, धातु–उपधातु–रस–उपरस–विष–उपविष–आदि असंज्ञवर्ग, आदि आदि असंख्यसंख्यात जड़-चेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ स्वदर्शनानुगता स्वनिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित–व्यवस्थित रहते हुए जहाँ आत्मबोधनिष्ठ मानव की प्रकृतिस्थता के प्रवर्त्तक बने रहते हैं, वहाँ ये ही प्राकृतिक पदार्थ परदर्शनानुगता भावुकता से अनुगत होते हुए सहजनैष्ठिक भी मानव को व्यामुग्ध कर देते हैं। और उस दशा में अपनी नैष्ठिक दशा का **प्रकृत्याराधक** भी मानव यों भावुकता-वश **प्रकृतिप्रेमी** बनता हुआ अपनी आत्मपुरुषानुगता स्वस्थता से तो वञ्चित हो ही जाता है। साथ ही यह प्रकृतिप्रेम इसे प्रकृतिस्थ भी नहीं बना रहने देता। विश्वस्वरूपानुबन्धी प्रकृतिप्रेमानुगत स्वस्वरूप व्यामोहन ही परिपूर्ण भी मानव की अशान्ति का एकमात्र मुख्यकारण है, जिसे 'भावुकता' नामक संक्षिप्त नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। मानव विश्व के प्राकृतिक स्वरूप को लक्ष्य बनावे, तद्द्वारा अपने आभ्यन्तर पुरुषात्मस्वरूप की गरिमा–महिमा के दर्शन करे, तद्द्वारा विश्व के प्राकृतिक सम–विषमभावों के समन्वयद्वारा प्रकृतिस्थ बना रहता हुआ स्व–स्वपरिवार-समाज–राष्ट्र, एवं अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व की आत्ममूला स्वस्थता' (साम्य) का अधिकारी प्रमाणित हो, इसी उद्देश्य से उपनिबद्ध निबन्ध का प्रस्तुत प्रथमखण्ड उपरत हो रहा है, जिस प्रस्तुति के पूरक शेष विषय अग्रिम खण्डों की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।

उपरतश्चायं निबन्धान्तर्गतः प्रथमखण्डः–स्तम्भद्वयात्मकः

श्रीः

उपरता चेयं प्रथमखण्डान्तर्गता

द्वितीयस्तम्भात्मिका

'विश्वस्वरूपमीमांसा'

—२—

उपरतश्चायं निबन्धस्य प्रथमखण्डः-स्तम्भद्वयात्मकः

—१—